क्या / कहाँ

वापसी

अंग्रेजी में एक शब्द आया है : अबाउटटर्न/टर्नअबाउट, जिसका अर्थ है जहाँ आप खड़े हैं वहीं उस बिन्दु पर घूम जाएँ और विरोधी दिशा में आ जाएँ। यह एक दिशा-परिवर्तन का कमांड है ताकि 'मार्च' के आदेश पर आप वापसी के लिए कमर कस लें। यदि आप इस तरह घूम कर क़दम उठाते हैं तो संभावना बनती है कि आप वहाँ आ सकें जहाँ से कभी चले थे; सरल शब्दों में हम इसे 'प्रतिक्रमण' कहेंगे। प्रतिक्रमण एक क़िस्म का आध्यात्मिक 'अबाउटटर्न' ही है। दिन-भर में नामालूम ऐसे कितने क्षण आते हैं जब हम अपनी असली/प्रामाणिक परिधि/इलाके को छोड़ कर अन्यों की परिधि में चले आते हैं, और सोचने लगते हैं कि इस तरह का सीमोल्लंघन शायद हमारा हक़ है। हम अपना खुद का अस्तित्व और अधिकार भूल कर दूसरों की हद में आ जाते हैं और अपनी/दूसरों की खुदी को स्खलित/छिन्न-भिन्न करते हैं। इस कोशिश में जितना नुकसान दूसरों को नहीं पहुँचता उससे कई गुना हमें स्वयं-को हो जाता है; किन्तु उस क्षण हमारी वृत्ति ऐसी कुछ बन जाती है कि नुकसान नफा दीख पड़ता है और नफा नुकसान। हमारा हेयोपादेय/हिताहित विवेक लुप्त हो जाता है, अतः साधु हो, या गृहस्थ दिवसान्त, या निशान्त में उसे अपने एक तटस्थ लेखे-जोखे की जरूरत होती है। लेखेजोखे से मतलब सूरज-की-किरण पर बैठ कर हमने जो सफ़र शुरू किया था, उसकी वापसी के साथ हम यह देखें कि हमने पूरे वक्त क्या किया, क्या नहीं किया; क्या करणीय था, क्या अकरणीय था? एक छोटा-मोटा 'स्टॉकटेकिंग' हम करें। निष्पक्ष/वस्तुनिष्ठ इस क्षण इतने हम हों कि खुद को दूसरे की जगह रख कर स्वयं को कसौटी पर डालें यह जानने के लिए कि पूरे वक्त हमारे द्वारा खरे का कितना खोटा और खोटे का कितना खरा हुआ है। जब इस आध्यात्मिक चक्र-प्रवर्तन में हम खुद-में-वापसी का प्रयत्न करते हैं तब वह कहलाता है प्रतिक्रमण। असली धर्मचक्र-प्रवर्तन यही है।

प्रतिक्रमण में 'क्रम्' धातु प्रयुक्त है, जिसके मायने हैं नजदीक आना, तैयारी बताना, तत्परतापूर्वक कोई क़दम उठाना, पदार्पण करना। प्रतिक्रमण में जो 'क्रम' शब्द है, वह गत्यर्थक है, किन्तु यह गति उस गति से भिन्न है, जिसे हम आमतौर पर अपनाये हुए हैं। जब क्रम, यानी पाँव उलट कर चलने को होते हैं, यह सोच कर कि अब तक हमारी यात्रा में जो हुआ वह मिथ्या था, अब हमें सही/सम्यक् डगर अपनानी है, तब हम इस/ऐसे प्रस्थानबिन्दु को प्रतिक्रमण कहते हैं। क्रम जहाँ एक ओर व्यवस्थावाची शब्द है, वहीं दूसरी ओर वह क़दम, पग, पाँव, चरण का पर्याय शब्द भी है। 'प्रतिक्रमणवत्' होने का मतलब है : अपने क़दम को एक ख़ास

निज़ाम (डिसीप्लीन) में बाँध कर चलना। लौट चलना वहाँ से जहाँ इस बात का इशारा मिले कि हमारा लक्ष्य/हमारी मंजिल सही नहीं थी। गन्तव्य-विश्लेषण की इस रचनात्मक प्रक्रिया का नाम है : प्रतिक्रमण। देखना लगातार यह है कि जो 'कल' था उसमें ऐसा क्या था जो हमारे क़दम ग़लत दिशा में डाले हुए था और 'कल' जो आने को है, वह ऐसा कैसे हो कि हमारे पाँव सही/अ-मलिन दिशा में हों; इस तरह 'आज' को सँभालना/पाना बहुत ज़रूरी है। आज की अप्रमत्त देखभाल/सालसँभाल का मतलब होता है, विगत/अनागत को व्यवस्थित/अक्षत रखना।

जब हम खुदी की ओर होते हैं, या ख़ुद में वापसी की कोशिश करते हैं, तब हम होते हैं प्रतिक्रमण की चित्तवृत्ति में। 'क्रम्' का अर्थ है निकट/नज़दीक होना। किसके नज़दीक होना? खुद के/खुदाई के। किसलिए? आत्मसमीक्षा के लिए, या पहले जिस ज़मीन पर खड़े थे उससे बेहतर और अधिक उर्वर ज़मीन पर होने के लिए। 'क्रम्' का एक अर्थ है : अधिक समर्थ होना, या उत्तरोत्तर समीचीन होना। इन सारे अर्थों को जब हम एक साथ देखते हैं तब पता चलता है कि प्रतिक्रमण एक ऐसी मानसिक प्रक्रिया है जो ज़िन्दगी का खुला हिसाब माँगती है और इस प्रक्रिया में आत्मोन्नयन के सारे नयन/सारी संभावनाएँ खोल देती है।

इस, या ऐसी प्रक्रिया के अधिक शास्त्रीय/रूढ़/परम्परित हो जाने के भी कई खतरे हैं। जो भी स्थिति रूढ़ हो जाती है, उसके निर्जीव/औपचारिक होने के मौके बढ़ जाते हैं। औपचारिकता में और चाहे जो हो, स्वाभाविकता को नष्ट करने के 'जर्म' तो सन्निहित होते ही हैं। जब हम किसी प्रक्रिया, या कर्त्तव्य को ले कर मात्र खाना-पूरी की स्थिति में आ जाते हैं, तब वह प्रक्रिया बाँझ हो जाती है; किसी प्रक्रिया का इस तरह बंजड़/अनुर्वर हो उठना किसी भी धर्म, या शास्त्र के लिए एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है। इस सन्दर्भ में यह तथ्य काफी विचारणीय है।

प्रतिक्रमण और सामयिक/सामायिक दोनों महत्त्व के आवश्यक हैं। मान लिया गया है कि प्रतिक्रमण श्वेताम्बरों के और सामयिक/सामायिक दिगम्बरों के लिए हैं, अथवा उनमें अधिक प्रचलित/प्रयुक्त हैं। तथ्य यह है कि इन दोनों का निशाना/मक्सद एक है; किन्तु किन्हीं कारणों से एक में एक और दूसरे में दूसरे ने जड़ पकड़ ली है। असल में दोनों प्रक्रियाएँ ध्यान-की-प्रमुख आधार-भूमियाँ हैं; उसके लिए एक सम्यक् और समीचीन आवोहवा तैयार करने का काम करती रही हैं। चूंकि ध्यान का आज जैनों में उतना प्रयोग/प्रचलन नहीं रहा है, अतएव सहज ही ये दोनों प्रक्रियाएँ मात्र शाब्दिक रह गयी हैं। दोनों आज औच्चारणिक अस्तित्व में हैं, जीवन से दोनों का रिश्ता रफ्ता-रफ्ता टूटता गया है; किन्तु अब हम सब इस तरह की ज़रूरत पूरी तीव्रता से महसूस कर रहे हैं कि इन्हें पुनरुज्जीवित किया जाए और ध्यान की पृष्ठभूमि की तरह नवोत्थान इन्हें दिया जाए। प्रायः सभी जैन वर्ग/सम्प्रदाय ध्यान को किसी-न-किसी शक्ल में लौटाने की संकल्प-मुद्रा में दिखायी

पड़ रहे हैं। इस दृष्टि से तेरापन्थ ने स्तुत्य अभिक्रम किया है। प्रेक्षाध्यान के रूप में ध्यान-पद्धति का पुनरुज्जीवन एक मंगलमय संकेत/शुरुआत है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि सारे जैन वर्ग/उपवर्गों के लिए मध्ययुग एक तरह का अन्धायुग था, अतः हमें चाहिये कि इस समय जो क्षतियाँ हमें हुईं, जो विकृतियाँ जैनधर्म/समाज के ढाँचे में आयीं उन्हें हम दूर करें और विज्ञान की नवोपलब्धियों से बिना किसी पूर्वाग्रह के जुड़ जाएँ।

एक बात जिस ओर हमारा ध्यान अविलम्ब जाना चाहिये वह है आधुनिक तकनीक तथा वैज्ञानिक खोजों का क्षितिज पर आना। सिर्फ इसलिए कि कोई पद्धति या ज्ञान वैज्ञानिक है, आधुनिक है, धार्मिक नहीं हो सकता – बकवास है। ज्ञान चाहे जहाँ हो, या जिस किसी खिड़की से आता हो, ग्राह्य है। आज हमें 'साइन्स' की मदद से जैनधर्म की ध्यान-सम्बन्धी शास्त्रोक्त प्रक्रिया को अधिक तेजोमय, व्यवस्थित और फलप्रद बनाने का कोई मौका नहीं छोड़ना चाहिये। यदि हमने किसी सांप्रदायिक/धार्मिक कट्टरता के कारण आज विज्ञान की उपलब्धियों, जिनका अपना कोई संप्रदाय/धर्म नहीं होता, से लाभान्वित होने से इनकार कर दिया तो इससे बड़ी कोई बदकिस्मती हमारी शायद कभी नहीं होगी।

प्रतिक्रमण की तरह ही सामायिक है। दो शब्द हैं : सामयिक, सामायिक। सामयिक शब्द 'समय' में-से और सामायिक 'समाय' में-से विकसित है। समय का अर्थ आत्मा है। ऐसी ध्यान-प्रक्रिया जो साधक को समयोन्मुख/आत्मोन्मुख बनाती है, सामयिक कहलाती है। सामयिक का जो प्रचलित शब्दार्थ है, वह भी ध्यान देने योग्य है। सामयिक होना यानी इस तरह कुछ अपनी वृत्तियों/प्रवृत्तियों को संयोजित/समायोजित करना है कि हमारी अँगुलियाँ वक्त-की-नब्ज पर लगातार बनी रहें और हम वक्त के साथ हमक़दम बने रह सकें। क्षण के साथ सतत् रहना सामयिक है। रूढ़ होना आसान है, सामयिक होना मुश्किल है; सामयिक होने के लिए समय को उसके रग-रेशे में पहचानना आवश्यक है। समय को जानना कोई मामूली पुरुषार्थ नहीं है; इसीलिए सामयिक होना, या सामयिक-में-होना एक बेहद सूक्ष्म/निर्मम प्रक्रिया है; किन्तु जो गृहस्थ इसे संपन्न करते हैं, वे आत्मोत्थान की सारी संभावनाओं को उपलब्ध कर लेते हैं। सामयिक होने का सीधासादा अर्थ है आध्यात्मिक होना। सामयिक, यानी किसी एक खास बैठक में निबद्ध हो कर कोरमकोर किसी धार्मिक प्रक्रिया में फँसना नहीं है, बल्कि उसका अर्थ/प्रयोजन है अपनी चेतना में निर्विघ्न प्रवेश।

सामायिक सामयिक के आगे का कदम/क्रम है। सामायिक समाय शब्द में से विकसित शब्द है, जिसका अर्थ है समत्व-में-प्रवेश। यह समत्व क्या है? एक ऐसी चित्तवृत्ति जहाँ रागद्वेष पूर्णतः अनुपस्थित हो जाते हैं। न राग अपना राग अलापता है, न द्वेष अपनी जादुई बीन बजाता है; वहाँ साधक होता है/होता जाता है निरन्तर

संकल्प

तप की अग्नि में
भस्म करता हूँ
आसक्ति के बीज को

सिर उठा-उठा कर
शोर मचाती हुई
इच्छाओं—वासनाओं को
निर्वेद के जल से
शान्त कर

एकाग्रता के सूत्र में
बाँध कर
'ध्येय' से जोड़ता हूँ

अब तक हुई
ग़लतियों के लिए
क्षमायाचना की
विनम्रता में झुका हुआ
बीते कल से
अपना रिश्ता
तोड़ता हूँ।

जाने किन
आशीषों से प्राप्त
यह मनुज-जन्म
यूँ ही
बरबाद ना हो।

कृपा करो
करुणाधन
कि अब कोई
प्रमाद ना हो।

कषायों से
बचता रहूँ
रत्न का
शिल्प
रचता रहूँ।

बोध

शब्द की चोट से
उचट गयी नींद
ऐसा जाग गया हूँ अब
कि सोऊँगा नहीं
एक क्षण भी
निरर्थक
खोऊँगा नहीं।

लगता है
जैसे
नया जन्म पाया है
ध्यान-योग साधन का
नया पर्व आया है

वाद नहीं/विवाद नहीं/
आग्रह नहीं/दुराग्रह नहीं/

द्वन्द्वों से
परे हट कर
'समत्व' के
बिन्दु पर
रहना है

एक तिनके की तरह
निष्काम
समय की धारा में
बहना है।

समय की प्रवहमान धारा में

अनवरत प्रवहमान
अनादि और अनन्त है
समय की यह नदी
दिवस मास वर्ष कल्प—
ईसा-पूर्व या पश्चात् की सदी
ये सब कृत्रिम विभाजन हैं
महज़ एक
व्यावहारिक सम्बोधन है।
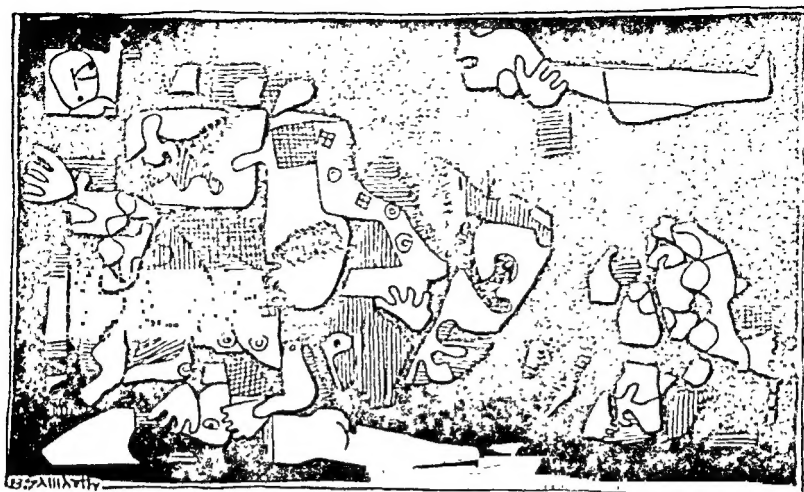
'काल' ही सत्य है
एकमात्र
अखण्ड और अटूट
इसमें टुकड़े नहीं हैं
हर क्षण
'वर्तमान' बनता रहता है
'अतीत'
और 'भविष्य'
बनता रहता है 'वर्तमान'
यह तो है हमारी सुविधा
मगर 'महाकाल' के मन में
नहीं है कोई दुविधा ।
वह एक नैरन्तर्य है
अस्तित्व का/चेतना का/
अनुपम ऐश्वर्य है ।
राजधानियाँ
बनती-बिगड़ती हैं
सम्राट्
जनमते मरते हैं—
फिर भी,
काल की
'सृजन-सरिता'
बहती रहती है
अजस्र—

जाने कितनी लहरें
आयीं और चली गयीं
प्रकृति और चेतना की नदी में
कितना जल बह गया
सृष्टि के प्रारंभ से
अब तक ।
समय की धारा को
काट नहीं सकी
कोई तलवार
उचित ही कहा था
बुद्ध ने—
तुम एक ही नदी में
स्नान नहीं कर सकते
दो बार ।

निर्विकल्पता की खोज

बीते 'कल' की यादें
और
आने वाले 'कल' के सपने
दोनों ही
झूठे हैं
बस आज के
वर्तमान के ये क्षण ही
अनूठे हैं ।
—क्योंकि

ये अपने हैं

इसलिए उठो
और इन्हें
कर्म की ऊर्जा से भरो
एकाग्र करो
अपनी शक्ति को

सतत् जागृत रहने दो
अहिंसा की दृष्टि
दुखी मत करो कभी
किसी भी व्यक्ति को।
निर्विकल्प हो कर
'सामायिक' बन कर
जियो
'पंच महाव्रत' का
अमृत पियो !

अरिहन्त को पहचानो

'कषायों' की भीड़ में
द्वन्द्वों के मेले में
खो गयी दृष्टि
'समत्व' की

झूठी दुनिया
बनने लगी
ममत्व की।

फिर भी नहीं मिटे
रोग-शोक
जन्म से लिपटा ही रहा
मरण
जुड़वाँ-सहोदर-सा

कब तक
दोहरायी जाती रहेगी
यही कथा ?
क्या मिटेगी नहीं कभी
मनुपुत्र की व्यथा ?

ये सारा तमाशा है
राग का/आसक्ति का/
चीजों से जुड़ने का
परिग्रह के आग्रह
का।

दो क्षण शान्त रहो
फिर चल पड़ो
'भीतर की यात्रा' पर।
शान्ति निर्भर है
'सन्तुलन' की मात्रा पर

वस्तुओं में कहीं नहीं है
कोई अर्थ —
यदि अपनी दृष्टि को
भर लो अनासक्ति मे
तो शान-शौकत की सभी चीजें
हो जाती हैं व्यर्थ।

चेतना के शिखर पर
पहुँचना है
तो आहिस्ता-आहिस्ता
एक-एक चरण धरो
'अरिहन्त' को पहचानो
वैसा ही आचरण करो।

उपलब्धि का साधन
शब्द नहीं
कर्म है
'अहम्-शून्य हो कर
समष्टि के प्रति
स्नेह मे द्रवित होना ही
धर्म है।'

(शेष)

और
इससे भी
गहरी साधना है
'ध्यान-योग' की

जहाँ
ध्येय और ध्याता
ज्ञेय और ज्ञाता
हो उठते हैं अद्वैत
वही है
'तीर्थंकर'
सच्चे साधकों का 'इष्ट'
और 'अभिप्रेत'।

प्रतिक्रमण/सामायिक
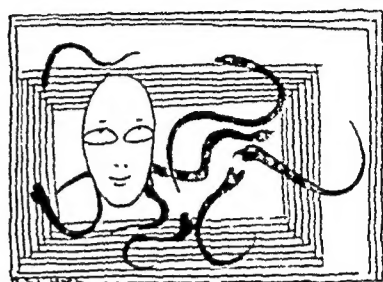
बातचीत : १-७

'तीर्थंकर' ने विषय-प्रतिपादन के सिलसिले में बातचीत को एक ऐसे रचनात्मक औज़ार की तरह सफलता से काम में लिया है कि

जो काम बड़े-बड़े ग्रन्थों/व्याख्यानों से संभव नहीं हुआ, वह इस आत्मीय विधा से सहज ही घटित हो सका है।

बातचीत में जिससे बातचीत की जाती है (इंटरव्यूई) और जो बातचीत करता है (इंटरव्यूअर) दोनों के व्यक्तित्व, और समुपस्थित वातावरण का महत्त्व होता है।

वातावरण कैसा है; दोनों की मनःस्थितियाँ कैसी हैं, यह सब तो महत्त्व का होता ही है, महत्त्वपूर्ण यह भी होता है कि बातचीत के दौरान और कौन लोग उपस्थित हैं जो फ़िज़ा को गर्म, सर्द, या समशीतोष्ण कर रहे हैं? कई बार तो दर्शकों/श्रोताओं की उपस्थिति, जो अनावश्यक भी होती है, बाधा उत्पन्न करती है; और कई बार यह होता है कि मात्र इस उपस्थिति की वजह से ही बातचीत में अधिक निखार/जान आ जाती है। प्रखर; किन्तु मौन और दखलंदाज़ी-से-मुक्त श्रोताओं की उपस्थिति पाठकों की कसौटी बनती है, और उनकी मुखछवियों से इस बात का अनुमान लग जाता है कि ऊँट किस करवट बैठ रहा है।

बातचीतों (इंटरव्यूज़) की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि इनके माध्यम से किसी भी जटिल विषय को सहज, बोधगम्य, और उपयोगी बनाया जा सकता है; तथा शास्त्रीयता/पारिभाषिकता की कठिनाइयों से मुक्त रखा जा सकता है।

प्रस्तुत विशेषांक में कुल सात बातचीतें आयोजित/प्रकाशित हैं, जिनके ज़रिये 'प्रतिक्रमण/सामायिक/षडावश्यक' के स्वरूप, महत्त्व, विज्ञान, और प्रक्रिया को स्पष्ट किया गया है। सातों बातचीतें अपने ढंग की निराली हैं और जैन समाज का [illegible] प्रतिनिधित्व करती हैं।

संपादक ने प्रयत्न किया है कि वह आद्यन्त एक अबोध पाठक की हैसियत में बना रहे और प्रश्नों-की-सूखी बारूद (डाइनामाइट) के माध्यम से विषय की गहराइयों में जाए और वहाँ से उज्ज्वल जल के आँखमिचौनी करते स्रोतों को खींच कर बाहर ले आये। उसे अपने इस कार्य में कितनी/कैसी सफलता मिली है इसकी कसौटी तो पाठक स्वयं बनेंगे; किन्तु विश्वास मानिये कि उसने अपनी ओर से ऐसा कोई प्रयत्न उठा नहीं रखा है, जिससे विषय की स्पष्टता को कोई नुकसान पहुँचा हो।

महज इसीलिए इन बातचीतों में बावजूद कई मुश्किलों/यात्रागत कठिनाइयों के विषय को उसकी अतल गहराइयों में पकड़ने की कोशिश की गयी है और अपने प्रिय पाठकों को हँसते-हँसाते विषय की दुर्गम घाटियों और असूर्यम्पश्य बीहड़ों की निर्बाध यात्रा करवा दी गयी है।

८२८ प्रश्न किये गये हैं और एक परम्परित विषय का गहन समुद्रमंथन किया गया है।

एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी से ले कर ब्र. कु. कौशल तक कई मंज़िलों को पार किया गया है और साबित कर दिया गया है कि साधना और चिन्तन के धरातल पर संप्रदाय/पंथ/गच्छ सब व्यर्थ हो जाते हैं मूर्तियों/मंदिरों की लड़ाइयाँ व्यर्थ और ओछी हैं और उन नादान लोगों की काली करतूतें हैं जो धर्म के क ख ग को न तो जानते ही हैं और न ही जिन्हें इससे कुछ लेना/देना ही है। वस्तुतः विशुद्ध चैतन्य से बड़ा न तो कोई तीर्थ ही है और न ही सम्यक्त्व से बड़ी कोई तीर्थयात्रा है। जो इस तथ्य को समझते हैं/समझ सकते हैं वे सहज ही जान सकते हैं कि सामाजिक/सांस्कृतिक/धार्मिक लड़ाइयों की बात कितनी थोथी बेमानी, और महत्त्वहीन है।

पहली बातचीत का संबन्ध एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी से है, जिन्होंने धर्मामृत को लोकप्रज्ञा के तल पर प्रतिक्रमण/सामायिक के रूप में/उसकी सही समझ बनाने के उद्देश्य से पाठकों को संपूर्ण उन्मुक्तता से वितरित किया है। उन्होंने जो दृष्टान्त दिये हैं, वे पाठक को सहज ही विषय की गहराइयों में बिना किसी ननुनच के ले जाते हैं। उन्होंने बात-बात में इस ग़लतफ़हमी को भी दूर कर दिया है कि प्रतिक्रमण मात्र श्वेताम्बरों में लोकप्रिय साधना-प्रक्रिया है। उन्होंने विषय की दुरूहताओं/सूक्ष्मताओं में उतर कर उन्हें यथासंभव स्पष्टता प्रदान करने की कृपा की है। १५६ प्रश्नों में विषय की शीतोष्णताओं को उन्होंने बड़े फाइन मूड में पाठकों के सामने रख दिया है।

युवाचार्य महाप्रज्ञ तेरापंथ के मेधावी भविष्य हैं। वे एक ऐसे पारंगत संत हैं, जिन्हें आगम और आधुनिकता दोनों का गहन अध्ययन है। वे आगमज्ञ हैं, अधुनातन हैं।

जहाँ तक मनोविज्ञान – विशेषतः ध्यान/योग – से संबन्धित अधुनातन अनुसंधानों और तकनीकों का प्रश्न है, उनकी जोड़ का दूसरा संत हमारे पास नहीं है – इस दृष्टि से वे जैन ध्यान/जैन योग के कोलम्बस हैं, जिन्होंने कई अजाने/अचीन्हे टापुओं का पता लगाया है और उन्हें आबाद किया है।

•—र्म की वैज्ञानिकताओं को नया तेवर प्रदान करने में उनकी जो महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है, उससे [illegible]र करना संभवतः स्वयं इतिहास को झुठलाना है। उनसे हुई १३४ प्रश्नों वाली इस बातचीत में से [illegible] के मनोवैज्ञानिक पक्ष को समझने में आसानी हो सकती है और विषय के कई गूढ़ पक्ष [illegible]खते खुद-ब-खुद स्पष्ट हो सकते हैं।

• विद्यासागरजी की बात ही कुछ और है। उनसे बातचीत करना बहुत आसान है, बहुत मुश्किल वे बात करते भी हैं, बात नहीं भी करते हैं; और जब तय कर लेते हैं तब विनोद-विनोद में कई तथ्य स्पष्ट कर जाते हैं। उनसे बात करने का बहुत सीधा-सा अर्थ है शब्दार्थ को पर्त-दर-पर्त

उनसे हुई इस बातचीत में कई ऐसे पहलू स्पष्ट हुए हैं, जो अन्यत्र छूट गये थे।

बातचीतें और भी हैं, किन्तु विशेषांक की पृष्ठ-सीमा को देखते हमने अपनी मूल योजना में किंचित् परिवर्तन किया है।

इस अंक में हम सिर्फ सात बातचीतें दे रहे हैं; शेष दो बातचीतें हम क्रमश: दिसम्बर १९८४ तथा जनवरी १९८५ के शेषांक-१/शेषांक-२ में प्रकाशित करेंगे। इन अंकों में हम क्रमश: 'प्रतिक्रमण' और और 'सामायिक' पर अवशिष्ट (विशिष्ट भी) सामग्री तो देंगे ही प्रतिक्रमण/सामायिक के मूलपाठ भी सानुवाद प्रकाशित करेंगे।

फिलहाल हम मूलपाठ इसलिए भी नहीं दे रहे हैं चूँकि हम चाहते हैं कि हमारे प्रिय पाठक संप्रदायातीत चित्त से प्रतिक्रमण/सामायिक का स्वरूप जानें और फिर तदनन्तर अगले दो सामान्य अंकों के माध्यम से मूलपाठ का अध्ययन करें।

हाँ; एक काम अवश्य किया जा रहा है और वह यह कि बातचीतों के तुरन्त बाद हम १६३ शब्दों का एक प्रतिक्रमण/सामायिक शब्दकोश दे रहे हैं ताकि पाठक कुछ पारिभाषिक शब्दों से परिचित हो सकें और उन्हें आगे चल कर मूलपाठ के अध्ययन में किसी प्रकार की कोई असुविधा न हो।

अन्त में हम अपने पाठकों को अपनी उन मुश्किलों की जानकारी देना भी अपना फर्ज मानते हैं, जो बातचीतें प्राप्त करने में हमें अक्सर होती हैं/हुई हैं।

'तीर्थंकर' किसी साधन-संपन्न संस्था का मुखपत्र नहीं है। वह एक प्रबुद्ध/श्रमजीवी पत्र है, जिसे कम-से-कम खर्च में पूरी किफायत के साथ छापा/प्रकाशित किया जाता है। आपको यह विदित कर सुखद आश्चर्य होगा कि इन सारी बातचीतों को हासिल करने में कायिक श्रम के अलावा संपादक को काफी वक्त और शक्ति देनी पड़ी है।

एक बातचीत पर कम-से-कम दो से ले कर ढाई हज़ार रुपयों तक का सर्फा हुआ है, अर्थात् नौ बातचीतों पर, जिनमें से सात प्रस्तुत अंक में प्रकाशित हैं, शेष आगामी अंकों में प्रकाश्य हैं; लगभग २० हज़ार रुपया व्यय हुआ है। इन्हें तैयार करने की प्रक्रिया/परेशानियों को यदि और शरीक कर लिया जाए तो मात्र बातचीतें हासिल और तैयार करने का खर्च तकरीबन पच्चीस हज़ार रुपया आता है; अर्थात् बातचीतों को ले कर लगभग साढ़े बारह रुपया प्रति पाठक खर्च हुआ है। यदि इस खर्च में हम छपाई/कागज़/जिल्दीकरण/डिज़ाइनिंग इत्यादि का खर्च और जोड़ लें तो प्रति पाठक यह खर्च लगभग ३० रुपये आता है। स्मरणीय है कि 'तीर्थंकर' का सालाना शुल्क मात्र पच्चीस रुपया है, जिसमें विशेषांक का मूल्य भी सम्मिलित है। हमें विश्वास है हमारा पाठक-वर्ग हमारी इन मुश्किलों को समझने का प्रयत्न करेगा और विशेषांक से पूरा-पूरा लाभ उठायेगा।

—संपादक

□ □

प्रतिक्रमण : आत्मशुद्धि/आत्मान्वेषण की प्रक्रिया

एलाचार्य मुनि विद्यानन्द/डॉ. नेमीचन्द जैन;
बम्बई; १३ जुलाई, १९८८
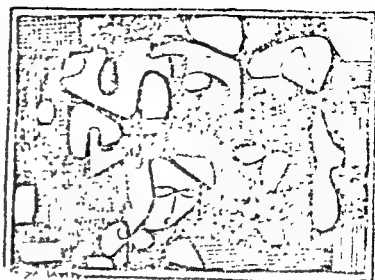
डॉ. नेमीचन्द जैन : सामायिक और प्रतिक्रमण साधुओं और श्रावकों — दोनों की दिनचर्या के आवश्यक अंग हैं। ये जीवन-शोधन की प्रक्रियाएँ हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र से, जिन्हें हम रत्नत्रय कहते हैं, यदि हम शुरू करें, तो कैसा रहेगा? क्या इन्हें हम सामायिक/प्रतिक्रमण का आधार बना सकते हैं?

एलाचार्य मुनि विद्यानन्द : 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' यह सूत्र कहा गया है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक् चारित्र के बिना कोई भी विधि-विधान, नेम-नियम, अथवा सामायिक, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान हम शुरू नहीं कर सकते; क्योंकि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-संपन्न व्यक्ति के लिए ही बाकी की प्रक्रियाएँ बतायी गयी हैं।

ने. : यानी यह सूत्र हमारे आध्यात्मिक जीवन की धुरी है?

वि. : है; क्योंकि उसे प्राप्त करने के बाद ही प्रतिक्रमण हो सकता है। मिथ्यादृष्टि-का-प्रतिक्रमण प्रतिक्रमण नहीं है। जैसा कि धवला में एक स्थान पर बताया गया है कि मिथ्यादृष्टि यदि मंगलाचरण करेगा, तो उसे पुण्य का बंध तो होगा; किन्तु उसके पाप का प्रक्षालन नहीं होगा। सम्यग्दृष्टि यदि सामायिक/प्रतिक्रमण, जप-जाप, देवदर्शन करेगा, तो उसकी क्रियाओं से पापों-का-क्षय भी होगा और पुण्य-का-बंध भी।

ने. : मतलब यह कि किसी भी काम के लिए सम्यक्त्व जरूरी है।

वि. : हाँ।

ने. : चाहे वह चारित्र्य हो, दर्शन हो, या ज्ञान।

वि. : सम्यक्त्व तो अनिवार्य ही है। सम्यग्दर्शन आत्मप्रतीति अथवा आत्म-विश्वास की चीज है। आप प्रतिक्रमण कर किस लिए रहे हैं? क्या प्राप्त करना चाह रहे हैं? और यदि मुक्ति है, तो उसकी आधारशिला सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक् चारित्र है। तीनों जब अभिन्न हो जाते हैं, तब मुक्ति है। 'अभेद' के लिए ही इन सारी प्रक्रियाओं और क्रियाओं का करना जरूरी है।

ने. : अभी आप समझा रहे थे कि सम्यक् चारित्र ऐसा है : जैसे सफाई-

स्वच्छता के लिए झाड़ना-बुहारना; सम्यग्ज्ञान द्वारपाल है, जो किसी को अन्दर नहीं आने देता, और सेनापति की तरह है सम्यग्दर्शन; इन उपमाओं को तनिक स्पष्ट कीजिए।

वि. : भव्यजन कण्ठाभरणम् नामक संस्कृत ग्रन्थ है, जिसमें बताया गया है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक् चारित्र का क्या उपयोग है। मन्द बुद्धिवालों को भी समझ में आ जाए, इसलिए आचार्यों ने अनेक दृष्टान्तों से इसे समझाने की कोशिश की है। उन्होंने कहा : सम्यग्ज्ञान प्रत्याख्यान का काम करता है यानी वह आनेवाले कर्मों को रोक देता है और सम्यक् चारित्र प्रतिक्रमण का काम करता है यानी वह पुराने कर्मों को बाहर फेंक देता है।

ने. : सम्यग्ज्ञान प्रत्याख्यान का काम करता है?

वि. : हाँ।

ने. : और चारित्र्य?

वि. : प्रतिक्रमण का। सम्यग्दर्शन इन दोनों को मजबूत बनाता है :

ने. : दृढ़ करता है?

वि. : हाँ; सेनापति यदि दृढ़ हो, तो सेना घबराती नहीं है; वह निरन्तर आगे बढ़ती रहती है।

ने. : वह स्थितिकरण का काम करता है?

वि. : हाँ; यह स्थितिकरण का उपाय है; जैसे, मल्लाह के हाथ में सुकान (डाँड़) होता है। जब नाव प्रवाह के साथ जाने लगती है, तब वह उसे घुमा देता है, तो नाव सही किनारा पकड़ने लगती है।

ने. : यह नियंत्रक है?

वि. : हाँ; सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ठीक तरह से चलें, इसके लिए सम्यग्दर्शन है।

ने. : इसे दिशा-दर्शक भी कह सकते हैं?

वि. : हाँ; सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का जो मार्ग है, उससे विचलित नहीं होने देता। वह सीधा मोक्षमार्ग है।

ने. : ऐसा कहें कि एक दो-घोड़ों वाला रथ है, जिसे 'दर्शन' नाम का सारथी हाँक रहा है।

वि. : बिलकुल सही है। इधर जाए तो गड्ढा, उधर जाए तो गड्ढा; इस सारथी का काम भी कठिन है।

ने. : 'घोड़े' की जगह 'वृषभ' जोतना अधिक अच्छा होगा।

वि. : जैसे घोड़े को लगाम लगाते हैं, जिसकी दोनों ओर रस्सियाँ होती हैं; उसी तरह सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूपी लगाम अपने हाथ में रखता है।

ने. : वह सारथी है?

सत्तविह पडिक्कमणं

पडिक्कमणं – दिवसिय, राइय, पक्खिय, चऊम्मासिय, संवच्छरिय, इरियावहिय उत्तमट्ठाणियाणि चेदि सत्त पडिक्कमणाणि। सव्वादिचारिय-तिविहाहारचायिय पडिक्कमणाणि उत्तमट्ठाण पडिक्कमणपडिक्कमणम्मि णिवदंति। अट्ठावीसमूलगुणादिचार विसयसव्व पडिक्कमणाणि इरियावहय पडिक्कमणाणि णिवदंति; अवगय अदिचार विसयत्तादो। तम्हा सत्त चेव पडिक्कमणाणि।

–आचार्य वीरसेन, जयधवला, भाग १, पृष्ठ ५७।

दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक, ईर्यापथिक और औत्तमार्थिक इस प्रकार प्रतिक्रमण सात प्रकार का है। सर्वातिचारिक, त्रि-विधाहार-त्यागिक (अन्नं– दाल,भातादि; खाद्य – मोदक, लेह्यं– चाट) नाम के प्रतिक्रमण को जीवनपर्यंत किया गया उत्तमार्थ प्रतिक्रमण कहते हैं। अट्ठाईस मूलगुणों के अतिचार-विषयक समस्त प्रतिक्रमण ईर्यापथ प्रतिक्रमण में अन्तर्भूत होते हैं, क्योंकि ईर्यापथ प्रतिक्रमण अपगत अतिचारों को विषय करता है; इसलिए प्रतिक्रमण सात ही होते हैं।

वि. : हाँ; वह सीधे आगे बढ़ने के लिए उन्हें चलाता है।

ने. : प्रतिक्रमण से इसका गहरा सम्बन्ध है; तो बताइये कि प्रतिक्रमण कैसी प्रक्रिया है? उसके माध्यम से हम क्या करते हैं, भीतर-भीतर?

वि. : प्रतिक्रमण सात हैं। सात की संख्या को हमारे यहाँ 'फुल बैंच' (न्यायालय के संदर्भ में) माना गया है। संख्या का भी बहुत महत्त्व होता है। जैसे, सप्तभंगी है, सप्त तत्त्व हैं, सप्त नरक हैं, सप्त परमस्थान हैं, सप्त ज्योतियाँ हैं, सप्ताह है, सप्त स्वर हैं; व्यसन भी सात हैं; आदि-आदि।

ने. : अच्छाई-बुराई सबके लिए हमने सात संख्या रख ली है।

वि. : हाँ; और उसे 'फुल बैंच' मान लिया। मनुष्य की शंकाएँ भी सात ही होती हैं।

ने. : ज्योतिष में भी 'सप्तर्षि' हैं।

वि. : स्वप्न भी सात पड़ते हैं। तो इस तरह सात की यह संख्या महत्त्वपूर्ण है। प्रतिक्रमण में भी सात ही बातें रखी हैं। ऐर्यापथिक में तो सात णमोकार मन्त्र बोलना होता है। दैवसिक प्रतिक्रमण में दिन में जो दोष लगे हैं उन्हें दूर करने के लिए छत्तीस बार णमोकार मन्त्र का जाप करना होता है।

ने. : दैवसिक में?

वि. : हाँ; रात्रिक – रात्रि में स्वप्न आदि में जब दोष लग जाते हैं, त
अठारह बार णमोकार मन्त्र का जाप करना होता है। पाक्षिक में पन्द्रह दिन में जो दोष लगें तब सौ बार णमोकार मन्त्र बोलते हैं, चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में एक सौ छत्तीस बार णमोकार मन्त्र का जाप करते हैं और सांवत्सारिक प्रतिक्रमण में एक सौ बहत्तर बार णमोकार मन्त्र बोलते हैं; किन्तु औत्तमार्थिक प्रतिक्रमण में मात्र आत्मा में मग्न रहना होता है। वहाँ वाचनिक क्रिया शान्त हो जाती है।

ने. : यह तो क्रमश: शिखर चढ़ना हुआ।

वि. : हाँ; ऐर्यापथिक, दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और वार्षिक अथवा सांवत्सरिक – ये छह तो व्यावहारिक प्रतिक्रमण हैं और औत्तमार्थिक निश्चय प्रतिक्रमण है। इसकी प्राप्ति के पश्चात् व्यावहारिक प्रतिक्रमणों की कोई ज़रूरत नहीं रह जाती। ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण में २७ श्वासोच्छ्वास द्वारा णमोकार मन्त्र; दैवसिक में १०८ श्वासोच्छ्वास के साथ णमोकार मन्त्र; रात्रिक में ५४ श्वासोच्छ्वास के साथ णमोकार मन्त्र, पाक्षिक में ३०० श्वासोच्छ्वास में णमोकार मन्त्र पूर्ण करना होता है: चातुर्मासिक में ४०० श्वासोच्छ्वास के द्वारा णमोकार मन्त्र पूरा करना होता है तथा सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में ५०० श्वासोच्छ्वास के द्वारा णमोकार मन्त्र बोलना होता है। जो सातवाँ प्रतिक्रमण है: औत्तमार्थिक, उसमें निर्विकल्प दशा में आत्मरमण करना होता है।

ने. : आत्मनिष्ठ हो जाना।

वि. : बाकी के जो प्रतिक्रमण हैं, वे मिश्रित हैं।

ने. : ये सीढ़ियाँ हैं ताकि हम मंजिल तक पहुँच सकें।

वि. : ये बहुत आवश्यक हैं।

ने. : मुझे लगता है, जब हम 'णमो अरहंताणं' और फिर 'णमो सिद्धाणं' बोलते हैं, तब जो मध्यान्तर आता है, वह निर्विकल्पता की स्थिति है।

वि. : हाँ; बात यह है कि णमोकार मन्त्र को *धवला* ने भी बहुत महत्त्वपूर्ण माना है। उसमें बताया है, कि जब हम 'णमो अरहंताणं' और फिर 'णमो सिद्धाणं' बोलते हैं, तब 'णमो अरहंताणं' बोलते समय जो ऊर्जा बढ़ती है; 'णमो अरहंताणं' और 'णमो सिद्धाणं' बोलते समय –जो संधि आती है, वह निर्विकल्पता की शब्दातीत अवधि है। याद रखिये १० वें गुणस्थान तक तो अ-बुद्धिपूर्वक विकल्प होते हैं। इतना और ध्यान में रखिये कि एक विकल्प नष्ट हो गया और नया विकल्प अभी उदय में नहीं आया, तो जो बीच का काल है वह निर्विकल्प दशा है–वही निर्जरा का कारण है, वही संवर का कारण है।

ने. : मैं सोच रहा था कि व्यावहारिक प्रतिक्रमणों में णमोकार मन्त्र की संख्या में जो वृद्धि की गयी है, वह निर्विकल्पता को समृद्ध करने के लिए ही संभवत: है। जैसे, ऐर्यापथिक में आपने क्या बताया है...

वि. : ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण में २७ श्वासोच्छ्वास द्वारा ९ बार णमोकार मन्त्र बोलना होता है।

ने. : दैवसिक में ?

वि. : ३६ बार णमोकार मन्त्र और १०९ श्वासोच्छ्वास होते हैं।

ने. : यह जो संख्या बढ़ायी गयी है, वह निर्विकल्पता को बढ़ाने के लिए है।

वि. : बिलकुल सही है।

ने. : ताकि हम औत्तमार्थिक प्रतिक्रमण में आ सकें। यह एक अद्भुत संयोजन है कि हम क्रमशः ऐर्यापथिक, दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक प्रतिक्रमणों में से गुज़र कर औत्तमार्थिक प्रतिक्रमण में पहुँचते हैं, और इनमें क्रमशः हमारी निर्विकल्पता विस्तृत होती जाती है।

वि. : ध्येय ही हमारा निर्विकल्पता का है। बिना इसके निर्जरा नहीं होगी।

ने. : प्रतिक्रमण का जो गणित आपने समझाया, उसके पीछे निर्विकल्पता का लक्ष्य है, यही न ?

वि. : हाँ; उसीके लिए इतने सब प्रयास हैं। समझिये कि जितने भी व्यावहारिक प्रतिक्रमण हैं, वे सब मॉंटेसरी स्कूल के हैं (शिशु-शिक्षा के संदर्भ में); किन्तु जब हम औत्तमार्थिक प्रतिक्रमण में पहुँचेंगे, तब शेष सब आपोआप छूट जाएँगे।

ने. : यह तो पीएच.डी., डी.लिट्. है।

वि. : हाँ; आप कुछ भी कहिये (हँसी)। *श्लोकवार्तिक* में कहा है : **तर्हि शष्कुल्यादि ज्ञानपंचकम्** मनुष्य को पापड़ खाते समय रूपादि पाँचों ज्ञान एक साथ होते हैं। जैसे, जब वह पापड़ को पकड़े हुए है, तो स्पर्श है; उसे मुंह में रखे है, तो स्वाद है; वहीं से नाक को खुशबू आ रही है, वहीं से वह देख रहा है कि उसका रंग कैसा है (सफेद, पीला आदि); वहीं वह उसे चबा रहा है, तो कट-कट की आवाज आ रही है। इस तरह एक ही समय पाँचों इन्द्रियों का ज्ञान उसे होता है। यह स्थूल रूप में कहा गया है। सूक्ष्म रूप से कहा है : **उत्पलशतपत्रवत्**। कमल के जो सौ पत्ते हैं; उन्हें सुई से छेद दिया; एक ही समय में उन्हें छेद दिया, परन्तु इन पत्तों को छेदने में कितना सूक्ष्म समय लगा और दो पत्तों के बीच में जो खाली जगह है, उस समय सुई ने किसी को छेदा नहीं। ऐसा ही बुद्धिपूर्वक विकल्प होता है, जैसा जब स्पर्श का ज्ञान हो रहा है, तो स्वाद का ज्ञान भी सूक्ष्म समय में हो रहा है। जैसे मोटर गाड़ी या स्कूटर के जो 'गेयर' होते हैं, उन्हें इतनी सूक्ष्म रीति से बदलते हैं; इसमें कितना समय लग रहा है, इसका अनुमान या पता लगाना मुश्किल होता है। 'गेयर' बदलने के बीच का जो काल है, वह अबुद्धिपूर्वक होने वाली निर्विकल्पता है।

ने. : इसे समझाने के लिए आपने अभी यह भी कहा था कि भूत, भविष्य और वर्तमान ....

वि. : वर्तमान की जो सूक्ष्मता है, वह निर्विकल्प दशा है।

ने. : भविष्य वर्तमान में आ कर किस तरह भूत हो जाता है; इसका पता लगाना बहुत मुश्किल है। जो संधि है, उसे ही पकड़ सकते हैं कि हमारी इन्द्रियों

को कैसे स्वाद आता है; किस तरह पाँचों इन्द्रियाँ व्यस्त हैं; किन्तु कौन कितने समय तक है, यह पता लगाना मुश्किल है।

वि. : इसी तरह सूक्ष्म रूप में **तर्हि सकृद्रूपादि ज्ञानपंचम्** – 'श्लोकवार्तिक' ने कहा कि पापड़ खाते समय पांचों इन्द्रियों का ज्ञान होता है।

ने. : निष्कर्ष यह कि 'णमो अरहंताणं', 'णमो सिद्धाणं' बोलने के बीच जो संधि है, वह सूक्ष्मतम है। यही निर्विकल्प दशा है। इसीको बढ़ाते रहने के लिए प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान इत्यादि की व्यवस्था है।

वि. : सारी प्रक्रिया इसीके लिए है। अब देखिये ! किसी श्लोक का अर्थ लगाते समय यदि किसी 'शब्द' का अर्थ नहीं आया; किन्तु इसे जानना जरूरी है; तो ऐसे में आपके तमाम विकल्प नष्ट हो जाते हैं और एक ही विकल्प रहता है कि उस 'शब्द' का अर्थ क्या हो सकता है ? यह भी एक ध्यान है – श्रुतज्ञान। ध्यान कहें, या ज्ञान– एक बात में मन को टिका दिया, तो असंख्य विकल्प हट गये; एक ही विकल्प रह गया। जब आप किसी नये अर्थ को सोचने (खोजने) के लिए शान्तिपूर्वक बैठते हैं, तब उसमें भी संवर-निर्जरा की स्थिति बनती है।

ने. : जैसे गंदा पानी है, उसमें फिटकरी या अन्य शोधक पदार्थ डाल दिया, तो सारा कर्दम नीचे बैठ जाता है। एक चीज पर हमारा ध्यान चला गया, तो ध्यान के इस बिन्दु के कारण हमारे जो अन्य कर्म हैं, वे शान्त हो जाते हैं। क्या प्रतिक्रमण को आप थोड़े सरल शब्दों में समझायेंगे ? 'प्रतिक्रमण' के लिए मैंने पढ़ा था – 'प्रति-गमन'। 'गम' में 'म्' हलन्त कर दें तो यह एक धातु है, जिसका अर्थ है 'जाना'। वैसे भी प्रतिक्रमण का जैनाचार्यों ने जो अर्थ दिया है, वह है 'बाहर में सिमिट कर भीतर की ओर जाना'।

वि. : सही है।

वि. : अत्यन्त सरल शब्द में जो 'प्रमत्त' है, उससे बचने के लिए इसे 'अप्रमत्त' दशा समझिये ।

ने. : यानी प्रतिक्रमण अप्रमत्त दशा में आने का मार्ग है।

वि. : व्यवहाररूप में छद्मस्थों के लिए अप्रमत्त रहने के लिए कोई साधन स्थूल रूप में यदि है, तो वह प्रतिक्रमण है; क्योंकि हर समय 'अप्रमत्त' रहना ही हमारा ध्येय है।

ने. . 'प्रमत्त' की मुक्ति नहीं है।

वि. : वास्तव में अप्रमत्त दशा ही आत्मा-का-स्वभाव है। भाव कर्मों के कारण अनादि काल से वह प्रमत्त बना हुआ है। इस प्रमत्त अवस्था को कैसे रोकना, 'प्रमाद' से कैसे बचना, यही प्रतिक्रमण है।

□□

ने. : आषाढ़ में ही सारी बातें क्यों होती है ? चातुर्मासिक प्रतिक्रमण भी तो आषाढ़ में ही होता है।

वि. : पाणिनी ने *अष्टाध्यायी* में कहा है कि देश का जो हिसाब था, वह आषाढ़* में ही पूर्ण होता था।

ने. : उत्तर, या दक्षिण भारत में ?

वि. : सारे देश में। आषाढ़ वदी प्रतिपदा को नया वर्ष मानते थे, ऐसा शास्त्रों में लिखा है। आदिनाथ भगवान् द्वारा 'असि, मसि, कृषि' के रूप में कृत-युग का आरंभ इसी समय माना गया । सांवत्सरिक प्रतिक्रमण के लिए भी वर्ष का अन्त आषाढ़ पूर्णिमा को ही उपयुक्त माना है।

ने. : सांवत्सरिक प्रतिक्रमण ?

वि. : यह सांवत्सरिक भी है और चातुर्मासिक भी है। चातुर्मासिक प्रत्येक चार महीनों में होता है।

ने. : इसे श्रावक करते हैं, या साधु; या दोनों ?

---

* अर्थशास्त्र में आदेश है कि सब गणनायक आषाढ़ी पूर्णिमा के दिन अपने हिसाब-किताब के कागज और रोकड़ ले कर राजधानी में आवें और वहां अपने आय-व्यय और रोकड़ का [illegible] मिलाएं। वर्ष का अन्तिम दिन 'संवत्सरान्त' कहा जाता था और उसके बाद अगले वर्ष का पहला दिन [illegible] कहलाता था। उस दिन जो [illegible] का [illegible] किया जाता था, उसे [illegible] कहते थे। [illegible] का अन्तिम दिन आषाढ़ी पूर्णिमा को समाप्त माना जाता था। उस दिन को [illegible] ([illegible]) कहते थे; क्योंकि सरकारी कर्मचारियों के उस दिन देर तक हिसाब-किताब [illegible] करना होता था। —[illegible]; वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ. [illegible]।

वि. : व्रती श्रावक भी करते हैं।

ने. : व्रती श्रावक कौन ?

वि. : जो ग्यारह प्रतिमाधारी है; क्षुल्लक (प्रथमोत्कृष्ट श्रावक) है; यह कर सकता है।

ने. : यह शास्त्रीय दृष्टि से कुछ है।

वि. : शास्त्रीय दृष्टि से ही मुख्यरूप से मुनियों के लिए सात प्रतिक्रमण बताये गये हैं।

ने. : चातुर्मासिक प्रतिक्रमण वर्ष में तीन बार होता है ?

वि. : हाँ।

ने. : रात्रिक – रात्रि की समाप्ति पर होता है !

वि. : रात्रि की समाप्ति पर प्रातःकाल।

ने. : और दैवसिक ?

वि. : सूर्यास्त से पहले।

ने. : और पाक्षिक ?

वि. : पाक्षिक चतुर्दशी के दिन होगा। अपराह्न तीन-चार बजे के लगभग इसे करते हैं।

ने. : और चातुर्मासिक ?

वि. : आषाढ़ सुदी पूर्णिमा, कार्तिक सुदी पूर्णिमा और फाल्गुन सुदी पूर्णिमा। वर्ष में तीन बार।

ने. : सांवत्सरिक ?

वि. : आषाढ़ वदी प्रतिपदा को।

ने. : औत्तमार्थिक ?

वि. : औत्तमार्थिक प्रतिक्रमण का कोई समय नहीं है। इसमें खाद्य, अन्न, लेह्य – ये तीन छोड़कर केवल जल रखते हैं। इस बृहत् प्रतिक्रमण के बाद किसी चीज का सेवन न करते हुए केवल जल पर ही रह सकते हैं।

ने. : औत्तमार्थिक प्रतिक्रमण के बाद जल ही शरीर का आधार होता है, बाकी सबका त्याग।

वि. : औत्तमार्थिक ही बृहत् प्रतिक्रमण है; अर्थात् जहाँ-जहाँ विकल्प आयें, वहाँ-वहाँ उन्हें छोड़ना। अन्न में दाल-रोटी, खाद्य में लड्डू आदि, लेह्य में चाटने वाली वस्तुएँ – इन तीनों को बृहत् प्रतिक्रमण करके ही छोड़ा जाता है।

ने. : पेय में जल रहता है ?

वि. : हाँ; दूध भी रह सकता है और छाछ भी रह सकती है।

ने. : जल की बड़ी महिमा है। पृथ्वी का ७०-७५ प्रतिशत भाग तो जल ही है।

वि. : आदमी के शरीर में ८० प्रतिशत जल है।

ने. : क्या इसीलिए जल की अनुमति दी गयी है औत्तमार्थिक प्रतिक्रमण में ?

वि. : अनशन में शरीर को क्षीण करने के लिए कहा गया है। कषायों को क्षीण करने के लिए सल्लेखना है। अन्दर कषायों को और बाहर शरीर को उत्तरोत्तर कृश, या कमज़ोर बनाते जाना है, जैसे, छुहारा होता है, उसे खजूर से बनाते हैं। इसके परिणाम शुद्ध बनते हैं और अन्ततः शरीर छोड़ने में आसानी होती है।

ने. : आत्मा को बलशाली बनाना और शरीर को क्षीण करना।

वि. : जैसे आप पेंसिल को तराशते हैं, उसी तरह शरीर को तराशा जाता है।

ने. : तभी पेंसिल की नोक बनती जाती है। तराशना, अर्थात् एकाग्र करना। एकाग्र – एक को आगे रखना, यानी आत्मा को आगे रखना।

वि. : 'अग्रः'। एक आत्मा ही हमारे सामने है।

ने. : इस तरह 'प्रतिक्रमण' भेद-विज्ञान का बहुत बड़ा आधार है; साधन है।

वि. : हमारे यहाँ जो शास्त्रीय शब्द हैं, वे प्रायः आत्मार्थी ही हैं। भेद-विज्ञान पेड़ों में भी है। पानी दे दो, खाद दे दो, तो पोषण करेंगे; यदि आप तेल देंगे तो पेड़ सूख जाएँगे।

ने. : दो शब्द प्रयोग में आते हैं : भेद-ज्ञान और भेद-विज्ञान। क्या इनमें कोई भेद है ?

वि. : 'भेद-ज्ञान' तो सामान्य वाचक शब्द है। हमने भेद कर दिया, यह ज्ञान हो गया कि यह अलग; वह अलग। यह सर्वविदित है। परन्तु भेद-विज्ञान – आत्मानुभव होने पर ही प्राप्त होता है। यह विशेष ज्ञान है। भेद का सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान, अनुभवपूर्ण ज्ञान, व्यवहार-रूप ज्ञान भेद-विज्ञान है।

ने. : इसे भेद-विज्ञान कहेंगे। प्रतिक्रमण के बाद भेद-दृष्टि – शरीर अलग, आत्मा अलग – ऐसी दृष्टि बड़ी समृद्ध हो जाती है।

वि. : यह होना जरूरी है।

ने. : इसके बाद एक स्थिति आती है, मध्यस्थता की।

वि. : माध्यस्थ (मध्यस्थ) भाव की स्थिति में आये बिना भेद-विज्ञान होगा ही नहीं।

ने. : क्या इसे प्रतिक्रमण की परिणति मानें ?

वि. : मान सकते हैं। जो मध्यस्थ होगा, जिसमें समताभाव होगा, वही प्रतिक्रमण कर सकेगा।

ने. : जो प्रतिक्रमण करता जाएगा, उसकी मध्यस्थ भावना दृढ़ होती जाएगी।

वि. : वैसी स्थिति यदि है, यदि इसमें समताभाव नहीं होगा, तो वह ऐकान्तिक प्रतिक्रमण नहीं होगा। इसे हमारे आचार्यों ने अनियतकालिक सामायिक भी कहा है। नियतकालिक सामायिक प्रातःकाल, सायंकाल होती है, परन्तु अनियत-

वि. : व्रती श्रावक भी करते हैं।

ने. : व्रती श्रावक कौन ?

वि. : जो ग्यारह प्रतिमाधारी है; क्षुल्लक (प्रथमोत्कृष्ट श्रावक) है; यह कर सकता है।

ने. : यह शास्त्रीय दृष्टि से कुछ है।

वि. : शास्त्रीय दृष्टि से ही मुख्यरूप से मुनियों के लिए सात प्रतिक्रमण बताये गये हैं।

ने. : चातुर्मासिक प्रतिक्रमण वर्ष में तीन बार होता है ?

वि. : हाँ।

ने. : रात्रिक – रात्रि की समाप्ति पर होता है !

वि. : रात्रि की समाप्ति पर प्रातःकाल।

ने. : और दैवसिक ?

वि. : सूर्यास्त से पहले।

ने. : और पाक्षिक ?

वि. : पाक्षिक चतुर्दशी के दिन होगा। अपराह्न तीन-चार बजे के लगभग इसे करते हैं।

ने. : और चातुर्मासिक ?

वि. : आषाढ़ सुदी पूर्णिमा, कार्तिक सुदी पूर्णिमा और फाल्गुन सुदी पूर्णिमा। वर्ष में तीन बार।

ने. : सांवत्सरिक ?

वि. : आषाढ़ वदी प्रतिपदा को।

ने. : औत्तमार्थिक ?

वि. : औत्तमार्थिक प्रतिक्रमण का कोई समय नहीं है। इसमें खाद्य, अन्न, लेह्य – ये तीन छोड़कर केवल जल रखते हैं। इस वृहत् प्रतिक्रमण के बाद किसी चीज का सेवन न करते हुए केवल जल पर ही रह सकते हैं।

ने. : औत्तमार्थिक प्रतिक्रमण के बाद जल ही शरीर का आधार होता है, बाकी सबका त्याग।

वि. : औत्तमार्थिक ही वृहत् प्रतिक्रमण है; अर्थात् जहाँ-जहाँ विकल्प आयें, वहाँ-वहाँ उन्हें छोड़ना। अन्न में दाल-रोटी, खाद्य में लड्डू आदि, लेह्य में चाटने वाली वस्तुएँ – इन तीनों को वृहत् प्रतिक्रमण करके ही छोड़ा जाता है।

ने. : पेय में जल रहता है ?

वि. : हाँ; दूध भी रह सकता है और छाछ भी रह सकती है।

ने. : जल की बड़ी महिमा है। पृथ्वी का ७०-७५ प्रतिशत भाग तो जल ही है।

वि. : आदमी के शरीर में ८० प्रतिशत जल है।

ने. : क्या इसीलिए जल की अनुमति दी गयी है औत्तमार्थिक प्रतिक्रमण में ?

वि. : असल में शरीर को क्षीण करने के लिए कहा गया है। कषायों को क्षीण करने के लिए सल्लेखना है। अन्दर कषायों को और बाहर शरीर को उत्तरोत्तर कृश, या कमज़ोर बनाते जाना है, जैसे, छुहारा होता है, उसे खजूर से बनाते हैं। इससे परिणाम शुद्ध बनते हैं और अन्ततः शरीर छोड़ने में आसानी होती है।

ने. : आत्मा को बलशाली बनाना और शरीर को क्षीण करना।

वि. : जैसे आप पेंसिल को तराशते हैं, उसी तरह शरीर को तराशा जाता है।

ने. : तभी पेंसिल की नोक बनती जाती है। तराशना, अर्थात् एकाग्र करना। एकाग्र – एक को आगे रखना, यानी आत्मा को आगे रखना।

वि. : 'अग्रः'। एक आत्मा ही हमारे सामने है।

ने. : इस तरह 'प्रतिक्रमण' भेद-विज्ञान का बहुत बड़ा आधार है; साधन है।

वि. : हमारे यहाँ जो शास्त्रीय शब्द हैं, वे प्रायः आत्मार्थी ही हैं। भेद-विज्ञान पेड़ों में भी है। पानी दे दो, खाद दे दो, तो पोषण करेंगे; यदि आप तैल देंगे तो पेड़ सूख जाएँगे।

ने. : दो शब्द प्रयोग में आते हैं : भेद-ज्ञान और भेद-विज्ञान। क्या इनमें कोई भेद है?

वि. : 'भेद-ज्ञान' तो सामान्य वाचक शब्द है। हमने भेद कर दिया, यह ज्ञान हो गया कि यह अलग; वह अलग। यह मर्यादित है। परन्तु भेद-विज्ञान – आत्मानुभव होने पर ही प्राप्त होता है। वह विशेष ज्ञान है। भेद का सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान, अनुभवपूर्ण ज्ञान, व्यवहार-रूप ज्ञान भेद-विज्ञान है।

ने. : इसे भेद-विज्ञान कहेंगे। प्रतिक्रमण के बाद भेद-दृष्टि – शरीर अलग, आत्मा अलग – ऐसी दृष्टि बड़ी समृद्ध हो जाती है।

वि. : वह होना ज़रूरी है।

ने. : उसके बाद एक स्थिति आती है, मध्यस्थता की।

वि. : मध्यस्थ (मज्झत्थ) भाव की स्थिति में आये बिना भेद-विज्ञान होगा ही नहीं।

ने. : क्या इसे प्रतिक्रमण की परिणति मानें?

वि. : मान सकते हैं। जो मध्यस्थ होगा, जिसमें समताभाव होगा, वही प्रतिक्रमण कर सकेगा।

ने. : जो प्रतिक्रमण करता जाएगा, उसकी माध्यस्थ भावना दृढ़ होती जाएगी।

वि. : जैसी ऐर्यापथ शुद्धि है; यदि उसमें समताभाव नहीं होगा, तो वह ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण नहीं होगा। इसे हमारे आचार्यों ने अनियतकालिक सामायिक भी कहा है। नियतकालिक सामायिक प्रातःकाल, सायंकाल होती है; परन्तु अनियत-

कालिक सामायिक में आप चल रहे हैं, एकाग्र हो जाते हैं कि कहीं पैर के नीचे कोई जीव न आ जाए; इसका ध्यान रख कर चलते हैं; मन-वचन-काय से एकाग्र हो कर चार हाथ प्रमाण देख कर चलते हैं।

ने. : क्या सामायिक और प्रतिक्रमण दोनों में कोई विशेष भेद है?

वि. : ये एक-दूसरे से संवद्ध हैं। पर्यायवाची नहीं हैं। ये आत्म-शुद्धि की विक्रियाएँ (विशेष क्रियाएँ) हैं।

ने. : वैसे समय का अर्थ आत्मा होता है।

वि. : हाँ; एक वात और; हमारे यहाँ नाम सामायिक, स्थापना सामायिक, द्रव्य सामायिक, और भाव सामायिक – ऐसे भी भेद किये हैं। धवला में ये चार भेद वताये हैं।

ने. : क्षेत्र-काल सामायिक भी है क्या?

वि. : हाँ।

ने. : नाम सामायिक यानी?

वि. : किसी अशुभ नाम का लेना छोड़ देना, शुभ नाम का लेना।

ने. : उन शब्दों को छोड़ देना जो शरीर में आसक्ति बढ़ाते हों?

वि. : हाँ; और स्थापना सामायिक में अपने अन्दर जो अनन्त विषयों को स्थापित कर रखा है, उन्हें निकाल कर उसमें वीतरागता स्थापित कर देना।

ने. : अशुभ/अशुद्ध को विस्थापित करना और वीतरागता को स्थापित करना।

वि : द्रव्य सामायिक में भगवान् की वीतराग मुद्रा का आलम्बन के रूप में चिन्तवन करना।

ने. : भावोत्कीर्ण करना।

वि. : भाव सामायिक अर्थात् समता भाव में शुद्धोपयोग में रमण करना।

ने. : उसमें कोई स्थूल आलम्वन नहीं रहता।

वि. : मात्र आत्मा ही वच रहता है।

ने. : अर्थात् आत्मा-ही-आत्मा-का आलम्वन हो जाता है।

वि. : हाँ; यही सामायिक है। इसमें आप क्षण-प्रति-क्षण स्थिर होते हुए एकाग्र हो सकते हैं। इस समय कोई भी द्वन्द्व नहीं होना चाहिये।

ने. : क्या भाव सामायिक नियतकालिक है?

वि. : भाव सामायिक जव भी आप एकाग्र हो जाते हैं, समताभाव में वैठ जाते हैं, आत्मारूढ़ हो जाते हैं; तभी वह हो जाती है।

ने. : जव तक निर्विकल्पता वनी रहती है तव तक वह भाव सामायिक है।

वि. : अपने भीतर समस्त रागात्मक विषयों को छोड़ देना; विकल्पों को बुद्धिपूर्वक छोड़ देना भाव सामायिक है।

ने. : क्या सामायिक की कोई निश्चित विधि है?

वि. : है।

ने. : थोड़े में बताइये।

वि. : दिशा नाम का कोई तत्त्व नहीं बताया गया है; फिर भी उन्होंने कहा है दिशाएँ चार हैं।

ने. : दिशाओं का महत्त्व है।

वि. : जैसे पूर्व दिशा है; सूर्योदय के कारण इसे पवित्र और परम श्रेष्ठ माना गया है। इसे यामान्तक कहा गया है। मृत्यु (अन्धकार) को जीतने के लिए पूर्व दिशा को श्रेष्ठ कहा है।

ने. : मृत्युंजया दिशा।

वि. : इसके बाद पश्चिम है। यह पद्मान्तक है। इसमें मन छोटा हो जाता है।

ने. : शक्तियाँ अस्त हो जाती हैं।

वि. : उत्तर को विघ्नान्तक माना गया है। इसमें कोई विशिष्ट शक्ति, या ऊर्जा का समावेश है, ऐसा वैज्ञानिक कहते हैं; शास्त्रों ने भी कहा है।

ने.: ध्रुवतारा है।

वि. : हाँ; 'ध्रुव' शब्द आत्मवाची भी है।

ने. : शायद 'उत्तर' मिल जाते हों।

वि. : वस्तुतः उत्तर दिशा विघ्नों के दूर होने में सहायक है।

ने. : यदि साधना में कोई विघ्न हो, तो वह उत्तरोन्मुख होने से दूर हो जाता है।

वि. : साधना का समझिये, या मन का, बात एक ही है।

ने. : किसी भी प्रकार का विघ्न हो, वह दूर हो जाता है; अतः यह विघ्नान्तक दिशा है।

वि. : दक्षिण को प्रज्ञान्तक कहा है। इधर का जो वायुमण्डल है, उससे बुद्धिभ्रम सम्भव है।

ने. : वैसे सामायिक तो चारों दिशाओं में होती है।

वि. : हाँ।

ने. : यदि मैं सामायिक करना चाहूँ, तो शुरू कहाँ से करूँ?

वि. : पूर्व से करें, तो बहुत अच्छा है।

ने. : कैसे करेंगे पूर्व से?

वि. : सुखासन, या पद्मासन से पूर्व में बैठ जाएँ और बैठने के बाद दिशा-वन्दन कर लें कि इस गुफा (स्थान) से बाहर नहीं जाऊँगा; इस आसन से नहीं
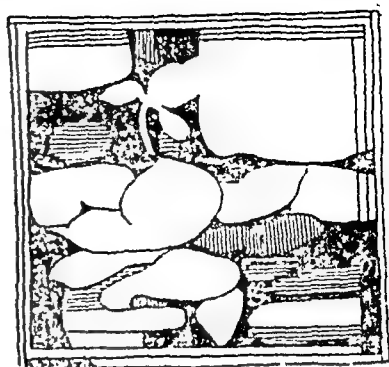
उठूँगा। इसके बाद गृहस्थों को यह भी बताया है कि एकान्त में वे कपड़े उतार लें, या गाँठ बाँध लें।

ने. : कुछ मर्यादा निश्चित की है।

वि. : हाँ; तब तक यहाँ से नहीं उठूँगा।

ने. : क्षेत्र की मर्यादा।

वि. : समय की मर्यादा भी। एक में दोनों आ जाते हैं। जैसे, पहले चोटी होती थी, तो उसमें गाँठ बाँध लेते थे। जब तक सामायिक करूँगा, इस क्षेत्र से नहीं उठूँगा। जब लघुशंका आदि का अहसास हुआ, तब गाँठ खोल दी। गृहस्थों के लिए इस तरह के निर्देश हैं।

ने. : मुनियों के लिए भी है।

वि. : मुनियों के लिए छह घड़ी से अन्तर्मुहूर्त अर्थात् आधे घण्टे तक।

ने. : घड़ी के हिसाब से कब तक?

वि. : कम-से-कम जैसे सूर्योदय और सूर्यास्त के पूर्व उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य है; अन्तर्मुहूर्त।

ने. : मिनिट के हिसाब से कितना?

वि. : ४८ मिनिट, उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त।

ने. : उतना करना चाहिये। एक दिशा में करने के बाद दूसरी दिशा में।

वि. : दिशा बदल सकते हैं।

ने. : आवर्त करते हैं चारों ओर?

वि. : चतुर्दिशि वन्दना इस प्रकार है :

> प्राग्दिग्विदिगन्तरि, केवलजिनसिद्ध साधुगण देवाः।
> ये सर्वर्द्धि समृद्धाः योगीशास्तानहं वन्दे ॥
> दक्षिण दिग्विदिगन्तरि, केवलजिनसिद्ध साधुगण देवाः।
> ये सर्वर्द्धि समृद्धाः योगीशास्तानहं वन्दे ॥
> पश्चिम दिग्विदिगन्तरि, केवलजिनसिद्ध साधुगण देवाः।
> पश्चिम दिग्विदिगन्तरि, केवलजिनसिद्ध साधुगण देवाः।
> ये सर्वर्द्धि समृद्धाः योगीशास्नातहं वन्दे ॥
> उत्तर दिग्विदिगन्तरि, केवलजिनसिद्ध साधुगण देवाः।
> ये सर्वाद्धि समृद्धाः योगीशास्तानहं वन्दे ॥

पूर्व दिशा में जितने केवली हो गये, सिद्ध भगवान् मुक्त हो गये, उन सबको मैं प्रणाम करता हूँ।

इसी प्रकार दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा में नमन की विधि है। चारों दिशाओं में नमस्कार करके थोड़ी देर *सामायिक पाठ* करें।

ने. : आचार्य अमितगति का सामायिक पाठ बहुत प्रसिद्ध है।

वि. : हाँ; इस पाठ का पहला श्लोक है :

सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं,
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ भावं विपरीतवृत्तौ,
सदा ममात्मा विदधातु देवा॥

सब जीवों से रहे मित्रता गुणीजनों से प्रेम अपार।
प्राणिमात्र पीड़ित हों जो भी उनके प्रति मैं रहूँ उदार॥
देव मुझे सद्बुद्धि यही दो, समतामय देखूँ यह विश्व।
दुर्जन, दुष्ट, विरोधिजनों पर, साम्यभाव रक्खूँ हो निःस्व॥

सामायिक पाठ में आचार्य अमितगति ने कितने चमत्कार के साथ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से कथन किया है! वे श्रमण संस्कृति के अमर गायक थे। उन्होंने कहा :

यः स्मर्यते सर्वमुनीन्द्र वृन्दैर्–
यः स्तूयते सर्वनरामरेन्द्रैः।
यो गीयते वेद-पुराण-शास्त्रैः
स देवदेवो हृदय ममास्ताम्॥१२॥

ऋद्धि-सिद्धि-युत तपोधनों से, पूजित-अर्चित सतत हरे!
जय-गौरव अंकित पुराण में, द्वादशांग में अमित हरे!!
नर-पति छह खण्डों के स्वामी, युगल चरणों में नमित हरे!
मेरे उर-सिंहासन पर तुम, हो जाओ संतिष्ठ हरे!!

उनकी दृष्टि बहुत व्यापक और वैज्ञानिक थी; इसीलिए हम सब परमात्मा की स्तुति करते हैं, उसके गीत गाते हैं और उसका स्मरण करते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि जैनधर्म के संकीर्णताओं से बँधे न होने के कारण, उन्होंने उसे बहुत व्यापकता प्रदान की। इस व्यापकता-की-उदार चित्तवृत्ति में उन्होंने कह दिया कि मैं ऐसे परमात्मा का स्मरण और ध्यान कर रहा हूँ, जिसका दुनिया में सभी स्मरण करते हैं। कितनी व्यापक दृष्टि से उन्होंने गीत गाया है उस निराकार, निरंजन परमात्मा का, जिसकी स्तुति नरेन्द्र-सुरेन्द्र सभी करते हैं और जिसका स्मरण मुनीन्द्र भी करते हैं; वे कहते हैं ऐसे देवों-के-देव मेरे हृदय में आसीन हों।

ने. : जब दिशाओं में आवर्त करके बैठ जाएँगे पलथी मार कर तब सामायिक पाठ का मनन करेंगे?

वि. : हाँ।

ने. : अमितगति के अलावा औरों के सामायिक पाठ भी हैं?

वि. : हैं।

ने. : लेकिन लोकप्रिय यही अधिक है।

वि. : हाँ।

ने. : सामायिक में परमात्मा को आलम्बन-रूप लिया गया है?

वि. : इस कलियुग में मन बिना आलम्बन के ज्यादा देर तक टिक नहीं सकता; आप प्रतिमा (मूर्ति) का आलम्बन ले सकते हैं।

ने. : सूत्र का आलम्बन भी ले सकते हैं?

वि. : किसी का भी आलम्बन ले लीजिये। परमाणु का आलम्बन ले लीजिये।

ने. : वह तो गहन/दु:साध्य आलम्बन होगा।

वि. : कोई कठिन नहीं है।

ने. : उसे देख नहीं सकेंगे।

वि. : लेकिन भाव आप कर सकते हैं। जिसका दूसरा टुकड़ा नहीं हो सकता वह है परमाणु। जिस प्रकार परमाणु अभेद्य है, उसी प्रकार आत्मा भी अभेद्य है।

ने. : सादृश्य के द्वारा हम सहज ही उस चिरन्तन सत्य तक पहुँच सकते हैं।

वि. : भक्ति (रुचि) होनी चाहिये; फिर हम चाहे प्रतिमा का चिन्तवन करें, वीतरागता का चिन्तवन करें, सिद्ध भगवान् का करें या तुप-माप का चिन्तवन करें।

ने. : भेद-विज्ञान-पूर्वक किसी का भी चिन्तवन करें।

वि. : हाँ; भक्ति निरीह होनी चाहिये।

ने. : अनासक्त और निष्काम भक्ति होगी, तभी ध्यान होगा। अच्छा, यह बतलाइये कि सामायिक के बाद क्या करें?

वि. : बार-बार सामायिक करें; जैसे, सूत कातते समय धागा बार-बार टूटता है, तो कतवैया उसे जोड़ देता है। इसी तरह चिन्तवन करते-करते विचार टूटता है, तो उसे जोड़ना है।

ने. : किन्तु जोड़ बिलकुल दिखना नहीं चाहिये।

वि. : हाँ।

ने. : साधक की यह कुशलता बहुत सूक्ष्म होगी।

वि. : हाँ; सामायिक के पहले चारों दिशाओं में नमस्कार किया, फिर उससे उल्टा किया यानी चारों दिशाओं में पंचांग नमस्कार किया तथा 'णमोकार मन्त्र' की जाप के साथ सामायिक को सम्पन्न किया। 'णमोकार मन्त्र' की जाप भी सामायिक में आती है।

ने. : पंचांग नमस्कार – यह क्या है?

वि. : पाँचों अंगों का (दो हाथ, दो घुटने तथा सिर) स्पर्श कर देना चाहिये जमीन से भगवान् को नमस्कार करते हुए।

ने. : साष्टांग* और पंचांग में क्या फ़र्क़ हुआ?

---

* छाती, मस्तक, नेत्र, मन, वचन, पैर, जंघा और हाथ – आठ अंगों से झुकने पर अष्टांग नमस्कार होता है।

वि. : साष्टांग तो गृहस्थ कर सकते हैं — आठ अंगों के साथ।

ने. : प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान में क्या फ़र्क़ करेंगे? दोनों में क्या रिश्तेदारी है और दोनों में भेद क्या है?

वि. : प्रतिक्रमण भूतकाल में जितने भी दोष लगे हैं, उनकी आलोचना है; और भविष्य में न लगें, इसके लिए सतर्कता है; जैसे, यदि पहले किसी वस्त्र पर दाग लग जाए, तो दोबारा वह न लगे, इसके लिए सतर्क रहना है। 'यहाँ बैठने से लग गया' भविष्य में नहीं लगे, इसलिए वह सतर्क रहता है।

ने. : यह क्या हुआ?

वि. : यह प्रत्याख्यान हो गया; संवर हो गया।

ने. : प्रत्याख्यान को क्या मानें?

वि. : प्रत्याख्यान को संवर मानें। ज्ञानी ध्यान कर रहा है, उधर से धूल आ रही है, तो वह अपनी आँखें बन्द करेगा।

ने. : प्रत्याख्यान आँख की पलक का झँपना है। इस तरह से यह सूक्ष्म भेद हम कर सकते हैं।

वि. : हाँ; आँख में धूल हो, तो उसे पानी से साफ करना, धोना, यह प्रतिक्रमण है और आँख में धूल न जाए, यह प्रत्याख्यान है।

ने. : और आलोचना?

वि. : आलोचना तत्काल उसी समय देखना है; किसी से कोई ग़लती हो गयी और वह नाराज़ होने जा रहा है, तब आप तत्काल उसे अपनी ग़लती बता कर क्षमा माँग लेते हैं, यह आलोचना हो गयी। यदि आप चार-छह महीनों के बाद अपनी ग़लती के लिए क्षमा माँगते हैं, तो फिर प्रतिक्रमण करना होगा।

ने. : आलोचना में क्षमा माँग कर साफ हो जाते हैं।

वि. : तत्काल उपाय, अनवरत सतर्क रहना। एक तरह से आलोचना का अर्थ ही है: अप्रमत्त रहना।

ने. : फिर 'प्रायश्चित्त' का क्या अर्थ हुआ? 'प्रायः' का क्या अर्थ हुआ?
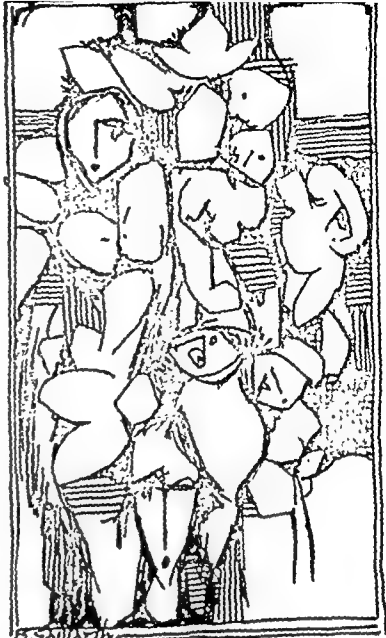
वि. : 'प्राय:' शब्द का अर्थ है 'शोधन'। किस का शोधन? चित्त-का-शोधन। प्रायश्चित्त में चित्त-का-शोधन करना होता है। *भगवती आराधना* के अनुसार 'प्राय:' शब्द का एक अर्थ संन्यास भी है।

ने. : तो प्रायश्चित्त का अर्थ हुआ, चित्त-शोधन, शल्य-शोधन, विकल्प-शोधन। चित्त में-से शल्य निकालना, विकल्प निकालना। यह संपूर्ण जीवन की प्रक्रिया है?

वि. : बिलकुल ठीक।

ने. : जब कोई वस्त्र मलिन हो जाता है; और हम उसे धोते हैं, तो क्या इसे भी प्रतिक्रमण कहेंगे?

वि. : कहेंगे। यह प्रतिक्रमण ही है।

ने. : जब-जब वस्त्र मैला होगा, तब-तब उसे धोयेंगे।

वि. : यह कपड़े का प्रतिक्रमण हुआ।

ने. : ऐसा कोई उपाय कर लें कि वह मैला ही न हो।

वि. : कहा है न, महाकवि बनारसीदास ने 'धोयें निजगुण-चीर' – मलिन हुए आत्मा को ध्यान में रख कर उन्होंने कहा है कि अपने आत्मरूपी वस्त्र को धोना है।

ने. : क्या प्रतिक्रमण आदि में गुरु की कोई भूमिका है?

वि. : प्रतिक्रमण की जो विधि है उसे अनुभवी गुरुओं से ही प्राप्त करना चाहिये; क्योंकि यदि आप स्वयं ही आगमों को पढ़ना शुरू कर देंगे, तो आप मनमाने अर्थ भी कर सकते हैं; मनमानी क्रिया भी कर सकते हैं। जैसे, सीधे यानी खारे समुद्र से पानी ले लें, तो वह खारा ही होगा और यदि वह मेघों द्वारा आनीत होगा, तो मधुर होगा, मीठा होगा, इसलिए अनुभवी गुरुओं से ही ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

ने. : पूछना चाहूँगा कि प्रतिक्रमण, या सामायिक का अधिकारी कौन है?

वि. : प्रतिक्रमण या सामायिक का अधिकारी वही माना गया है, जो व्रती है। गृहस्थ अभ्यास करता है, लेकिन उसे व्रती होना चाहिये। जो बन्धन में होगा, वही करेगा। जिस पर कोई बन्धन (अनुशासन) नहीं है, वह भला क्या करेगा?

ने. : उसे मर्यादाओं का पालन करना होगा?

वि. : हाँ।

ने. : 'सल्लेखन' शब्द आता है, 'प्रतिलेखन' भी आता है। क्या 'प्रतिलेखन' और 'सल्लेखन' दो अलग-अलग प्रक्रियाएँ हैं?

वि. : 'सम्यक् काय कषाय सल्लेखना' कषाय और काय को क्रमश: सम्यक्-पूर्वक कृश करना सल्लेखना है।

ने. : और प्रतिलेखन?

वि. : अपनी वस्तुओं को संभाल कर रखना – प्रतिलेखन है। जैसे आसन है, हम उस पर बैठते हैं, तो पिच्छि से सूक्ष्म कृमि आदि को साफ करके बैठें; क्योंकि कोई

भी दोष आ सकते हैं। आजकल प्रदूषण (पॉल्यूशन) के रूप में कोई भी विकृति जन्म सकती है। हम बैठने के स्थान पर प्रतिलेखन करते हैं। हमारे पैर के नीचे कोई कीड़े आदि बैठे न रह जाएँ इत्यादि का जब ध्यान रखते हैं तब यह 'प्रतिलेखन' है।

ने. : दिगम्बर साधु मोरपिच्छि का उपयोग करते हैं, श्वेताम्बर साधु ऊन का उपयोग करते हैं।

वि. : ऐसा करने से उस स्थान का दोष निकल जाता है।

ने. : मैंने इसलिए पूछा कि यदि सामायिक के लिए बैठना हो, तो प्रतिलेखन करके बैठना चाहिये।

वि. : शास्त्रों में कहा है जहाँ जानवर हों, नपुंसक हों, मच्छर हों, जो नाना तरह के उपद्रव करते हैं, ऐसे स्थलों का त्याग करना चाहिये।

ने. : किस स्थान पर बैठा जा रहा है, इसे तो देखना ही चाहिये।

वि. : हाथ रखते या साफ करते समय, ऐसी कोई भी क्रिया करते समय प्रतिलेखन करना होता है।

ने. : अब 'कायोत्सर्ग' को लें। यह भी एक 'आवश्यक' है।

वि. : है; शरीर से ममत्व छोड़ देना, काया से अनासक्त होना कायोत्सर्ग है।

ने. : यह तो भेद-विज्ञान हुआ।

वि. : हाँ।

ने. : इस तरह कायोत्सर्ग होगा?

वि. : हाँ।

ने. : शरीर के जितने भी व्यापार हैं; उन सब से मुक्त होना 'कायोत्सर्ग' है।

वि. : हाँ।

ने. : यों कहें कि सावद्य जीवन से मुक्त होना कायोत्सर्ग है?

वि. : यह तो होगा ही। मन-वचन-काय से किसी प्रकार निरवद्य होना।

ने. : जो निरवद्य होता है, वह सामायिक को कायोत्सर्ग के रूप में लेता है।

वि. : कायोत्सर्ग में शरीर से ममत्व छोड़ना ही मुख्य है। अन्तिम क्षण तक शरीर से ममत्व रहता है; किन्तु कायोत्सर्ग के क्षणों में यह ममत्व कम हो जाना चाहिये, तभी मन एकाग्र हो सकता है।

ने. : एक शब्द आता है – 'वोस्सरामि' (व्युत्सृजामि) – 'मैं छोड़ता हूँ' – क्या छोड़ता हूँ?

वि. : ममत्व छोड़ता हूँ, अशुभ क्रियाओं को छोड़ता हूँ, शुभ क्रियाओं को भी छोड़ता हूँ; क्योंकि शुद्धोपयोग में स्थिर होना ही धर्मध्यान है।

ने. : शुभ-अशुभ दोनों?

वि. : हाँ; दोनों को छोड़ कर शुद्ध में जा रहा हूँ।

ने. : **मिच्छामि दुक्कडं** आता है। इसके संबन्ध में बताइये।

वि. : **मिच्छामि दुक्कडं** का अर्थ है जो भी सावद्य मैंने किया है, वह मिथ्या हो।
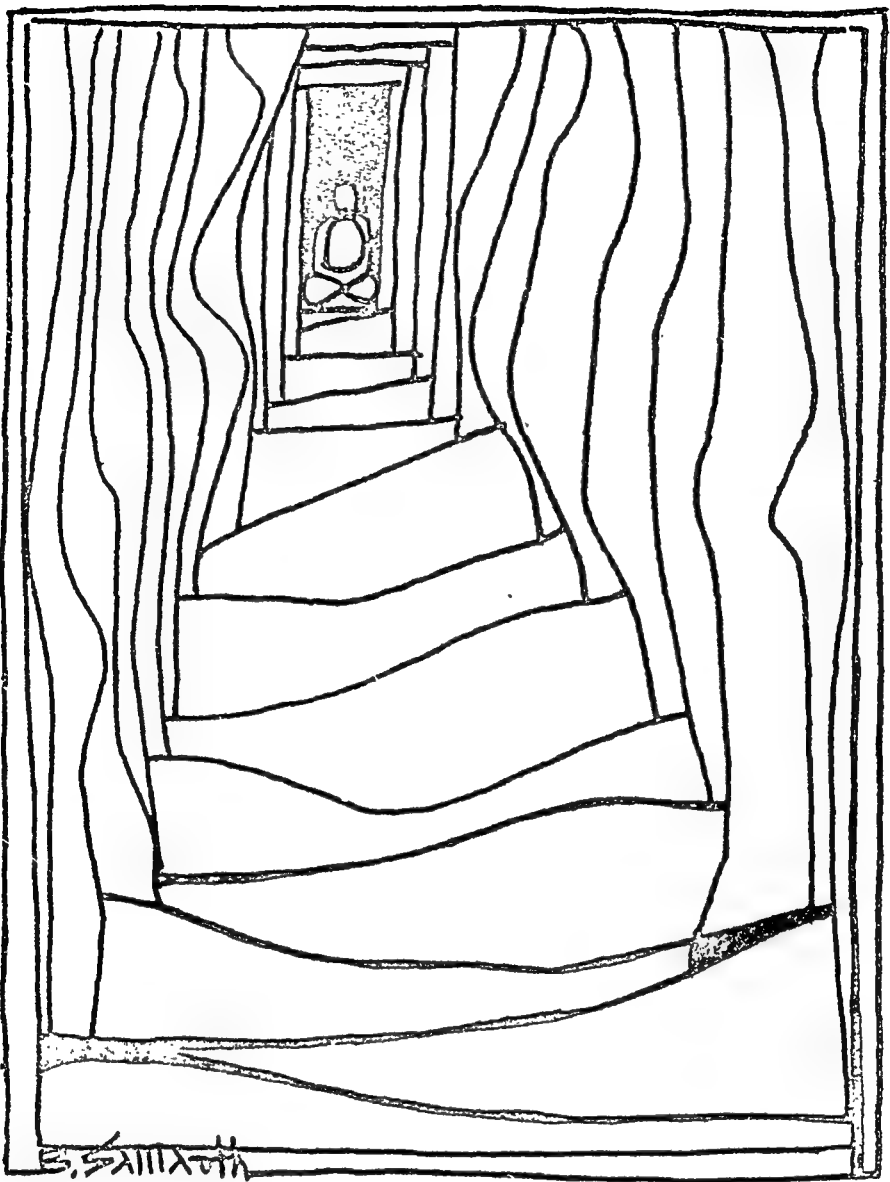
करने वाले होते हैं वे अमृतकुंभ ही हैं। यह उत्तरोत्तर ही होता है। 'इधर अपराध उधर प्रतिक्रमण' विषकुंभ है।

ने. : 'इधर अपराध उधर प्रतिक्रमण' – अजीब बात है!!

वि. : यह विषकुंभ है।

ने. : इसकी उपयोगिता तो तब है, जब अपराध निरन्तर कम होते जाएँ।

वि. : अपराध दुबारा न हों।

ने. : ऐसी प्रतिज्ञा हो, ऐसा संकल्प हो।

वि. : हाँ। □□

प्रतिक्रमण : ग्रन्थि-शोधन की आधार भूमिका

युवाचार्य महाप्रज्ञ/डॉ. नेमीचन्द जैन; जोधपुर, २२ जुलाई, १९८४

डॉ. नेमीचन्द जैन : सबसे पहले मैं यह जानना चाहूँगा कि हमारे जीवन में 'शब्द' की क्या महत्ता है; क्योंकि बहुत-सी हमारी क्रियाएँ ऐसी हैं, खासतौर से सामाजिक, जिन्हें शब्द संचालित करते हैं, (अर्थ संचालित करते हैं, यह भी सही है); इन दोनों में से पहले किसे लें 'शब्द' को, या 'अर्थ' को?

युवाचार्य महाप्रज्ञ : समाज शब्द के आधार पर ही बनता है। यदि भाषा नहीं होती तो समाज नहीं बनता। केवल 'ज्ञान' दूसरों के काम का नहीं, शब्द के माध्यम से ही ज्ञान की उपयोगिता है। समाज का मूल आधार है भाषा – शब्द। जो सारा विचार-सम्प्रेषण या विनिमय होता है, वह सब शब्द के माध्यम से ही होता है। 'शब्द' के बिना व्यक्ति होता, समाज नहीं।

ने. : पर देखा यह गया है कि सन्दर्भ तेजी से बदल जाते हैं।

म. : शब्द में सामर्थ्य होती है कि वह अर्थ को अभिव्यक्ति दे; किन्तु वह भी सन्दर्भों के साथ बदलती जाती है; इसीलिए शब्द-शक्ति में ह्रास और विकास होता रहता है।

ने. : उतार-चढ़ाव आता है।

म. : दो हज़ार वर्ष पहले एक शब्द का एक अर्थ था, आज वह बदल गया। दो हज़ार वर्ष पहले पाखण्ड (सं. पाषण्ड:) पवित्र शब्द था।

ने. : पाषण्ड:(-डं) ....

म. : एक पवित्र शब्द था। आज हम गौरवपूर्वक जिसे धर्म या सम्प्रदाय शब्द कहते हैं, उसके लिए 'पाषण्ड' शब्द था। अशोक ने अपने शिलालेखों में बड़े गौरव के साथ इसका उल्लेख किया है; यह जैन और बौद्ध साहित्य में भी है; लेकिन आज 'पाषण्ड (पाखण्ड)' शब्द धूर्तता के अर्थ में प्रयुक्त है।

ने. : उसका अर्थापकर्ष हो गया है।

म. : शब्द का अपकर्ष या उत्कर्ष; ह्रास या विकास होता रहता है। जिस शब्द में जो अर्थ व्याप्त है, उस अर्थ का यदि अपकर्ष होता है, तो शब्द का भी अपकर्ष होता है। शब्द और अर्थ दोनों का गहरा संबन्ध है।

ने. : इस संबन्ध को किसी उदाहरण से स्पष्ट कीजिये।

म. : पानी है, इसलिए पानी शब्द आया। अगर कोई वस्तु नहीं है, तो उसका अर्थ नहीं है। उसके लिए किसी शब्द का कथन नहीं होगा, वह शब्द व्यर्थ कहलायेगा।

ने. : लेकिन यह सही है कि शब्द वस्तु नहीं होता।

म. : नहीं होता, किन्तु वह वस्तु का पूरा प्रतिनिधित्व करता है और व्यक्ति शब्द के माध्यम से उस वस्तु का ज्ञान प्राप्त करता है, जिसे उसने कभी देखा तक नहीं है।

ने. : इसका मतलब यह हुआ कि 'शब्द' माध्यम है।

म. : बहुत बड़ा। उसके बिना समाज का संचालन नहीं हो सकता; सम्प्रेषण का कोई अर्थ नहीं होता।

ने. : यदि सम्प्रेषण या संवाद (डायलॉग) न हो, तो कोई प्रयोजन नहीं है।

म. : अनुयोगद्वार-श्रुत में कहा है कि ज्ञान पाँच हैं: मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल। इनमें चार ज्ञान तो सत्य हैं, किन्तु केवलज्ञान दूसरों के काम का नहीं है। श्रुतज्ञान के द्वारा ही सब चलता है। हमारा सारा व्यवहार उपदेश, प्रवचन यह सब श्रुत के द्वारा चलता है। वचनात्मक ज्ञान के द्वारा ही हमारा संपूर्ण व्यवहार चल रहा है। एक-का ज्ञान दूसरे-तक संप्रेषित है। केवलज्ञानी परिपूर्ण ज्ञानी है, लेकिन बोल नहीं सकता; अतः उसकी उपयोगिता क्या?

ने. : एक तो शब्द में अर्थ होता है, एक परमार्थ होता है; तो क्या इन दोनों में कोई अन्तर है?

म. : शब्द का जो अभिधार्थ, या वाच्यार्थ होता है, उसे सामान्य अर्थ कहा जाता है; किन्तु उसका जो तात्पर्यार्थ होता है, वही परमार्थ है।

ने. : धर्म का संबन्ध अर्थ से है, या परमार्थ से?

म. : अर्थ और परमार्थ शब्दगत हैं। इनका धर्म, या अधर्म से संबन्ध नहीं है। 'अधर्म' का भी परमार्थ होता है।

ने. : भाषा-विज्ञान की दृष्टि से।

म. : धर्म की दृष्टि से हम कहेंगे : स्वार्थ, पदार्थ, परमार्थ; स्वार्थ अपने लिए, परार्थ दूसरे के लिए और परमार्थ सिर्फ आत्मा के लिए, मात्र चैतन्य की अनुभूति के लिए। यह धार्मिक दृष्टिकोण है।

ने. : इस तरह हम अब 'प्रतिक्रमण' शब्द पर आ रहे हैं। प्रतिक्रमण का बहुत सरल शब्दों में अर्थ दीजिये, इस तरह कुछ कि औसतन आदमी भी उसे समझ सके।

म. : प्रतिक्रमण आत्मालोचन, या आत्मनिरीक्षण की प्रक्रिया है। व्यक्ति में प्रमाद होता है। प्रमाद के कारण वह करणीय से हट कर अकरणीय करने लगता है।

ने. : वह करणीय और अकरणीय का भेद नहीं जानता।

म. : हाँ; जब प्रमाद आता है, विवेक नहीं रह जाता, उस क्षण विवेक

ठहरता नहीं। शारीरिक कठिनाइयों के कारण भी ऐसा होता है, कुछ मानसिक और भावनात्मक कठिनाइयों के कारण भी होता है। इस तरह तीन प्रकार की समस्याएँ हैं; जिनसे अकरणीय हो जाता है। अब यदि अकरणीय हो जाए, तो उससे निपटने के लिए प्रतिक्रमण है।

ने. : व्यक्ति जो करना नहीं चाहता है, लेकिन यदि उससे वह हो जाता है, तो वह क्षम्य है।

म. : क्षम्य नहीं है।

ने. : वह करना नहीं चाहता है; उसका इरादा नहीं है।

म. : इरादा नहीं है, किन्तु प्रमाद के कारण तो इरादा बन गया है। वह सजग नहीं रहता। उसने संकल्प लिया है, किन्तु प्रमाद एक नशा है; जब वह आता है, तो न चाहते हुए भी वह उसे कर देता है।

ने. : 'प्रमाद' को तनिक स्पष्ट कीजिये।

म. : प्रमाद एक प्रकार का नशा है; शराब के नशे की तरह।

ने. : नशे में होश नहीं रहता।

म. : नशे में होश नहीं भी होता; नशे में बहुत बार 'बहुत' होश होता भी है – दोनों बातें हैं।

ने. : 'बहुत होश' होता है, तो क्या इसे हम विवेक कहेंगे?

म. : विवेक नहीं कहेंगे, पर नशे भी कई प्रकार के होते हैं। एक प्रकार का होश नहीं होता, किन्तु दूसरे प्रकार का होश उसमें अधिक सक्रिय हो जाता है।

ने. : अवचेतन (सबकॉन्शॅस) ज्यादा?

म. : अवचेतन भी सक्रिय होता है और चेतन (कानॅशॅस) भी पूरा निष्क्रिय नहीं होता।

ने. : जहाँ चेतन पूरी तरह निष्क्रिय नहीं है, क्या उस स्थिति को प्रमाद कहेंगे?

म. : ऐसा है कि चेतन मन भी पूरी तरह निष्क्रिय नहीं होता, किन्तु जिस भाग द्वारा वह संचारित होता है, वह सक्रिय नहीं होता; उसके भी खण्ड (पार्ट्स) बनते हैं, अखण्ड रूप में हम उसे देख नहीं पाते।

ने. : लेकिन इससे भी 'प्रमाद' का अर्थ स्पष्ट नहीं हुआ है।

म. : प्रमाद का वाच्यार्थ होगा, मदिरा पिये होने की अवस्था।

ने. : यह हुआ शब्दार्थ।

म. : एक मदिरा का नशा बाहर से आता है, किन्तु हमारे शरीर के भीतर भी बहुत सारे रासायनिक द्रव्य (केमिकल्स) हैं। प्रमाद के एक रासायनिक प्रक्रिया होने से यह स्थिति बनती है। हमारी चेतना एक प्रकार से मूर्च्छित हो जाती है। प्रमाद एक मूर्च्छा है जिसमें निरन्तरता होती है। इसका मतलब यह नहीं है कि पूरा नशा आ गया है – निरन्तरता बहुत अधिक है; एक प्रकार की मूर्च्छा

है, एक विशिष्ट प्रकार का आचरण है, जिसमें विवेक लुप्त हो गया है। चूंकि हम धार्मिक दृष्टि से देखते हैं; किन्तु यदि सापेक्ष दृष्टि से हम देखें, तो एक आदमी है जो क्रोध में है, प्रमाद में है, मूर्च्छा में है। प्रमाद के नाना खण्ड हैं, इसलिए जैन परम्परा में एक बहुत सुन्दर शब्द आया है : 'असंख्यातस्थान'। प्रत्येक चेतना के अनेक स्थान हैं। क्रोध के अनेक स्थान हैं; लोभ/माया, अहंकार को छोड़ दें; केवल क्रोध के ही असंख्यात स्थान हैं।

ने : 'स्थान' से हम क्या अर्थ ले रहे हैं?

म. : 'स्तर' – असंख्यातस्थान।

ने. : प्रकार या पर्याय भी कह सकते हैं।

म. : पर्याय, या इतने तार-तम्यों में– सब प्रकार के क्रोध को जोड़ें, तो वे असंख्यात होंगे।

ने. : प्रमाद को, आप प्रतिक्रमण से जोड़ रहे हैं।

म. : प्रमाद के कारण जहाँ-जहाँ स्खलन होता है, व्यक्ति अकर्मण्यता में जाता है, उसके लिए यह निर्धारण है। जब व्यक्ति जागरूक है, तब उसके लिए यह है कि जो उसने किया है उसकी वह आलोचना करे, निरीक्षण करे – फिर उसके लिए प्रायश्चित्त करे। जो भी उचित लगे, करे – यह सब इस बात पर निर्भर करेगा कि किस प्रकार का स्खलन उससे हुआ है, किस प्रकार की प्रमाद प्रवृत्ति उससे हुई है। वह उसका निरीक्षण और पर्यालोचन करे, तथा प्रायश्चित्त के जो भी प्रकार प्राप्त हों, उनका आसेवन करे। इन सारे अर्थों को अपने-आप में समाये हुए है 'प्रतिक्रमण'।

ने. : प्रायश्चित्त का अर्थ क्या लेंगे?

म. : शाब्दिक दृष्टि से 'प्रायः' का एक अर्थ होता है, अवस्था। जिस अवस्था में जो हुआ है, उसका चैतन्य-पूर्वक शोधन।

ने. : क्या 'प्रायः' का अर्थ शोधन नहीं है।

म. : एक अर्थ शोधन भी है, अवस्था अथवा मृत्यु भी है।

ने. : 'प्रायोपवेशन' शब्द आया है।

म. : हाँ; मृत्यु भी इसका एक अर्थ है।

ने. : यहाँ कौन-सा अर्थ प्रासंगिक है?

म. : अमुक प्रकार की अवस्था में अमुक प्रकार का शोधन।

ने. : प्रतिक्रमण को हम चित्तशुद्धि का उपाय कहें क्या?

म. : नहीं; चित्तशुद्धि के कई अर्थ हैं। एक है कि जो पुराने संस्कार जमे हुए हैं, उनका शोधन।

ने. : पुराने यानी रूढ़; जन्मजन्मान्तर के।

म. : जन्मजन्मान्तर के या किसी भी काल के हों, जो जमे हुए हों। प्रतिक्रमण की जो मर्यादा है वह यह है कि आज प्रमाद के कारण जो 'अकरणीय'
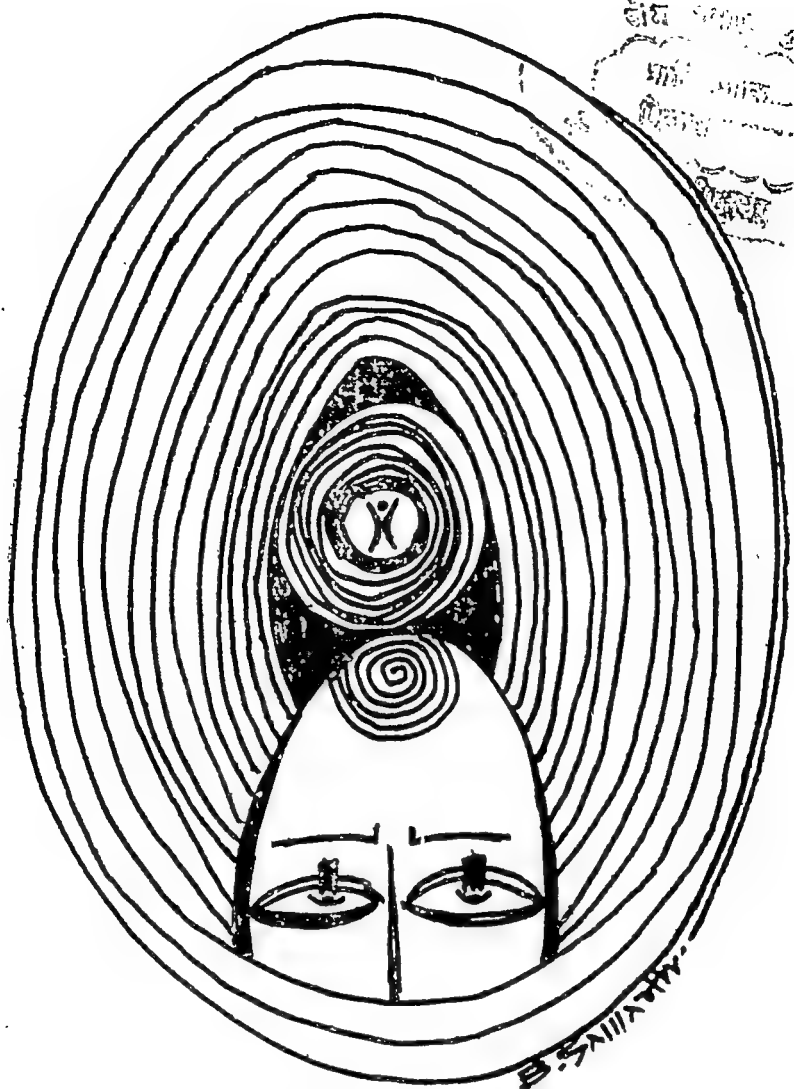
हुआ है, उसका आज ही संशोधन कर लेना, ताकि वह संस्कार बन कर ग्रन्थि न बन जाए; इसीलिए दैवासिक और रात्रिक प्रतिक्रमण हैं; यदि 'अकरणीय' दिन में हुआ हो, तो प्रतिक्रमण सायंकाल कर लेना और यदि रात्रि में हुआ हो, तो रात्रि के अन्त में कर लेना। इससे कोई भी आचरण ग्रन्थि का रूप नहीं ले सकेगा, तत्काल उसका परिमार्जन संभव हो सकेगा।

ने. : जब दैवसिक और रात्रिक प्रतिक्रमण कोई कर रहा है, तो फिर उसे पाक्षिक की क्या आवश्यकता है ?

न. : उसकी उपयोगिता है। भगवान् महावीर ने इस रूप में एक बहुत बड़ी

मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया दी है। इसे मानसिक दृष्टि से मैं एक दुर्लभ उपाय मानता है।

ने. : प्रतिक्रमण को?

म : हाँ; यह एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। कषाय के कारण यदि कोई ग्रन्थि चाहे हलकी ही बन गयी हो, तो विधि यह है कि मन में जो भी कषाय या पाप हुआ है, आहार करने से पहले उसे धो डालें, उसकी सफाई कर लें – प्रतिक्रमण कर लें। प्रतिक्रमण का कोई नियत समय तो है नहीं; जब भी आवश्यक लगे; करें।

ने. : अनियतकालिक प्रतिक्रमण भी हो सकता है।

म. : हाँ; जब भी आवश्यक लगे 'मिच्छामि दुक्कडं' – उससे क्षमा-याचना की और मैत्री का भाव प्रदर्शित किया – आहार से पहले, यानी जब तक उसका प्रतिक्रमण न हो, आहार न लें; साधु/साध्वी के लिए तो यही व्यवस्था है। किसी कारणवश कोई राग-द्वेष प्रबल था, अतः तत्काल वैसा नहीं कर सके, तो दैवसिक या रात्रिक करें; और यदि अधिक प्रबल कषाय हुई, वह रात्रि में नहीं कर सके, तो उसे कम-से-कम पाक्षिक तो अवश्य ही करना है; पन्द्रह दिनों के बाद उसका अतिक्रमण नहीं होना चाहिये।

ने. : फिर चातुर्मासिक की व्यवस्था भी है।

म. : किसी कारण कषाय का इतना प्रबल वेग रहा कि वह पाक्षिक प्रतिक्रमण भी नहीं हो सका, तो फिर चातुर्मासिक कर लें।

ने. : चातुर्मासिक तो तीन बार होगा?

म. : हाँ; और फिर चातुर्मासिक भी न कर सके, तो सांवत्सारिक करे – यह आखिरी मर्यादा है। अगर कोई साधु/साध्वी 'सांवत्सारिक' भी नहीं करता है, तो फिर उसके लिए सम्यग्दर्शन की पात्रता समाप्त हो जाती है।

ने. : अर्थात् उसमें सम्यक्त्व की पात्रता नहीं रहती।

म. : इसका मतलब यह हुआ कि उसकी जो कषायें हैं, वे अनन्तानुबन्धी हैं। जब वे अनन्तानुबन्धी हो गयीं, तो फिर वह सम्यग्दर्शन का पात्र नहीं रहता। यह मनःशोधन की बहुत महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। आधुनिक मनोविज्ञान बहुत जागरूक है ग्रन्थियों के विषय में। प्रतिक्रमण की सारी प्रक्रिया ग्रन्थि-शोधन की गहन प्रक्रिया है।

ने. : प्रतिक्रमण मन के लिए भी है। एक भ्रम हमारा बना हुआ है; परंपरा से शरीर में आत्मबुद्धि बनी हुई है। तो क्या उसके बीच कोई दरार डालने के लिए प्रतिक्रमण है? 'शरीर अलग, और आत्मा अलग' क्या इस प्रकार का कोई विशोधीकरण भी इसमें है? हमारा संपूर्ण दर्शन इस स्थापना पर खड़ा हुआ है : शरीर अलग और आत्मा अलग।

म. : प्रतिक्रमण से आगे का क़दम है कायोत्सर्ग। दस प्रकार के प्रायश्चित्त हैं; पहला आलोचना और दूसरा प्रायश्चित्त। अब प्रतिक्रमण में जहाँ-जहाँ भूलें हुईं, जहाँ-जहाँ प्रमाद हुआ है, वहाँ-वहाँ शोधन करना है। शोधन का एक प्रकार है

आलोचन – गुरु के समक्ष यथार्थ निवेदन। जैसे, रोगी मनोचिकित्सक के सामने सब बताता है; वैसे ही वह गुरु के समक्ष जो भी कुछ हुआ हो, उसे रख दे; यह आलोचना है।

ने. : आलोचना प्रत्याख्यान के बाद की प्रक्रिया है?

म. : नहीं; आलोचना प्रारंभिक प्रक्रिया है – गुरु से निवेदित करना – यह आलोचना हुई – अपनी घटना को गुरु के समक्ष कह देना – यह प्रायश्चित्त हुआ। अब इसमें आगे शोध करना है, तो प्रतिक्रमण करना है – 'मिच्छामि दुक्कडं' – यह प्रतिक्रमण है।

ने. : 'मिच्छामि दुक्कडं' पर थोड़ा-सा प्रकाश डालिये।

म. : वह इस प्रकार की अनुभूति में चला जाता है कि जो मैंने किया, वह अकरणीय था; अब मैं चाहता हूँ कि उस दुष्कृति को निष्फल कर दूँ – फलवान् न बनने दूँ। बीज बोया और फल तक पहुँच गया, तो परम्परा लम्बी चलेगी; उसे अनन्त कहा है।

ने. : यह निष्फल करने की प्रक्रिया है।

म. : उसे मैं निष्फल करता हूँ। निष्फल करने की यह जो चेतना है, वह प्रतिक्रमण है। जो कुछ हो गया है, उसे फलवान् न होने दूँ।

ने. : वह फलीभूत न हो।

म. : बीज बो दिया, लेकिन वह बीज जड़ न पकड़े, वह मजबूत न बन जाए, उसका तना मजबूत न बन जाए, वह फल न दे।

ने. : इसका मतलब यह हुआ कि यदि प्रतिक्रमण न किया जाए, तो वह जड़ पकड़ेगा।

म. : पकड़ेगा ही; ग्रन्थियाँ होती क्या हैं? मनोविज्ञान ने बहुत अच्छा पकड़ा कि ग्रन्थियाँ ही व्यक्ति को उलझाती हैं। घटना व्यक्ति को नहीं उलझाती। 'काम्प्लेक्स' ही व्यक्ति को उलझाते हैं।

ने. : 'ग्रन्थि' का 'निर्ग्रन्थ' से कोई संबन्ध है?

म. : है; जिसकी ग्रन्थियाँ खुल गयीं वही निर्ग्रन्थ हुआ। जितनी मानसिक ग्रन्थियाँ होती हैं, घटनाएँ हैं, या कषायें हैं, उन सबके हमारे मस्तिष्क में कोण बन जाते हैं। वहाँ सारा उलझता चला जाता है। उलझते-उलझते इतना उलझ जाता है कि फिर हमारे वश की बात नहीं रहती; इसलिए जिसे स्वस्थ रहना है, उसे बहुत जागरूक रहना होगा। कोई कार्य हो गया, कोई घटना घटित हो गयी, वह अपना बीज न बो जाए या फल-रूप न हो जाए – इसकी चौकसी, जागरूकता है। जब व्यक्ति इतना प्रमादी होता है कि 'हुआ-सो-हुआ', उसकी चिन्ता नहीं करता, तब ग्रन्थियाँ उसे जकड़ लेती हैं। जो जागरूक होता है, उससे भी भूल हो जाती है।

ने. : जागरूक से भी भूल संभव है?

म : वह जागरूक है कि घटना कहीं फलवान् न वन जाए। 'मिच्छामि दुक्कडं' (यह मिथ्या हो जाए) इस तरह की जागरूकता प्रतिक्रमण है।

ने. : प्रत्याख्यान और प्रतिक्रमण में क्या फ़र्क़ है?

म. : प्रत्याख्यान में साधक भविष्य के प्रति जागरूक होता है। अनागत के लिए प्रत्याख्यान, अतीत के लिए प्रतिक्रमण, और वर्तमान के लिए कायोत्सर्ग (संवर)।

ने. : अतीत, वर्तमान और भविष्य।

म. : अतीत के लिए प्रतिक्रमण, वर्तमान के लिए कायोत्सर्ग (संवर) और भविष्य के लिए प्रत्याख्यान।

ने. : वर्तमान की रेखा तो बड़ी सूक्ष्म है। संवर की रेखा ठीक-से दृष्टव्य (ऑब्जेवेबल) नहीं है।

म. : वर्तमान सूक्ष्म है, किन्तु जो कुछ है, वही है। अतीत और अनागत उसके साथ जाते हैं। अगर वह वर्तमान को नहीं पकड़ पाता है, तो प्रतिक्रमण होगा ही नहीं।

ने. : श्रमण वर्तमान की रेखा को किस तरह पकड़ता है, उसकी प्रक्रिया क्या है?

म. : ध्यान इसीलिए किया जाता है ताकि वर्तमान को पकड़ा जा सके। जिसमें वर्तमान के प्रति जागरूकता नहीं है, वह ध्यान नहीं कर सकता। ध्यान का मतलब ही है 'वर्तमान' को पकड़ लेना। जब हम स्मृति और कल्पना – इन दोनों से हट जाते हैं, तब वर्तमान पकड़ में आता है। ध्यान की सारी प्रक्रिया का मतलब है स्मृति और कल्पना से मुक्त होना।

ने. : प्रतिक्रमण भी ध्यान है?

म. : एक ही बात है।

ने. : शब्दों में थोड़ा-सा अन्तर है।

म. : यों प्रतिक्रमण भी ध्यान है और सामायिक भी; किन्तु ध्यान के कई प्रयोग बन जाते हैं।

ने. : प्रतिक्रमण एक प्रयोग है?

म. : हाँ।

ने. : सामायिक भी?

म. : हाँ।

ने. : प्रेक्षा भी?

म. : हाँ; ध्यान के सौ प्रयोग हो सकते हैं। मैं मानता हूँ कि सबके लिए एक-जैसा प्रयोग संभव नहीं है। किसी को क्रोध आता है, किसी को काम-वासना सताती है। किसे, कौन-सा प्रयोग उपयुक्त होगा, किसे कौन-सा प्रयोग प्रभावित करेगा, किस ग्रन्थि को कौन-सा प्रयोग उन्मूलित करेगा – यह विचारणीय है। हमारे शरीर में सैकड़ों चैतन्य-केन्द्र हैं।

ने. : इसका मतलब यह कि आत्मशोधन के पहले शरीर का अध्ययन ज़रूरी है।

म. : हमने तो प्रेक्षाध्यान में यही पकड़ा है कि जो शरीर को खोज़ता नहीं, वह धर्म का पता नहीं पा सकता। शरीर को जानना नितान्त आवश्यक है। साधना के क्षेत्र में यह एक वहुत वड़ी भूल हुई है कि शरीर के एक पहलू (अशौच) को लेकर हम उसकी उपेक्षा – उसे विलकुल 'इग्नोर' करते चले गये। हमने प्रेक्षा-ध्यान में सर्वाधिक महत्त्व शरीर को ही दिया है। आखिर माध्यम तो यही है, इसी से हो कर भीतर पहुँचना है। यदि इसे ही छोड़ देंगे, तो फिर वात कैसे वनेगी ?

ने. : प्रतिक्रमण को शरीर-शुद्धि से कैसे जोड़ेंगे ?

म. : प्रतिक्रमण के वाद का एक पड़ाव कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग शरीर का ममत्व छोड़ने की प्रक्रिया है। मुझे लगता है, हम कायोत्सर्ग का प्रयोग तो वहुत करते हैं, लेकिन इसकी प्रक्रिया को विलकुल नहीं जानते।

ने. : 'कायोत्सर्ग' का शब्दार्थ क्या है?

म. : 'शरीर-का-उत्सर्ग'।

ने. : उत्सर्ग यानी ममत्व-विसर्जन।

म. : इसका जो एक पद्धतिगत अर्थ है, उसे भी समझ लेना ज़रूरी है। शरीर को छोड़ें कैसे ? जव तक श्वास का संयम नहीं किया जाता, तव तक शरीर को छोड़ा नहीं जा सकता। कायोत्सर्ग का अर्थ ही श्वास-संयम है। यह प्राणायाम से जुड़ा हुआ है।

ने. : प्राण का मतलव वायु या श्वास है। तो क्या श्वास-संयम की जगह प्राणायाम शव्द काम में ले सकते हैं?

म. : ले लीजिये, कोई हर्ज़ नहीं है। अपने यहाँ इसे मन्द श्वास कहते हैं। दिगम्वर साहित्य में आचार्य जिनसेन और श्वेताम्बर आचार्यों ने भी 'मन्द श्वास' शव्द का प्रयोग किया है। मन्द श्वास का मललव है दीर्घ श्वास। हम जो प्रयोग करवाते हैं, वह 'दीर्घ श्वास प्रेक्षा' का है। मन्द श्वास सर्वोत्तम प्राणायाम है। इसका जैनाचार्यों ने वहुत प्रयोग किया है। प्रत्येक कायोत्सर्ग के साथ श्वास-प्रक्रिया चलती है।

ने. : मन्द श्वास की नाना कोटियाँ हो सकती हैं। इसकी तीव्रता का क्रम हो सकता है – मन्द, मन्दतर, मन्दतम।

म. : सामान्यतया होता यह है कि हम एक मिनिट में १५–१६ श्वास लेते हैं। जव श्वास मन्द होगा, तब संख्या दस भी हो जाएगी; चार, या एक भी हो जाएगी। एक मिनिट में एक भी हो जाएगी।

ने. : एक-मिनिट-में-एक-श्वास !

म. : हाँ, हम प्रयोग करवाते हैं।

ने. : इसका लाभ क्या होता है?

म. : यह कि श्वास जितना मन्द होता है कषाय का वेग भी उतना ही मन्द पड़ जाता है।

ने. : श्वास और कषाय का गहरा संबन्ध है?

म. : हाँ; हर प्रवृत्ति से संबन्ध है।

ने. : श्वास का, या उच्छ्वास का?

म. : दोनों जुड़े हुए हैं।

ने. : श्वास में हम संसार को भीतर ले जाते हैं, और उच्छ्वास में उसे बाहर ला पटकते हैं।

म. : यह हमारी कल्पना है। वस्तुतः हम ले जाते हैं प्राणवायु (ऑक्सीजन) और निकालते हैं कार्बन-डाय-ऑक्साइड। यह स्वाभाविक है कि ऑक्सीजन भीतर को जाता है और कार्बन-डायॉक्साइड बाहर निकल आता है। इसके साथ हम कुछ भी जोड़ दें; मन्त्र जोड़ दें कि लेते समय क्या करें, छोड़ते समय क्या करें? ये प्रयोग हैं।

ने. : ऐसा तो नहीं कि मन्द श्वास में हमें शरीर को भीतर से देखने का समय मिल जाता है?

म. : मन्द श्वास में चेतना सक्रिय हो जाती है। हमें सारी प्रवृत्तियों के सूक्ष्म निरीक्षण का मौका मिल जाता है।

ने. : श्वास के मन्दतर होने पर क्या होगा?

म. : मन की चंचलता क्रमशः कम होती जाएगी। चंचलता और श्वास-गति का बहुत गहरा संबन्ध है।

ने. : चंचलता कम होगी, तो कषाय भी कम होगी?

म. : आपोआप होगी। कायोत्सर्ग का अर्थ ही है : श्वास का मन्द होना, शरीर की क्रिया का मन्द होना – यानी प्रवृत्ति-शून्यता।

ने. : इसे निष्क्रियता नहीं कहेंगे?

म. : शरीर की प्रवृत्तियों को निष्क्रिय या मन्द कर देना कहेंगे।

ने. : शरीर को 'रिलेक्स' करना, शिथिल करना?

म. : हाँ; फिर सारे शरीर के प्रति जागरूक होना; एक-एक अवयव के प्रति जागरूक होना।

ने. : शरीर का सर्वेक्षण करना।

म. : जागरूकता शरीर के प्रति ही नहीं, भीतर कहाँ-क्या हो रहा है, कहाँ-क्या वायब्रेटेड (तरंगायित) है उसे देखना। पूरे-के-पूरे नाड़ी-संस्थान को देखना।

ने. : नाड़ी-संस्थान, माँस-पेशियाँ।

म. : सूक्ष्मता के साथ एक-एक अवयव पर ध्यान देते हुए।

ने. : इस सब को आप कायोत्सर्ग की प्रक्रिया में सम्मिलित कर रहे हैं?

म. : हाँ; जब यह होता है, तभी फिर ममत्व का विसर्जन हो सकता है।

यह सब कायोत्सर्ग की प्रक्रिया है। हमने बहुत छोटा हिस्सा पकड़ा है कि ममत्व छोड़ देना। जब तक शरीर का शिथिलाव नहीं होगा, तनाव कम नहीं होंगे, तब तक भला ममत्व कैसे छूटेगा? कायोत्सर्ग कैसे होगा?

ने.: आधुनिक शब्दावली का जो विकास हो गया है, आप उसे पारम्परिक 'कायोत्सर्ग' के साथ जोड़ना चाहते हैं?

म.: मैं तो प्रयोग करवा रहा हूँ। प्रयोग करवाने से पहले शब्दों के सारे अर्थ मैंने समझे हैं।

ने.: ग्रन्थि शब्द है। लगता है, ग्लैण्ड का पर्याय शब्द है ग्रन्थि?

म.: ग्रन्थि बहुत पुराना शब्द है।

ने.: ग्लैण्ड का पर्यायवाची नहीं?

म.: ग्रन्थियाँ सारे शरीर में होती हैं। शायद आयुर्वेद में इसे नस कहते हैं; किन्तु ग्रन्थि उसके लिए सबसे ज्यादा उपयुक्त शब्द है; जैन साहित्य में इस का उल्लेख बहुत मिलता है।

ने.: मिलता है, लेकिन आधुनिक मनोविज्ञान ने जिस अर्थ में 'ग्रन्थि' का प्रयोग किया है, उस अर्थ में, या उससे भिन्न?

म.: शायद इस प्रकार भी मिल जाए। हम राग की ग्रन्थि मानते हैं, द्वेष की भी मानते हैं। जब तक राग-द्वेष की ग्रन्थि का मोक्ष नहीं होता, तब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता। सारा ग्रन्थि-मोचन मोक्ष-की-प्रक्रिया का कारण है। ग्रन्थि-मोक्ष की प्रक्रिया क्या है? जहाँ ग्रन्थि है, वहाँ मनोविज्ञान की दृष्टि से भी देखें। सारे जैन साहित्य में 'ग्रन्थि' शब्द प्रयुक्त है; यह कोई छिपी हुई बात नहीं है।

ने.: लेकिन अभी तक इस पर बहुत विस्तार से सोचा नहीं गया है।

म.: बीच में एक अंधा युग आ गया।

ने.: कौन-सा समय रहा होगा इस अंधे युग का?

म.: पाँच-सात सौ साल पहले।

ने.: यह इसलिए पूछ रहा हूँ कि प्रतिक्रमण की प्रक्रिया के विकास का क्या हम कोई काल निर्धारित कर सकते हैं कि यह कब प्रारंभ हुई; या कहें कि यह भगवान् महावीर के युग से चली आ रही है, या प्रथम तीर्थंकर ने इसे प्रवर्तित किया?

म.: विकास हुआ है। पहले प्रतिक्रमण शब्द नहीं था। हो सकता है, 'आवश्यक' शब्द रहा हो। इसका एक भाग है 'प्रतिक्रमण'; आज मुख्य 'प्रतिक्रमण' हो गया; वैसे मुख्य हैं षडावश्यक।

ने.: क्या साधुओं और श्रावकों के षडावश्यक अलग-अलग हैं?

म.: जो साधुओं के षडावश्यक हैं; वे अंशतः श्रावकों के लिए भी हैं। छहों आवश्यक स्वतन्त्र हैं।

ने.: औसत आदमी को यदि 'आवश्यक' समझाना हो, तो कैसे समझायेंगे?
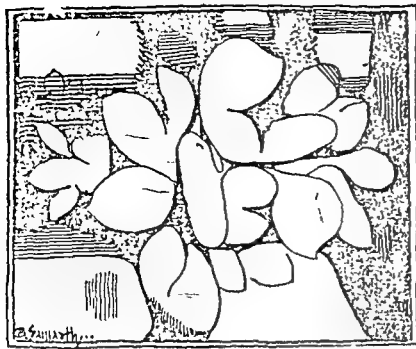
म. : जैसे वैदिकों ने 'संध्या' को 'आवश्यक' माना, वैसे ही जैनों ने 'आलोचना' को 'आवश्यक' माना।

ने. : यह कि इतना अवश्य किया जाना चाहिये।

म. : हाँ, यह आवश्यक है।

ने. : यह तो चक्रवर्ती परिभाषा हो गयी। यदि हमें 'आवश्यक' की परिभाषा करनी है और हम उसमें 'आवश्यक' शब्द का ही उपयोग करेंगे, तो वह चक्राकार परिभाषा हो जाएगी। इससे अर्थ स्पष्ट नहीं होगा। 'आवश्यक' या 'अवश्य' शब्द का उपयोग न करते हुए यदि 'आवश्यक' की परिभाषा करें, तो कैसे करेंगे?

म. : 'आवश्यक' अर्थात् 'नित्यकर्म'।

ने. : नित्यकर्म यानी ऐसे कर्तव्य जो नित्य किये जाने चाहिये।

म. : जैसे, कुल्ला करना, दातौन करना इत्यादि नित्यकर्म कहते ही स्पष्ट हो जाते हैं।

ने. : 'आवश्यक' धार्मिक नित्यकर्म कहलायेंगे?

म. : हाँ।

ने. : पहला आवश्यक कौन-सा है?

म. : सामायिक।

ने. : इसका अर्थ?

म. : यह प्रारंभ होता है, समता की साधना से।

ने. : यदि हम समत्व की साधना करेंगे, तो वह शुरू कहाँ से होगी?

म. : तैयारी के रूप में पहले कायोत्सर्ग करेंगे।

ने. : कायोत्सर्ग?

म. : सामायिक करने से पहले प्रतिक्रमण करना होता है, जिसमें दिनचर्या पर ध्यान देकर आत्मावलोकन किया जाता है; तदनन्तर कायोत्सर्ग, फिर स्तुति; इतनी तैयारी होने पर होती है समत्व-साधना।

ने. : 'स्तुति' और 'वन्दना' अलग-अलग आवश्यक हैं; दोनों में फ़र्क़ क्या है?

म. : स्तुति में स्तव किया गया है, तीर्थंकरों के साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिए। वन्दना आचार्य के साथ संवाद स्थापित करने की प्रक्रिया है।

ने. : मैंने कहीं पढ़ा था कि स्तवन का संबन्ध समुदाय से है और वन्दना का व्यक्ति से। मैं नहीं जानता कि इनमें क्या अन्तर है?

म. : इसका मूल भाव है – 'चउवीसत्थवं' – चौवीस तीर्थंकरों का स्तवन। सामान्य अर्थ में किसी का भी स्तवन हो सकता है। इस प्रथम 'आवश्यक' (चउवी-

सत्थवं) में २४ तीर्थंकरों का स्तवन है; तीर्थंकरों के साथ एकात्मता की अनुभूति का प्रयास।

ने. : तादात्म्य का प्रयत्न।

म. : वन्दना आचार्य के साथ कैसे व्यवहार करना, या कोई अकरणीय हुआ हो, किसी मर्यादा का अतिक्रमण हुआ हो, तो उसकी 'आलोचना' करना; यह 'वन्दन' आवश्यक है।

ने. : इसके बाद?

म. : सामायिक चउवीसत्थव, वन्दन, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, और कायोत्सर्ग।

ने. : ये छह आवश्यक हैं। इन्हें श्रमण करता है और श्रावक भी। इन दोनों के करने में क्या फ़र्क़ है?

म. : फ़र्क़ है, उनके स्वीकृत प्रकार में। श्रमण करता है महाव्रतों की सिद्धि के लिए; और श्रावक करता है द्वादश व्रतों की सिद्धि के लिए। इसमें विधि का अन्तर भी आ जाएगा।

ने. : 'वोसिरामि' शब्द काम में आता है, प्रायः मैं 'प्रतिक्रमण' में इसे सुनता हूँ; इस पर थोड़ा प्रकाश डालिये।

म. : इसका अर्थ है: संवन्ध-विच्छेद।

ने. : क्या भेद-विज्ञान से इसका कोई संबन्ध है?

म. : भेद-विज्ञान से मतलब केवल शरीर और आत्मा के पार्थक्य-बोध से ही नहीं हैं वरन् भेद-मात्र से है; जैसे — कोई अखाद्य वस्तु है, कोई जीवयुक्त चीज है, उसको भी यदि विच्छिन्न करेंगे, छोड़ेंगे; तो 'वोसिरामि' — इससे मेरा कोई संवन्ध नहीं है, कहेंगे। वस्तुतः जिससे भी संवन्ध-विच्छेद करना होता है, उसके लिए उस समय इसका प्रयोग करते हैं।

ने. : चाहे वह फिर शरीर और आत्मा हो, चाहे कोई अन्य वस्तु हो। एक शब्द आता है 'शक्रस्तव'।

म. : जो 'नमोत्थुणं' पाठ है, 'शक्रस्तव' उसी का अपर नाम है।

ने. : शक्र यानी इन्द्र। इसे किस तरह जोड़ेंगे प्रतिक्रमण की प्रक्रिया से?

म. : इसे इन्द्र के साथ भी जोड़ा गया है। जब तीर्थंकर का जन्म होता है, तब इन्द्र स्तुति करता है, स्नान कराता है, अभिषेक करता है। उस समय वह जो स्तुति करता है, उसे शक्रस्तव कहा गया है।

ने. : इन्द्र-की-स्तुति से हमारा क्या संवन्ध हुआ?

म. : यह परम्परागत है।

ने. : क्या यह उपयोगी है?

म. : उपयोगी शायद नहीं भी हो, लेकिन परम्परा है; बहुत सारी पौराणिकताएँ इसके साथ निबद्ध हैं।

ने. : जब प्रतिक्रमण की प्रक्रिया इतनी मनोवैज्ञानिक है, तब इसमें पौराणिकता के लिए स्थान कैसा?

म. : प्रतिक्रमण में 'शक्रस्तव' नहीं है, वहाँ 'नमोत्थुणं' है। बाद को यह नाम भी प्रचलित हो गया। जो पुराण-युग आया, उसका प्रभाव जैनों पर भी पड़ा है जैनों ने भी अपनी बहुत-सी बातें पौराणिकता से जोड़ ली हैं।

ने. : कायोत्सर्ग के संबन्ध में एक शब्द और पढ़ने को मिला, 'निःशल्यीकरण'; इस पर भी थोड़ा प्रकाश डालिये।

म. : यह एक संपूर्ण प्रक्रिया है। जब कायोत्सर्ग करना होता है तब, पहले कहा जाता है – तस्य उत्तरीकरणं।

ने. : यह 'उत्तरीकरण' क्या है?

म. : पहला है 'उत्तरीकरण'; दूसरा है 'पायच्छित्तकरण'; तीसरा है, 'विसोहीकरण'; चौथा है, 'विसल्लीकरण'; और पाँचवाँ है, 'पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए'। उद्दिष्ट यानी इन पाँचों के लिए मैं कायोत्सर्ग करता हूँ। ये सब कायोत्सर्ग का स्वरूप बताते हैं।

ने. : 'उत्तरीकरण' क्या है?

म. : इसका अर्थ है, जो पूर्व में था उसका परिष्कार।

ने. : क्या इसे परिमार्जन कहेंगे?

म. : पहले जो चित्त की विशुद्ध धारा चल रही थी, उसमें व्यवधान आ गया; अब उसका 'उत्तरीकरण' करता हूँ।

ने. : पूरी तरह स्पष्ट नहीं हुआ।

म. : 'उत्तरीकरण' एक प्रक्रिया है। 'उत्तर रामचरित' को लें; वह उत्तरवर्ती खण्ड है। जब पहले से बात पूरी नहीं होती, बच रहती है, तो उत्तरांश लिखा जाता है, तब वह पूरी होती है।

ने. : जैसे बी. ए. के बाद एम. ए.?

म. : शेष; बच गया; उसे देना। पहले मूल ग्रन्थ तैयार हो गया, जो बात बची, उसे फिर से जोड़ दिया। यह उत्तरी करण हो गया।

ने. : यह तो शब्द हो गया; उसकी प्रक्रिया क्या है?

म. : यह जो कायोत्सर्ग है, उसका एक कार्य है उत्तरीकरण, यानी बीच में जो व्यवधान आ गया, उसे निरस्त कर मूल से संबन्ध स्थापित करना।

ने. : दूसरे का अर्थ क्या हुआ?

म. : 'पायच्छित्तकरण', जो अशुद्धि आ गयी है, उसे मिटा कर चित्त को पुनः निर्मल बनाना।

ने. : क्या इसे निर्मलीकरण कहें?

म. : कहिये।

ने. : उसके बाद?

ने. : सजा भी 'निर्मलीकरण' की दी जाती थी।

म. : कायोत्सर्ग आत्मशोधन की प्रक्रिया है। इसका इतना महत्त्व था कि एक मुनि अपने स्थान से यदि बाहर चला गया; सौ क़दम अतिक्रम कर गया, और फिर भीतर आया; तो उसे आठ श्वासोच्छ्वासों का कायोत्सर्ग, या पच्चीस श्वासोच्छ्वासों का कायोत्सर्ग, या सत्ताईस श्वासोच्छ्वासों का कायोत्सर्ग करना होता था।

ने. : बड़ा रोमांचक है!

म. : यह सारी-की-सारी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया थी; अर्थात् जो भी प्रवृत्ति हो, उसमें सक्रियता-के-वाद निष्क्रियता द्वारा सन्तुलन बन जाए। कहीं कोई असन्तुलन शेष न रहे।

ने. : विराधना के बाद आराधना?

म. : हाँ; आराधना के साथ शरीर को निष्क्रिय बनाओ। जैन साहित्य में शरीर की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। वहाँ कायोत्सर्ग को काफी महत्त्व दिया गया है। मैं मानता हूँ कि प्रेक्षाध्यान की सारी-की-सारी प्रक्रिया कायोत्सर्ग की प्रक्रिया है। यह उसी का विकास है।

ने. : 'निःशल्यीकरण' के बाद आपने कुछ और भी बताया था।

म. : 'पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठायं'—जो मैंने पापकर्म किये हैं, उनके निराकरण के लिए कायोत्सर्ग। हम ने आज कायोत्सर्ग को रूढ़ बना लिया है; नितान्त जड़। हम जानते नहीं हैं कि इसे कैसे करें; जैसे—चार लोगस्स का कायोत्सर्ग।

ने. : 'लोगस्स' क्या है?

म. : श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों ने प्राचीन भाषाओं का प्रयोग किया है। चार 'लोगस्स' का मतलब है सौ श्वासोच्छ्वासों का कायोत्सर्ग, यानी एक 'लोगस्स' में पच्चीस श्वासोच्छ्वास होंगे। इस क्रम से चलना होता है।

ने. : इसका मतलब यह हुआ कि इस प्रक्रिया में श्वास-संयम पर पूरा ध्यान दिया गया है।

म. : श्वास-संयम और शरीर-संयम। इस प्रक्रिया को हमने भुला दिया। वहुत सारे लोग हमारे पास आते हैं कि कायोत्सर्ग-जैसी प्रक्रिया हमने संसार-भर में नहीं देखी। अब्दुल मुस्तफा आया था। कितना खोजी आदमी? वह संसार-भर में घूमा; उसने वहुत खोज की। खोजता-खोजता वह हमारे पास आया। हम एक छोटे गाँव में थे। कोई रेल नहीं, गाड़ी नहीं, वहाँ वह पहुँचा। वह लगभग चार सप्ताह हमारे साथ रहा। उसने सारी प्रक्रियाएँ सीखीं। उसने कहा : मैं सारी दुनिया में घूम आया, सूफियों से भी मिला; सव जगह छान मारी, लेकिन कायोत्सर्ग-जैसी महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया मैंने कहीं नहीं देखी, वह दो-तीन बार आया; वह काफी प्रभावित हुआ।

ने. : आप प्रतिक्रमण को रूढ़ियों से ऊपर लाना चाहते हैं। क्या आप चाहते हैं कि प्रतिक्रमण को सांगोपांग वदल दिया जाए, या कहीं-कहीं, वीच-वीच में? मौलिक रूप तो शायद वदला नहीं जा सकता। वह है ही; फिर भी किस तरह वदलना चाहते हैं?

म. : वदलना नहीं चाहते; जो धूल जम गयी है, उसे हटाना चाहते हैं। मूल में यह पवित्र और प्रभावी है ही।

ने. : किस तरह की धूल जम गयी है?

म. : विस्मृति की।

ने. : प्रतिक्रमण तो होता है।

म. : किन्तु उसकी प्रक्रिया विस्मृत हो गयी है। जैसे, श्वास रहेगी, लेकिन श्वास कैसे लेना इस पर भी विचार कर लेना होगा। प्रतिक्रमण की जो मूल विधि थी कि उसे कैसे करें, उसकी जो आत्मा थी, वह आज विस्मृत हो गयी है।

ने. : प्रतिक्रमण की विधि क्या है ?

म. : प्रतिक्रमण दो प्रकार का है: भाव और द्रव्य। भाव प्रतिक्रमण करते समय शब्द और अर्थ का तादात्म्य होता है। प्रतिक्रमण करने वाला निरन्तर उसके प्रति उपयुक्त तादात्म्य स्थापित करता है; वह विधिसम्मत है। जिस प्रतिक्रमण में कोरे शब्दों का उच्चारण हो रहा है, मन चक्कर लगा रहा है, इधर-उधर दौड़ रहा है, वह द्रव्य प्रतिक्रमण है।

ने. : प्रतिक्रमण में क्या समय की कोई बाध्यता नहीं है ?

म. : है।

ने. : क्या वह उपयोगी है ?

म. : जो कार्य समयबद्ध नहीं होता है, उसमें कई महत्त्वपूर्ण मुद्दे छूट जाते हैं।

ने. : यदि मन की चंचलता बनी रहे और समय हो तो वह कोई मतलब नहीं रखता।

म. : चंचलता तो समय और अ-समय दोनों में रहेगी; किन्तु मूल बात यह है कि यदि समय निश्चित है, तो काम हो जाएगा; और यदि समय निश्चित नहीं है, तो कोई बात करने वाला यदि आ गया, तो 'गैप' आ सकता है, प्रमाद हो सकता है।

ने. : प्रश्न शायद अनुशासन का है।

म. : समय का निर्धारण आवश्यक है। अड़तालीस मिनिटों में प्रतिक्रमण करना है, चाहे फिर कैसा भी महत्त्वपूर्ण कार्य आ जाए। जहाँ भी समय-बद्धता है, काम बहुधा ठीक होता है। यह अपरिहार्य है।

ने : स्थान की कोई प्रतिबद्धता है ?

म. : हो तो बहुत अच्छी बात है, पर यह प्रायः संभव नहीं हो पाता; क्योंकि स्थान निश्चित नहीं होता है।

ने. : स्थान कैसा हो ? क्या प्रतिक्रमण किसी भी स्थान पर/में संभव है ?

म. : अच्छा स्थान होना चाहिये, ताकि मानसिक स्थिरता बने। 'अच्छे' का मतलब मानसिक स्थिरता में सहायक।

ने. : और पात्रता; अधिकारी कौन होगा प्रतिक्रमण का ?

म. : अधिकारी वही होगा, जो 'अनधिकारी' हो गया।

ने. : किसका अनधिकारी ? इसे समझने में बड़ा ज़ोर पड़ता है।

म. : ज़ोर नहीं, बहुत सीधी बात है। जो अपने को अनधिकारी बनाता है, अपने कर्तव्य पर ठीक चल रहा है, उसे प्रतिक्रमण की जरूरत ही नहीं होगी।

ने. : अतिक्रमणों के इस विषम वातावरण में आपने प्रतिक्रमण पर जो मौलिक और प्रेरक विचार दिये; उसके प्रति कृतज्ञतापूर्वक प्रणाम ! □□

आचार्य हरिभद्रसूरि ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जीव प्रमादवश स्वस्थान (शुभयोग) से च्युत होकर पर-स्थान (अशुभयोग) को प्राप्त करता है। अशुभ से पुनः शुभ योग की ओर लौटना प्रतिक्रमण कहलाता है:

स्वस्थानाद् यत्परस्थानं, प्रमादस्य वशाद्गतः।
तत्रैव क्रमणं भूयः प्रतिक्रमणमुच्यते॥

-आवश्यक हारिभद्रया वृत्ति

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने योगशास्त्र में इसी परिभाषा का समर्थन किया है।

प्रतिक्रमण में अशुभ भावों एवं प्रवृत्तियों का त्याग आवश्यक है। उन समस्त दुष्कृतों से आत्मा का सम्बन्ध न रहे, भविष्य में उन भूलों को न दुहराया जाए इसलिए उन दुष्कृतों को मिथ्या कहा गया है, माना गया है। वे मिथ्या इस अर्थ में नहीं हैं कि उन्हें किया ही नहीं गया है, अथवा उनके पाप-कर्मो का आत्मा भागी नहीं होगा, अपितु मिथ्या वे इस अर्थ में हैं कि वे आत्मा के स्वभाव नहीं हैं, विभाव हैं। वे जीवन के सही मार्ग नहीं हैं, भूल से उन पर गमन कर दिया गया था; अतः वे साधक के लिए मिथ्या दिशाएँ हैं। वहाँ से लौटने का संकल्प 'प्रतिक्रमण' है। उन्हें दोष-रूप मानना, अ-यथार्थ मानना, अशुभ मानना प्रतिक्रमण है। इस भावना के कारण प्रतिक्रमण की एक दूसरी परिभाषा भी प्रचलित हुई कि असंयम एवं प्रमाद से जो कुछ भी मेरी स्खलना हुई है वह मिथ्या हो—**जं किंचि मिच्छा** (स्थानांग ६. १०५)। **मिच्छा मि दुक्कडं** (मेरे दुष्कृत मिथ्या हों) इसी का रूपान्तर है। 'सर्वार्थसिद्धि' एवं 'तत्त्वार्थराजवार्तिक' में भी यही कहा गया है कि कर्म के वश प्रमाद के उदय से जो मेरे द्वारा दुष्कृत्य हुआ है, वह मिथ्या हो, इस प्रकार के प्रतिकार को प्रकट करना प्रतिक्रमण है:

मिथ्या दुष्कृताभिधानादभिव्यक्तप्रतिक्रिया प्रतिक्रमणम्।

धवला टीका में कहा गया है कि पाँच प्रकार के महाव्रतों में उत्पन्न हुए मल (अशुद्धि) को धोने का नाम प्रतिक्रमण है—**पंचमहव्वएसु, कलंक-पक्खालणं पडिक्कमणं णाम**। यह कलंक-प्रक्षालन कैसे हो, इसके लिए जैनाचार्यों ने 'प्रायश्चित्त' को प्रमुख साधन माना है; अतः 'नियमसार' के वृत्तिकार ने कहा है कि 'अतीत के दोषों के लिए जो प्रायश्चित्त किया जाता है वह प्रतिक्रमण है'; किन्तु प्रतिक्रमण एवं प्रायश्चित्त में स्पष्ट अन्तर है। 'प्रायश्चित्त' तप है, जबकि 'प्रतिक्रमण' उस ओर जाने का प्रयत्न है। यह प्रयत्न कई माध्यमों से किया जाता रहा है। प्रतिक्रमण-साधना के कई रूप हैं। व्यवहार में जैसे विभिन्न साधनों से विभिन्न अवसरों पर आत्मा स्वभाव-से-विभाव-में प्रवृत्त होता है, वैसे ही विभाव-से-स्वभाव-में लौटने के उपायों में भी विविधताएँ हैं। कुमार्ग में जाना सरल है; किन्तु वहाँ से सन्मार्ग में लौटना कठिन है। यह वही मृगजल और दलदल का रास्ता है; अतः आचार्यों ने प्रतिक्रमण में सन्निहित विभिन्न क्रियाओं को उनके पर्यायवाची शब्दों द्वारा अभिव्यक्त किया है।

यतिवृषभाचार्यकृत 'तिलोयपण्णत्ति' में प्रतिक्रमण के आठ पर्याय शब्द दिये हैं :—

पडिक्कमणं पडिसरणं पडिहरणं धारणा णियत्ति य।
णिंदणगरुहणसोही लब्भंति णियादभावणए ॥

(१) प्रतिक्रमण =आत्मशुद्धि के क्षेत्र में लौटना।
(२) प्रतिसरण =संयम-साधना में अग्रसर होना।
(३) प्रतिहरण =अशुभ योगों का त्याग करना।
(४) धारणा =शुभ भावनाओं को धारण करना।
(५) निवृत्ति =अशुभ भावों से निवृत्त होना।
(६) निन्दा =अपने पापों की निन्दा करना।
(७) गर्हा =गुरुजनों के समक्ष अपने पापों को प्रकट करना।
(८) शुद्धि =व्रतों में आये दोषों की शुद्धि करना।

प्रतिक्रमण के इन पर्याय शब्दों में उसके निषेधात्मक एवं विधेयात्मक दोनों स्वरूप समाये हुए हैं। 'आवश्यक-निर्युक्ति' में भी इन आठ पर्यायों का उल्लेख है। उसमें 'प्रतिसरण' के स्थान पर 'प्रतिचरण' और 'धारणा' के स्थान पर 'वारणा' शब्द का प्रयोग हुआ है। पाठान्तर भी यह हो सकता है। मूलभावना में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता है। निर्युक्तिकार ने प्रतिक्रमण को स्पष्ट करते हुए निर्देश किया है कि व्रतों में असावधानी होने पर, दैनिक साधना में प्रमाद होने पर, तत्त्वों के प्रति अश्रद्धा होने पर तथा अहिंसा के प्रतिकूल कथन होने पर प्रतिक्रमण किया जाना चाहिये (गा. १२६८)।

'प्रतिक्रमण' का अर्थ केवल असद् वृत्तियों से मुख मोड़ लेना, या उनकी निन्दा कर देना मात्र नहीं है, अपितु सद्वृत्तियों में प्रवृत्त होने में ही प्रतिक्रमण की सार्थकता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने 'नियमसार' में स्पष्ट कथन किया है कि रागादिभावों को छोड़ कर आत्मा को ध्याना, विराधना को छोड़ कर आराधना में लगना, अनाचार को त्याग कर आचार में, उन्मार्ग को छोड़ कर जिनमार्ग में, शल्य को छोड़ कर निःशल्य भाव में, अगुप्ति से त्रिगुप्ति में प्रवृत्ति; आर्त-रौद्र ध्यान से धर्म, या शुक्ल ध्यान में लगना, मिथ्या-दर्शन, ज्ञान, चारित्र से सम्यक् दर्शन आदि की भावना करना प्रतिक्रमण है (गा. ८३-९१)। अन्त में उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि उत्तम अर्थ की प्राप्ति में लगे हुए साधक के लिए ध्यान ही प्रतिक्रमण है :

झाणणिलीणो साहू परिचागं कुणइ सव्वदोसाणं।
तम्हा दुझाणमेव हि सव्वदिचारस्स पडिकमणं ॥

'नियमसार' के इस प्रसंग से यह भी ज्ञात होता है कि प्रतिक्रमण नामक सूत्र में प्रतिक्रमण का विस्तार से वर्णन है, जिसे संक्षेप में ग्रन्थकार ने यहाँ प्रस्तुत किया है। इस उल्लेख से प्रतिक्रमण का जैन साधना के साथ बहुत प्राचीन सम्बन्ध स्थापित होता है। जिस प्रकार श्रमणों के लिए प्रतिक्रमण आवश्यक है, उसी प्रकार श्रावकों के लिए भी प्रतिक्रमण का विधान है। दोनों के क्षेत्र भिन्न होने से तथा

साधना में अन्तर होने से प्रतिक्रमण की प्रक्रिया और अवधि में थोड़ा अन्तर है। मुनि जब प्रतिक्रमण के लिए अपने दोषों की ओर दृष्टिपात करता है, तब उसकी दृष्टि सूक्ष्म और महाव्रतों की सीमा से मर्यादित होती है; किन्तु श्रावक के प्रतिक्रमण में अणुव्रतों को सामने रख कर दोषालोचन किया जाता है; फिर भी अहिंसा, तत्त्व-श्रद्धान, आत्मतत्त्व एवं सर्वजीव-समभाव की साधना का ध्येय दोनों के समक्ष होता है। सामायिक की परिपूर्ण साधना के लिए प्रतिक्रमण किया जाना श्रेयस्कर है।

सामायिक और प्रतिक्रमण जैन दर्शन के एवं जैन आचार-शास्त्र के दो मूल आधार हैं। षडावश्यकों में इन दोनों का प्रमुख स्थान है; किन्तु केवल शाब्दिक प्रतिक्रमण दुहराने से सामायिक की दशा तक नहीं पहुँचा जा सकता है; भाव-प्रतिक्रमण का होना आवश्यक है। इसी से उन दोषों से छुटकारा मिल सकता है, जिनके लिए प्रतिक्रमण किया गया है। जब तक आत्मा के स्वभाव से साधक परिचित न हो और विभाव की व्यर्थता का उसे अनुभव न हो तब तक वह सही ढंग से न तो प्रतिक्रमण कर सकता है और न ही सामायिक में स्थिर हो सकता है। इसे एक प्राचीन दृष्टान्त द्वारा समझा जा सकता है।

किसी एक बस्ती में कुछ परिवार रहते हैं। उनके मकान के सामने एक मैदान में रेत-के-ढेर पड़े हैं। बच्चे दिन-भर रेत के इन ढेरों पर खेलते रहते हैं। वे उस रेत में अपनी-अपनी सीमा निश्चित कर लेते हैं। लकीरें खींच देते हैं। उस सीमा में वे अपना पाँव रेत के भीतर डाल कर अपने-अपने घरौंदे बनाते हैं। रेत के इन घरों को वे बड़े चाव से सजाते हैं। एक-दूसरे को वे अपने घर दिखाते हैं। कोई बच्चा उस घर को छू न ले, तोड़ न दे इसके निमित्त बड़ी सावधानी बरतते हैं। जरूरत पड़े तो उस घर को बचाने के लिए परस्पर में वे बच्चे मरने-मारने को भी तैयार हो जाते हैं; किन्तु साँझ ढलते ही माताएँ उन्हें यह कहते हुए वापस घर बुला लेती हैं कि 'बच्चो! अब घर लौट आओ। बहुत हो गया खेल।' रेत-पर-खेलते बच्चे जब यह आवाज सुनते हैं तब वे अपने-अपने घरों की ओर दौड़ पड़ते हैं। वापस लौटते हुए वे अपने उन घरौंदों को स्वयं लात मार कर तोड़ देते हैं; जिन्हें कभी उन्होंने बड़ी तन्मयता और आत्मीयता से सजाया-सँवारा था। अपने असली घर की पहिचान होते-होते बच्चों के घरौंदे एक दिन उनसे स्वयं छूट जाते हैं।

लोक-व्यापक इस दृष्टान्त में सामायिक एवं प्रतिक्रमण का स्वरूप छिपा हुआ है। बच्चों का रेत पर खेलना और घरौंदे बनाना इस संसार की लौकिक क्रियाओं को उन्हें अपना मान कर शाश्वत मान कर रमना है। यह विभाव है, रागादि भावों का विस्तार है, प्रमादवश किये गये दोषों की परिणति है; किन्तु रेत-के-घरौंदों को तोड़ कर अपने असली घर की ओर वापस आना प्रतिक्रमण है; 'प्रतिक्रमण' की क्रिया है। यह क्रिया जितनी भावनात्मक होगी, जग से विरक्ति उतनी ही सघन

(शेष पृष्ठ १९२ पर)

वि. : गति नहीं; वैसे गति तो ऊर्ध्वग भी होती है, लेकिन उसमें क्रम छूट जाता है।

ने. : ऊर्ध्वगता में आचरण काम देता है।

वि. : आक्रमण में भी क्रम आवश्यक होता है, लौटने में भी क्रम आवश्यक होता है, और जहाँ क्रम न रहे, वहाँ अतिक्रमण है।

ने. : क्रम न रहे; यानी पैर न रहे?

वि. : क्योंकि पैर होने की वजह से ही तो वह आक्रमण करता है।

ने. : जब शब्द कम हो जाते हैं, तब अर्थ तनिक गंभीर हो जाता है।

वि. : है ही; अर्थ प्रायः गंभीर ही रहता है।

ने. : जब शब्द कम होते हैं, तो विपत्ति आ जाती है।

वि. : विपत्ति इसलिए कि अर्थ के साथ तनिक गहरे जाने की समस्या सदैव है।

ने. : मैं निवेदन करूँगा कि थोड़ी शब्द-संख्या बढ़ा दीजिये, ताकि अर्थ अपने पाँव पसार सके। (हँसी)।

वि. : अर्थ-का-अर्थ ही अपने आप में यह है कि **ज्ञायते ज्ञानेन इति अर्थ** – अर्थ वह है जो ज्ञान का विषय बने।

ने. : आपने अभी कहा है कि क्रम यानी पाँव फिर यह ज्ञान का विषय कैसे हुआ?

वि. : क्रम के टूटने पर।

ने. : क्रम को तोड़ें कैसे?

वि. : दोषों का निवारण ही प्रतिक्रम है।

ने. : दोष क्या है?

वि. : होश का अभाव।

ने. : जैसे–

वि. : जैसे, ज्ञान; प्रति समय हम कुछ-न-कुछ आकलित ही करते हैं। समझने के लिए जो सहजता चाहिये, हम प्रायः उससे दूर हट जाते हैं।

ने. : सहजता से फासला बन जाता है।

वि. : परिणाम यह होता है कि जब फासला बढ़ जाता है, तब हम उससे बहुत दूर चले जाते हैं; तथा और-और काम करने लगते हैं। महसूस भी होता है कि हम कुछ ग़लत कर रहे हैं। आक्रामक समझता है कि वह आक्रमण कर रहा है, लेकिन जब उसकी समझ, या ज्ञान सघन होता है, तब वह रुक जाता है और लौटना प्रारंभ कर देता है। लौटते समय पैर बहुत मंद चलते हैं। जैसे, मेले में हम जाते हैं, जब तक पास में पैसा रहता है, तब तक खूब उत्साह के साथ चलते हैं; लेकिन जब पैसा समाप्त हो जाता है, तब धीरे-धीरे घर लौट आते हैं।

ने. : सुनते हैं कि जब आदमी घर लौटता है, तब उसके पाँव अधिक तेज पड़ते हैं।

वि. : नहीं; वह तो पुनः उस ओर जाने की तैयारी के लिए आता है, इसलिए तेजी से आता है; लेकिन जिसे आ कर जाना ही नहीं है, वह बहुत आहिस्ता-आहिस्ता ही आता है।

ने. : मतलब, जिसका लक्ष्य ही अभी निर्धारित नहीं है, उसकी गति का कोई प्रश्न ही नहीं है।

वि. : हाँ; लौटते समय उसे नियम से अपने किये हुए के प्रति घृणा होने लगती है।

ने. : यह 'घृणा' होना, किस घटना की शुरूआत है।

वि. : ज्ञान की।

ने. : यदि ज्ञान की शुरूआत है, तो फिर लक्ष्य स्पष्ट हुआ है।

वि. : लेकिन जब वह आ रहा है, तब उसके प्रति घृणा-ही-घृणा बनी रहेगी; किन्तु जब आना बन्द हो जाएगा, तब वह रुक जाएगी।

ने. : 'घृणा' होती है, या 'ग्लानि'?

वि. : 'घृणा' और 'ग्लानि'। 'घृणा' का अर्थ 'दया' भी है; लेकिन वह यहाँ नहीं है।

ने. : आत्मग्लानि शायद कल्याणकारी हो सकती है?

वि. : आत्मग्लानि नहीं; आत्मा ने जो किया था, उसके प्रति ग्लानि।

ने. : यह हितकारक हो सकती है।

वि. : हितकारक भी है।

ने. : प्रतिक्रमण और इसका क्या संबन्ध हुआ?

वि. : यही कि मैंने जो आक्रमण किया था, वह ग़लत था।

ने. : वैसा अनुभव?

वि. : हाँ।

ने. : और अनुभव के बाद?

वि. : अनुभव के बाद 'भव'।

ने. : भव से बचने के लिए।

वि. : नहीं; भव का अर्थ आप क्या समझ रहे हैं (हँसी)। यहाँ भव का अर्थ संसार नहीं है। जो हुआ था, उसका अनुभव हुआ; अनुभव के उपरान्त उसका त्याग होता है। 'भव' अर्थात् 'होना'; और 'होना' हमारा 'स्वभाव' है।

ने. : अस्तित्व यानी सत्ता हमारा स्वभाव है; तो क्या मानें कि प्रतिक्रमण यानी सत्ता में लौटना है?

वि. : लौटने का नाम ही प्रतिक्रमण है।

ने. : कहाँ लौटने का?

वि. : जिधर गया था, उससे विपरीत आने का।

ने. : किसके प्रति?

वि. : पूर्व में था, उसके प्रति।

ने. : पूर्व में क्या था?

वि. : पूर्व में न आक्रमण था, न क्रम।

ने. : जो लौट रहा है, उसका गन्तव्य क्या है?

वि. : अभी उसका गन्तव्य गलत है। गन्तव्य है ही नहीं असल में उसके पास।

ने. : अगर गन्तव्य उसका संस्कारित हो, सही हो, तो ऐसा होने पर उसका गन्तव्य क्या होगा।

वि : 'स्व'।

ने. : अब हम स्थिति बदलते हैं। हम ऐसे साधक की तलाश में हैं, जिसने प्रतिक्रमण के बाद अपना गन्तव्य स्पष्ट कर लिया है। यह गन्तव्य क्या होगा, इस पर हमें तनिक सोचना चाहिये।

वि. : जब तक गति है, तब तक क्रिया है, तब तक कर्म है। जो इन सबका एक सामूहिक कार्य है, अंत:संबन्ध है। प्रतिक्रमण में 'क्रमण' एक क्रिया है। आक्रमण को छोड़ना और 'प्रति' को विराम देना, सम्यक् प्रतिक्रमण है।

ने. : जब साधक इस स्थिति में आ जाए, तब उसका गन्तव्य क्या होगा?

वि. : ऊर्ध्व। तब उसकी अधोगति संभव नहीं है।

ने. : यानी वह अधोगति से बच जाएगा।

वि. : इसीलिए आक्रमण होता है और इसीलिए प्रतिक्रमण। ऊर्ध्व के लिए प्रतिक्रमण नहीं है। ऊर्ध्वग होने के बाद वह नीचे नहीं आयेगा।

ने. : वह तो ऊपर जाएगा। इस ऊर्ध्वगता का लाभ क्या है?

वि. : स्वभाव है। जाता नहीं है, वह स्वभाव है।

ने. : तो प्रतिक्रमण यानी वह जिसका गन्तव्य 'स्वभाव' है।

वि. : स्वभाव है। जब प्रतिक्रमण में गति होगी, तब वह ऊपर को उठता जाएगा।

ने. : निरन्तर उठता जाएगा।

वि. : ऊपर उठना उसका स्वभाव है।

ने. : यह तो आपने प्रतिक्रमण को परिभाषित किया। जब साधु प्रतिक्रमण में बैठता है; (आप तो स्वयं योगी हैं, है मुश्किल तथापि आप शब्द दें) प्रतिक्रमण में जब व्यक्ति होता है, तो उसे क्या अनुभव होता है; कैसा अनुभव होता है? क्या उसकी तत्क्षणवर्ती अनुभूति को शब्द देना संभव है?

वि. : नहीं; ऐसा है न; प्रतिक्रमण कब होता है, इसे पहले निश्चित करें, फिर मालूम पड़ जाएगा।

ने. : आपने कहा न कि दोषों का बोध हो जाएगा।

वि. : बस; दो ही कार्य हो रहे हैं; होश थोड़ा रहा है, मूर्च्छा आ रही है; और आक्रमण हो रहा है।

ने. : ऐसे में मूर्च्छा से बचना चाहिये और दोषों का बोध होना चाहिये।

वि. : बोध नहीं; निराकरण।

ने. : यदि बोध नहीं होगा, तो निराकरण कैसे होगा?

वि. : बोध तो होगा; बोध सब को है। चोर को भी चोरी का बोध होता है; लेकिन वह प्रतिक्रमण नहीं करता।

ने. : अगर चोर को चोरी का बोध हो, तो शायद वह चोरी न करे।

वि. : लेकिन करता है; वह प्रतिक्रमण नहीं कर रहा है। चोरी कर रहा है, इसलिए ही आक्रमण कर रहा है।

ने. : जब वह यह सोच रहा है कि उसे चोरी नहीं करनी थी, तो क्या वह प्रतिक्रमण की प्रक्रिया में है?

वि. : नहीं, नहीं; चोरी करने का संकल्प अलग बात है और जो किया है उसका · · ·

ने. : · · · उसका प्रत्याख्यान अलग बात है।

वि. : हाँ।

ने. : यदि वह चोरी न करने का संकल्प करे, तो वह प्रत्याख्यान है।

वि. : लेकिन वह जो कर चुका है, उसका क्या होगा?

ने. : उसी के लिए प्रतिक्रमण है। जो 'कृत' है, उसके लिए प्रतिक्रमण है।

वि. : प्रतिक्रमण के बाद प्रत्याख्यान अनिवार्य है।

ने. : यह तो अनागत से संबन्धित हो गया। लगता है, दुष्कृत्यों की समीक्षा को आप प्रतिक्रमण कह रहे हैं।

वि. : लेकिन वैसा हम करते कहाँ हैं?

ने. : यह तो आप बतायें, मैं तो करता नहीं हूँ।

वि. : लेकिन करते कब हैं? जब भी वह किया जाएगा, वर्तमान में ही किया जाएगा।

ने. : वर्तमान तो धोखा देने वाला है।

वि. : नहीं; धोखा नहीं है। उसको 'धोक' दीजिये आप (हँसी)।

ने. : धोक तो देता ही हूँ; किन्तु वर्तमान में ठहरना बहुत कठिन है। भविष्य वर्तमान में आते ही इस तरह पलटी खाता है कि तुरन्त अतीत हो जाता है।

वि. : लगता है; खाता नहीं है।

ने. : वर्तमान की लकीर पर पलटा खाया जा सकता है।

वि. : उस पर वह पलटा खाता ही नहीं है; इधर-उधर भटकता है, तो पलट जाता है। वर्तमान की लकीर पर कोई भी पलटा नहीं खाता।

ने. : यह बात बहुत अच्छी है। क्या वर्तमान-की-रेखा पर खड़े होना संभव है?

वि. : वर्तमान में तो खड़े ही हैं आप।

ने. : झोंक आ जाती है।

वि. : आती नहीं है; लगता है वैसा। वर्तमान 'है'; भविष्य है ही नहीं, भूत भी नहीं है। प्रत्येक के साथ आप अंग्रेजी में 'इन' लगा देते हैं; क्या बोलते हैं इन्हें?

ने. : परसर्ग (पोस्ट-पोजीशन्स) लगा देते हैं।

वि. : वर्तमान के लिए लगा दीजिये – 'इन दी मॉर्निंग', 'इन दी इवनिंग'।

ने. : इस क्षण तो कहेंगे।

वि. : इस क्षण कहेंगे; क्योंकि वर्तमान सदैव है, रहता है। 'होगा' और 'था' के साथ अलग परसर्ग (विभक्ति) लगायेंगे; किन्तु जो वर्तमान है, उसके साथ वही लगता है। 'है' अब मॉर्निंग में भी आप कहेंगे, तो 'एट ए टाइम' कहेंगे। यानी उसी समय। उसके लिए 'इन' नहीं लगायेंगे। इस प्रकार वर्तमान कभी धोखा नहीं देता। जो भी कार्य होता है, वह वर्तमान में ही होता है।

ने. : वर्तमान धोखा नहीं देता – इस बात को थोड़ा स्पष्ट कीजिये।

वि. : वर्तमान तो 'है' के रूप में रहता है, इसलिए धोखा नहीं देता। इसे अंग्रेजी में 'प्रज़ेंट' बोलते हैं। हम सब 'प्रज़ेंट' के बहुत भूखे हैं। 'प्रज़ेंट' का दूसरा अर्थ क्या है?

ने. : उपहार/भेंट।

वि. : उपहार आपको मिलेगा, तो प्रज़ेंट में ही मिलेगा। वर्तमान में ही वह मिलेगा।

ने. : और अतीत में?

वि. : अतीत में क्या?

ने. : मृत मिलेगा कुछ।

वि. : बासी।

ने. : ताज़गी के लिए वर्तमान है।

वि. : हमेशा ताज़ा।

ने. : ध्रुव है।

वि. : बिलकुल सत्य।

ने. : तो प्रतिक्रमण का मतलब हुआ ताज़गी।

वि. : ताज़गी-में-आना; उसमें लौटना।

ने. : ताज़गी तो आदमी के भीतर है; उसे पता नहीं है कि उसके भीतर वह है।

वि. : 'एक ताज़गी' यानी 'एकता जगी'। (हँसी)।

ने. : ऐसा हो गया जैसे 'नाटक'।

वि. : नाटक यानी ना+अटक; शब्दों को तो हम तोड़ते रहते हैं।

ने : क्या शब्द आप पर कभी आक्रमण करते हैं?

वि. : नहीं।

ने. : इसका मतलव आपने शब्दों को जीत लिया है?

वि. : है ही।

ने. : यह कैसे हुआ?

वि. : जो निर्जीव है, उस पर विजय वहुत आसान है।

ने. : यह रहस्य तो वताइये; कैसे हुआ यह?

वि. : आप समझिये; वह आपको तो पहचानता नहीं है।

ने. : इस तरह की व्यूह-रचना आप कैसे करते हैं? शब्द को हराते कैसे हैं?

वि. : हार-जीत उसके पास है ही नहीं।

ने. : किसके पास है?

वि. : चैतन्य के पास।

ने. : और पुद्गल के पास कुछ नहीं है?

वि. : कुछ नहीं है। वह हमेशा वोध्य/भोग्य है। भोक्ता चिंतन में [illegible] सकता। मैटर कभी भोक्ता नहीं वन सकता।

तीर्थंकर : अक्टूबर-[illegible]

ने. : पुद्गल भोग्य है। भोक्ता चैतन्य है। लोग इसे जानते नहीं हैं।

वि. : इसके लिए हम क्या करें?

ने. : कुछ करें नहीं; आप तो जी कर बतायें इस सत्य को।

वि. : वह बताया नहीं जाता। आप शब्द की ओर जा रहे हैं।

ने. : लोग देखें।

वि. : देखिये आप।

□ □

ने. : 'आवश्यक' क्या है? प्रतिक्रमण भी एक 'आवश्यक' ही है।

वि. : जो किसी के अधीन नहीं है, अधीत (ज्ञानी) है, वह 'अवश्य' है उसका जो कृत्य है, वह 'आवश्यक' है।

ने. : 'अवश्य' तो श्रमण हो सकता है। उसके लिए जो करणीय है, वह 'आवश्यक' है। ये कितने हैं?

वि. : छह हैं। इतना ध्यान रखना कि उनमें एक नहीं है, जो वर्तमान ने पकड़ लिया है।

ने. : वह कौन-सा है?

वि : कई लोगों की यह धारणा है कि छह आवश्यकों में कोई सातवां आवश्यक होगा। वह है स्वाध्याय। इस स्वाध्याय ने प्रतिक्रमण को उड़ा दिया, और प्रत्याख्यान को भी उड़ा दिया।

ने. : कैसे उड़ा दिया?

वि : छह आवश्यक हैं, समता है, स्तुति है, वन्दना है, प्रतिक्रमण है, प्रत्याख्यान है, कायोत्सर्ग है।

ने. : औसत आदमी को स्तुति और वन्दना एक ही लगते हैं; पर्याय लगते हैं। इनमें बुनियादी फ़र्क क्या है?

वि. : स्तुति एक प्रकार से वचनों से गुणगान है, कीर्तन है, जिसे बोलते हैं; किन्तु 'वन्दना' झुकने की क्रिया है।

ने. : विनय है।

वि. : इसमें झुकने के साथ-साथ वचनों का प्रयोग भी होता है।

ने. : स्तुति में यदि 'विनय' सम्मिलित हो जाए, तो क्या उसे वन्दना कहेंगे?

वि. : कहेंगे। स्तुति, जैसे – चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति।

ने. : क्या स्तुति में हम तादात्म्य का अनुभव करते हैं?

वि. : नहीं; इससे कोई प्रयोजन नहीं है।

ने. : गुणानुवाद यानी स्तुति?

वि. : हाँ।

ने. : विनययुक्त गुणानुवाद यानी वन्दना।

वि. : वन्दना में एक भाव रहता है।

ने. : स्तुति यदि थोड़ी गहन हो जाती है, तो वह वन्दना हो जाती है।

वि. : स्तुति के साथ नमन आदि का भाव गौण रहता है, जबकि वन्दना में . . .

ने. : . . . प्रधान हो जाता है।

वि. : वैसे शास्त्रीय पद्धति से स्तुति में चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करते हैं, वन्दना में वह नहीं होती ।

ने. : वन्दना में उपास्य एक ही होता है।

वि. : हाँ; एक।

ने. : स्तुति चौबीस तीर्थंकरों की होगी, तो हम बँट जाएँगे। चौबीस में बँटने का डर रहेगा और वन्दना में एकाग्रता रहेगी।

वि. : बँटने का डर तो नहीं है।

ने. : चौबीस आखिर चौबीस होंगे।

वि. : होते हुए भी उसमें भाव विकल्प है।

ने. : क्या स्तुति में भी निर्विकल्पता उतनी ही बनी रहेगी, जितनी वन्दना में वह होगी।

वि. : यह तो एक प्रकार से विकल्प है, लेकिन जैसे-जैसे साधक अप्रमत्त अवस्था की ओर ढलता जाएगा, उसमें भी वह बनेगी। उसके साथ भी वचन-प्रयोग है – व्यवहार और निश्चय। इस प्रकार स्तुति और वन्दन के भी दो-दो भेद हो गये हैं।

ने. : आवश्यक में सबसे पहले समता है; ऐसा क्यों है? यह क्रम क्यों निर्धारित किया गया कि समता पहले?

वि. : मन-वचन-काय की चेष्टा समान नहीं होती; इसे कोई साध भी नहीं सकता।

ने. : मन-वचन-काय की चेष्टा का समान होना यानी?

वि. : मतलब विषमता-से-रहित होना। देखिये, एक है विषमता और एक है समता। मूल में सम है, उसके पीछे 'वि' उपसर्ग लगने से 'स' (दन्त्य) 'ष' (मूर्द्धन्य) हो गया – यह विकार हो गया। यह विषमता क्यों आ गयी? 'वि' उपसर्ग लगने से आयी।

ने. : विद्यासागर में भी तो 'वि' है।

वि. : वह अलग है। वह तो विशेष रूप से है, 'विद्' धातु से है। वह तो मूल में है। (हँसी) ।

ने. : भ्रम तो होता है न, 'विद्यासागर' में भी 'वि' है।

वि. : भ्रम तो रहेगा।

ने. : भ्रम-भंग के लिए ही जैन दर्शन है।

वि. : नहीं, भ्रम-भंग के लिए नहीं है; वह तो सहयोगी है; हम किसी को हटाते नहीं हैं। वह तो उसी में रहने दीजिये, हम तो शुद्ध हो जाएँगे।

है; ब्रह्म ब्रह्म है। वह 'बृंह्' धातु से बना है। ब्रह्मभोग अर्थात् अपने शुद्ध गु पर्याय का गतिशील चिन्तन। जितनी भी ज्ञानार्थक क्रियाएँ हैं, वे गत्यर्थक हैं।

ने. : यह आश्चर्य की बात है।

वि. : आश्चर्य की नहीं, स्वभाव की बात है।

ने. : क्या 'समता' भी गत्यर्थक है?

वि. : जितनी भी ज्ञानार्थक क्रियाएँ हैं, समीचीन हैं; समीचीन यानी यथार्थ, सम्यक्, या प्रशम।

ने. : सन्तुलित।

वि. : कण्ट्रोल्ड, नियन्त्रित।

ने. : अनुशासित हैं।

वि. : इसे कहते हैं 'समता'। इसमें-से इधर-उधर खिसकने को कहते हैं विषमता। आपके यहाँ (शरीर में) ज्वर है। आप बिना ज्वर के नहीं चल सकते।

ने. : ज्वर यानी तापक्रम (टेम्प्रेचर)।

वि. : वह ज्वर यानी तापक्रम रहना आवश्यक है। वह नॉर्मल रहेगा अर्थात् 'सम' रहेगा; लेकिन विषम ज्वर कब आता है? जब उसमें 'वि' उपसर्ग लग गया।

ने. : सीमा का उल्लंघन हुआ।

वि. : हाँ; यानी इधर या उधर जाएँगे तो वह 'विषम' होगा। 'सम' यानी बीच में रहना चाहिये। जब मन-वचन-काय की चेष्टा अपने शुद्ध गुण और पर्याय में सन्तुलित हो जाती है, सम हो जाती है, तब उसका नाम समता है। यह बाद को आती है।

ने. : यहाँ पहले आ गयी है। आवश्यकों में तो यह सब में पहले है।

वि. : लेकिन कब आयी है, किसके आवश्यक में आयी है? एक दोहा लिखा था, वह बताना चाहता हूँ, बहुत दिनों की बात है। वह इस प्रकार है :

यम दम श्रम शम तुम धरो, क्रमशः दम श्रम होय।
नर से नारायण बनो, अनुपम अधिगम होय।।

ने. : 'अनुपम अधिगम होय'।

वि. : वह कब होगा? वह इस क्रम से होगा। सर्वप्रथम पंच पापों से मुक्ति यानी यम होगा। जो पंच पापों से मुक्त होगा, वही पञ्चेन्द्रियों पर अनुशासन कर सकेगा; यह 'दम' है। जो 'दम' कर सकेगा अर्थात् जो स्वयं को पाँच पापों से दूर रख सकेगा; पञ्चेन्द्रियों को नियन्त्रित करेगा, वही व्यक्ति 'श्रम' को प्राप्त करेगा। 'श्रम' कहते हैं कषाय के उपशम को। श्रम में भी क्रिया चल रही है। श्रम में भी कुछ किया जा रहा है। दम में जा रहा है, अनुशासन हो रहा है। वह अभी संपूर्णतया समता में नहीं आया है; किन्तु जब कषाय का शमन हो जाता है, तब 'सम' अर्थात् 'समान' हो जाता है।

ने. : यह क्रम है।

वि. : क्रमशः 'दम श्रम होय'। इनमें पहले बहुत श्रम होगा; यम में श्रम बहुत होगा।

ने. : वैसे भी 'यम' से लड़ना मुश्किल है।

वि. : पहले तो हमारे पास 'दम' है।

ने. : हमारा दम निकल सकता है।

वि. : जब इन्द्रियों के पास 'दम' न रहे, तभी दमन है।

ने. : इन्द्रियों के पास दम न रहे।

वि. : अपने पास तो दम रहना चाहिये (हँसी); जब अपने पास का दम खुट गया, तो मद (दम का उल्टा) आता है।

ने. : दम हरदम रहना चाहिये?

वि. : हाँ, रहना तो चाहिये।

ने. : ताकि इन्द्रियों का दम एकदम निकल सके।

वि. : इसके उपरान्त 'शम' आता है। जब इन्द्रियाँ नियन्त्रित हो गयीं, 'दम' भी आ गया, तब भीतर की कषायें निकलना सहज हो जाता है।

ने. : इनमें श्रम क्रमशः कम होता जाता है।

वि. : लेकिन बिना यम दम करेंगे, तो तनाव बढ़ जाएगा।

ने. : 'टेन्शन' आ जाएगा।

वि. : टेन्शन क्यों बढ़ जाता है? किसी ने पूछा – 'महाराज, और टेन्शन बढ़ गया। आप तो टेन्शन का ही इलाज करते हैं न'? 'टेन्शन-टेन्शन' करते-करते इण्टेन्शन (इरादा) खराब हो जाता है। (हँसी) क्योंकि 'इण्टेन्शन' पर ही 'टेन्शन' निर्भर करता है।

ने. : जैसा 'इण्टेन्शन' होगा, वैसा 'टेन्शन' होगा।

वि : इसलिए हम यह विधि किसी को सिखाते नहीं – मेडिटेशन (ध्यान) की।

ने. : इसमें सिखाने को कुछ है भी नहीं।

वि : है भी नहीं। सीखेंगे, तो टेन्शन नियम से बढ़ जाएगा, यदि इण्टेन्शन खराब है तो (हँसी); इसलिए श्रम में अभी थोड़ा-बहुत (टेन्शन) है; उसे झेलते हुए 'शम' आयेगा – समता।

ने. : यम, दम, श्रम, शम।

वि. : 'यम दम श्रम शम तुम धरो; क्रमशः दम श्रम होय।' संस्कृत में 'श्रमण' है; प्राकृत में 'समण' है। इसमें उसमें बहुत अन्तर है। संस्कृत थोड़ी-बहुत आर्टिफिशियल (कृत्रिम) लगती है; प्राकृत स्वाभाविक है।

ने. : संस्कृत को तो 'सुधारा' गया है। प्राकृत स्वाभाविक है।

वि. : सुधारकों ने सुधारा है।

ने. : 'समण' में 'समता' से सीधा संबन्ध है।

प्रतिक्रमण वही है, जिससे दोषों का निवारण हो रहा है; लेकिन जो प्रत्याख्यान के साथ हो रहा है।

ने. : इसका मतलब हुआ भविष्य पर प्रहार करना।

वि. : हाँ, बिलकुल; क्योंकि भव अलग है, भविष्य अलग है। उसमें 'होगा' है; भव में 'है' है।

ने. : उसमें 'गा' है; इसमें 'है' है।

वि. : 'है'; अ-मर है; जहाँ नहीं है, वहाँ भी 'है' है।

ने. : 'गा' तो है, भव हो जाता 'है'। 'गा' 'था' हो जाता 'है'। 'है' काल-जयी है।

वि. : वह हो जाता है।

ने. : 'है' ही है। प्रत्याख्यान के वाद कायोत्सर्ग है।

वि. : काया-का-उत्सर्ग हो जाता है।

ने. : यह तो बहुत सीधी बात हुई। इतने सीधे ढंग से बात समझ में नहीं आती। कायोत्सर्ग यानी, इसे वैसे ही समझाइये जैसे प्रत्याख्यान को समझाया है।

वि. : आक्रमण आपने किस माध्यम से किया था?

ने. : आप-के (हँसी)।

वि. : 'काया' के माध्यम से ही तो आपने आक्रमण किया था। इस काया के माध्यम से आप पुनः इधर आ गये। जब प्रतिक्रमण हो गया; और क्रम नहीं रहा, तो काया-का-उत्सर्ग हो गया।

ने. : हो गया; किया नहीं गया। तो कायोत्सर्ग का संबन्ध वर्तमान से बिलकुल सीधा आता है।

वि. : ये जितने भी हैं, सब वर्तमान में ही होते हैं।

ने. : प्रतिक्रमण वर्तमान में होगा अतीत का।

वि. : अतीत का, लेकिन होगा यहीं; वर्तमान में—भविष्य में नहीं।

ने. : यहीं इस क्षण में हो जाना सामायिक है।

वि. : समयसार तक पहुँचने के लिए ही छह आवश्यक हैं; ये अनिवार्य हैं।

ने. : समयसार तक पहुँचने के लिए।

वि. : क्योंकि वर्तमान में सब होते हैं।

ने. : फिर प्रतिक्रमण और सामायिक अलग-अलग क्यों हैं?

वि. : 'निश्चय' में तो ये अनेक नहीं हैं; एक ही हैं। चूँकि उपयोग इतना दृढ़ नहीं है, स्थिर नहीं है, इसलिए दो बनाना आवश्यक हो गया है। आप हलुवा खाइये - एक ग्रास, दो ग्रास, तीन ग्रास खाने के उपरान्त तब परोसने वाले को चिन्ता होती है कि इनका पेट भर गया है; तब आपको कोई दूसरा व्यञ्जन दि- जाता है। है तो उसमें भी खाना और इसमें भी खाना।

ने. : खाना दोनों में है।

वि. : दोनों में है, इसलिए दूसरा खाता है; फिर वह उससे भी [illegible] है

ने. : आप तो कहते हैं कि प्रतिक्रमण में ताज़गी होती है।

वि. : वह ताजगी को भूल जाता है, तो बासी आ जाती है।

ने. : फिर वह सामायिक में जाता है; यानी ये दोनों व्यञ्जन हैं।

वि. : सही पूछा जाए, तो प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग, स्तुति और वन्दना – ये जितने भी हैं, ये भिन्न-भिन्न व्यञ्जन हैं; किन्तु समता वह व्यञ्जन है, जिसे कहते हैं हलुवा। मुक्ति आयेगी, तो इसी से आयेगी।

ने. : ये व्यञ्जन हैं। स्वाद बदलने के प्रकार – आध्यात्मिक रसास्वादन के विविध सोपान।

वि. : समता अन्तिम है। इसके उपरान्त कुछ नहीं है।

ने. : आपने तो समता को सबसे पहले रख दिया।

वि. : पहले कहाँ रखा? – यम, दम, श्रम।

ने. : समता के बाद स्तुति पर आये।

वि. : आये तो सही; लेकिन वह उसमें तो ठहर नहीं सकता।

ने. : इसलिए स्तुति है।

वि. : समता का अर्थ है सामायिक; समता में स्थिर नहीं रहेगा, तो स्तुति में प्रयत्न करता रहेगा।

ने. : यह औत्तमार्थिक प्रतिक्रमण क्या है?

वि. : जब अन्तिम समय हो – सल्लेखना; जीवन में जो कोई भी घटना शेष रह गयी हो, उसका मार्जन करना औत्तमार्थिक प्रतिक्रमण है।

ने. : कई बार। नियतकालिक अनियतकालिक ऐसा क्यों?

वि. : यह इस प्रकार है कि मान लीजिये, जो शिशु स्कूल में पढ़ने के लिए जाता है, उसे बता दिया जाता है कि पढ़ने के उपरान्त अन्तिम परीक्षा होगी। फिर भी बीच-बीच में तिमाही, छहमाही परीक्षाएँ होती हैं। यदि वह इनमें उत्तीर्ण होता जाए, तो एक साल के उपरान्त ही उसमें बहुत कुछ सुधार हो जाता है। इसी तरह आप प्रतिदिन का लेखा-जोखा करते चले जाएँ; और देखें कि भीतर से आप किस तरह बदल रहे हैं।

ने. : आपने नियतकालिक/अनियतकालिक की जो व्यवस्था बतलायी है, वह शायद इसीलिए है। अनियतकालिक सामायिक तो कभी भी हो सकती है। आप चल रहे हैं, तो भी हो सकती है; शयन कर रहे हैं, तो भी हो सकती है।

वि. : एक सामायिक 'चारित्र' अलग होता है, और एक सामायिक 'आवश्यक' अलग होता है; एक सामायिक 'प्रतिमा' अलग होती है, और एक सामायिक 'व्रत' अलग होता है।

ने. : इन्हें तनिक समझा दीजिये।

वि. : सामायिक व्रती जो होता है, वह पाँच पापों को अणुव्रत में छोड़ देता है; फिर उसमें निष्ठा बनी रहे; इसलिए सामायिक व्रत अंगीकार कर लेता है। यह तीन सन्ध्याओं में किया जाता है; वह एक-दो सन्ध्याओं में कर लेता है; इसलिए उसको सामायिक व्रत कहते हैं। सामायिक प्रतिमा में वह तीन सन्ध्याओं में मुनिवत् अपने आपको सामायिक में उतार लेता है।

ने. : गृहस्थ/श्रावक ?

वि. : गृहस्थ; इसलिए उसे सामयिक कहा है। समय की पाबन्दी को पालने वाला।

ने. : सामायिक ?

वि. : 'सामायिक' नहीं; 'सामयिक'। सामयिक समय की पाबन्दी पर शर्त लेकर बैठता है कि मैं एक घण्टा बैठ सकता हूँ। हम 'सामयिक' वाले नहीं; हम 'सामायिक' वाले हैं।

ने. : गृहस्थ/श्रावक सामयिक है।

वि. : सामायिक के समय वेश बदल लेते हैं–सामायिक के अनुसार। सामायिक व्रत और प्रतिमा–तीनों सन्ध्याओं में निर्दोष मुनिवत् होती है, तदुपरान्त सामायिक चारित्र है। यह है आजीवन; पंच पापों का संपूर्ण त्याग।

ने. : आजीवन ?

वि. : सर्वप्रथम जब पापों से निवृत्ति हो जाती है, तो नियम से सामायिक चारित्र में 'निष्ठ' हो जाते हैं मुनिराज। यह अभेद होता है। सामायिक का एक अर्थ है अभेद।

ने. : अभेद अर्थात् ?

वि. : विकल्प-रहित। मुक्त हो जाता है विकल्पों से–निर्विकल्प।

ने. : निःशल्य ?

वि. : इसका उदाहरण बाद में दूंगा। सामायिक चारित्र हो गया यह। बाद में सामायिक आवश्यक। जो सामायिक चारित्री है, वह अपनी चर्या में जब कोई कमी/दोष लग जाते हैं, उन्हें दूर करने के लिए यह नियत सामायिक–तीन सन्ध्याओं में कर लेता है; इसे सामायिक आवश्यक कहते हैं। सामायिक चारित्र में जो दोष लग गया, उसका सामायिक आवश्यक द्वारा परिहार किया जाता है।

ने. : यह तो एक प्रकार का प्रतिक्रमण ही है।

वि. : है ही; 'समता' में जब दोष लग जाते हैं, तो 'सामायिक आवश्यक' बता कर उन दोषों का परिमार्जन किया जाता है।

ने. : आपने कहा था कि उदाहरण बाद में दूंगा।

वि. : अभेद और भेद की कल्पना को लें। अभेद में सर्वप्रथम समता आती है — पापों से मुक्त होने पर; फिर बाद में उसमें भेद की कल्पना आने लगती है। तो सर्वप्रथम सामायिक चारित्र उत्पन्न होता है, बाद में छेदोपस्थापना चारित्र होता है।

ने. : यह क्या है?

वि. : छेदोपस्थापना का अर्थ यह है कि समता (सामायिक) ली थी, उसमें 'छेद' हो जाता है, अतः उसमें पुनः उपस्थिति, या उसे स्थापित करना होता है। पहले तो छेद होता नहीं, अखण्ड होता है। फिर दूषण लग जाता है। पहले अभेद आता है; बाद में भेद आता है। पहले अखण्ड, बाद में खण्ड। तो उसके लिए दृष्टान्त यह है कि सर्वप्रथम जब स्वाति-नक्षत्र में बूंद गिरती है तो वह सीप में ढलती है। ढलने के उपरान्त वह उसमें मोती के रूप में परिवर्तित हो जाती है। जब कभी लोग उसे देख लेते हैं, तो खोलने कर उसमें से मोती निकाल लेते हैं। वह मोती सुन्दर, अखण्ड, अभेद होता है। उसे गले में पहिनने के लिए उसमें छेद होना जरूरी है, इसलिए उसे छेद देते हैं। इसी प्रकार भावों के द्वारा अभेद को भेद कर लेते हैं। भावों की सुई से छेद (भेद) होता है। हम अभेद/अछेद अवस्था में रह ही कहाँ पाते हैं; इसलिए हम फिर बाँधने का प्रयत्न करते हैं। हम बन्धन के शौकीन हैं न?

ने. : मोक्ष की ओर नहीं जाते।

वि. : बन्धन की ओर; फिर भी मोती मोती है। हार में वह रहता है।

ने. : मोती के लिए मुक्ता शब्द है। इसका कहीं-न-कहीं मुक्ति से संबन्ध तो हुई है।

वि. : यही है; मुक्त वही है जो 'छेद' से मुक्त है।

ने. : आपने यह बढ़िया उदाहरण दिया है।

वि. : सामायिक की गहराई में डूबने से ही यह उदाहरण मिला है।

ने. : नहीं तो कैसे मिल सकता था?

वि. : यह आचरण पत्रिकाओं में नहीं है।

ने. : वह हम कहाँ से ला सकेंगे?

वि. : एक विद्वान् ने कहा था छेदोपस्थापना और सामायिक में क्या अन्तर है? हमने कहा, आप मुनि बन जाइये, तो विदित हो जाएगा। (हँसी)।

☐

ने. : एक बात फिर भी रह गयी। जब आप सामायिक में बैठते हैं, तो कैसा अनुभव करते हैं?

वि. : बैठते हैं?

ने. : खड़े ही रहते होंगे, पता नहीं मुझे।

वि. : सामायिक में बैठना कह कर उसे थोड़ा कमज़ोर बना देता है। सामायिक में 'होना' होता है।

ने. : मैं संशोधित करता हूँ। सामायिक में जब आप होते हैं, तो आप कैसा अनुभव करते हैं?

वि. : जिस समय बोलता हूँ, उस समय सामायिक में नहीं होता। (हँसी)।

ने. : इतनी देर से यानी ४५ मिनिट से आप सामायिक में नहीं थे?

वि. : इसी से धोखा खा गये न? (हँसी)।

ने. : आपके विचार बिलकुल अलग हैं, वे अधिकृत और परिपक्व हैं। हम लोग तो बहुत अपरिपक्व हैं, इस सिलसिले में। एक साधक किस तरह से प्रतिक्रमण में अपने आपको सीढ़ी-दर-सीढ़ी ले जा रहा है, उसकी दैनंदिन प्रक्रिया क्या है? प्रतिक्रमण के सिलसिले में डायरी क्या हो सकती है उसकी?

वि. : आप डायरी देखना चाहेंगे?

ने. : डायरी देखना नहीं; जानना चाहूँगा।

वि. : प्रतिक्रमण करने वालों को सजीव देखिये।

ने. : क्षण-भर में नहीं देखा जा सकता।

वि. : एक क्षण में नहीं देखा जा सकता, तो कुछ क्षणों में लिखा गया भी समझ में नहीं आयेगा।

ने. : जो आदमी इतने क्षणों में कर रहा है, उसे एक क्षण में जानना तो मुश्किल काम है; लेकिन जब वह लिखता है, तब वह उसके भीतर प्रवेश करता है। 'सत्थं णाणं ण हवइ' – शास्त्र ज्ञान तो है नहीं; ज्ञान तो वह है जो प्रतिक्रमण कर रहा है। प्रतिक्रमण जो है, वही ज्ञान है।

वि. : टेलीपेथी से वह चीज पकड़ में आ जाएगी।

ने. : लेकिन टेलीपेथी का अभ्यास सबको नहीं हो सकता। हम औसत लोगों के बीच भी तो हैं न? यह तो ठीक है कि टेलीपेथी है और सब कुछ संवेदनशीलता पर आधारित है; लेकिन इतनी तीव्र संवेदना का विकास इस समय तो संभव नहीं है।

वि. : इस समय मत कहो, इस दशा में कहो।

ने. : अवस्था, समय-बोधक शब्द है।

वि. : यह तो गड़बड़ हो गया।

ने. : हम तो गड़बड़ करगे ही, तभी तो आप उसे सुधारेंगे? हम लोग तो गड़बड़ करने के लिए हैं। नियन्त्रक शक्ति आप हैं। वह आपको करना ही

है। मैं भूला जा रहा हूँ; आप बता रहे थे कि जब मैं सामायिक में होता हूँ, तो बोलता नहीं हूँ; जब बोलता हूँ, तो सामायिक में नहीं होता हूँ। यह एक उत्कृष्ट अनुभव है। तब अनुभव को कैसे जाना जाए ?

वि. : जब बोलता हूँ, तब समिति में होता हूँ।

ने. : तब थोड़ा विषयान्तर हो जाएगा।

वि. : यह विषयान्तर नहीं है। प्रतिक्रमण शाब्दिक नहीं है।

ने. : प्रतिक्रमण शाब्दिक नहीं है, सो तो ठीक है।

वि. : हम शब्द के साथ चलते हैं जैसे समता/सामायिक; आचार्यों ने कहा है कि स्वाध्याय-के-साथ प्रतिक्रमण संभव है; प्रतिक्रमण-में-स्वाध्याय संभव है। स्वाध्याय कोई आवश्यक नहीं है, किन्तु स्तुति और प्रतिक्रमण में स्वाध्याय गर्भित है, कुन्द कुन्दाचार्य ने 'नियमसार' में लिखा कि जब उनसे पूछा गया कि स्वाध्याय को आपने आवश्यक नहीं बताया ? तो उन्होंने समझाया कि प्रतिक्रमण और स्तुति में स्वाध्याय गर्भित है; किन्तु जब हम प्रतिक्रमण करते हैं, तब उसमें सामायिक गर्भित रहती है

ने. : सामायिक में प्रतिक्रमण गर्भित है; प्रतिक्रमण में सामायिक गर्भित नहीं है।

वि : सामायिक तक पहुँचने के लिए प्रतिक्रमण एक रास्ता बनता है।

ने. : एक वीथि है।

वि : इसलिए यह प्रवृत्ति है; किन्तु सामायिक में प्रवृत्ति का अभाव है। यह बात अलग है कि मोक्ष/स्वभाव की ओर जाने के लिए प्रवृत्ति भी आवश्यक है; लेकिन प्रवृत्ति तो अन्ततः प्रवृत्ति ही है।

ने. : प्रतिक्रमण निवृत्तिपरक है।

वि. : नहीं; प्रतिक्रमण करने के उपरान्त निवृत्ति होती है।

ने. : निवृत्ति उसका लक्ष्य है ?

वि. : हाँ।

ने. : और उस लक्ष्य तक पहुँचने पर तो निवृत्ति होना ही है।

वि. : बाद में होना है।

ने. : इसलिए मैंने कहा कि निवृत्ति नहीं, निवृत्तिपरक है।

वि. : निवृत्तिपरक भी नहीं कह सकेंगे; निवृत्ति-का-मार्ग है, ऐसा कहेंगे।

ने. : निवृत्तिमूलक कह सकते हैं क्या ?

वि. : निवृत्तिमूलक भी नहीं कह सकते। निवृत्ति-के-लिए कह सकते हैं।

ने. : निवृत्त्यर्थ है।

वि. : ऐसा कह दीजिये।

ने. : उसके वाद ही निवृत्ति का क्रम है। प्रतिक्रमण की समाप्ति पर मानें, लेकिन प्रतिक्रमण तो कभी समाप्त होगा नहीं?

वि. : दोषों-का-अभाव यानी प्रतिक्रमण-का-अभाव।

ने. : सब दोष अनुपस्थित हो जाएँगे, तो फिर उसके वाद यह प्रवृत्ति अपने आप उसके अनुसार हो जाएगी; उसका अनुगमन करेगी।

वि. : सामायिक नीरोग अवस्था है और प्रतिक्रमण रोग हटाने की प्रक्रिया है।

ने. : सामायिक नीरोग अवस्था है?

वि. : हाँ, और प्रतिक्रमण उस रोग को हटाने की प्रक्रिया है, यानी यह औषधि का काम करता है।

ने. : प्रतिक्रमण औषधि है ?

वि. : प्रतिक्रमण औषधि तो है ही।

ने : फिर निदान? रोग का निदान कैसे होगा?

वि. : ज्ञान के द्वारा होगा।

ने. : किस प्रकार के ज्ञान के द्वारा?

वि. : यदि रोग का अनुभव हो रहा है, दुःख का अनुभव हो रहा है, दुःख का अनुभव हो रहा है, तो मन कह रहा है कि यह ठीक नहीं है।

ने. : संकट तो यही है कि अभी रोगी को रोग का अनुभव नहीं हो रहा है।

वि. : नहीं हो रहा है न? तो फिर वह नीरोग हो नहीं सकता।

ने. : गुरु के माध्यम से हो; गुरु ही तो निदान करेगा।

वि. : गुरु निदान कहाँ तक करेंगे? अपना करेंगे, या पराये का। यह ध्यान रखना, डॉक्टर पेशेन्ट(रोगी) के पास नहीं जाते।

ने. : पेशेन्ट तो आता है।

वि. : आता है; वुला लेता है। फिर वाद में डॉक्टर जाते हैं।

ने. : जव पेशेन्ट आपके पास आयेगा, तव आप निदान करेंगे न?

वि. : सोचूंगा, या पूछूंगा तो ज़रूर कि वह किसलिए आया है?

ने. : मान लीजिए, मैं ही आपका पेशेन्ट हूँ।

वि. : समझ रहा हूँ (हँसी); कुछ 'पेशेन्ट' ऐसे होते हैं; जो औषधि खाने वाले नहीं होते; माथा खाने वाले होते हैं।

ने. : कोई-न-कोई आहारदान तो होता है। आते तो हैं, कुछ-न-कुछ खाने वाले। (हँसी)।

है। मैं भूला जा रहा हूँ; आप बता रहे थे कि जब मैं सामायिक में होता हूँ, तो बोलता नहीं हूँ; जब बोलता हूँ, तो सामायिक में नहीं होता हूँ। यह एक उत्कृष्ट अनुभव है। तब अनुभव को कैसे जाना जाए ?

वि. : जब बोलता हूँ, तब समिति में होता हूँ।

ने. : तब थोड़ा विषयान्तर हो जाएगा।

वि. : यह विषयान्तर नहीं है। प्रतिक्रमण शाब्दिक नहीं है।

ने. : प्रतिक्रमण शाब्दिक नहीं है, सो तो ठीक है।

वि. : हम शब्द के साथ चलते हैं जैसे समता/सामायिक; आचार्यों ने कहा है कि स्वाध्याय-के-साथ प्रतिक्रमण संभव है; प्रतिक्रमण-में-स्वाध्याय संभव है। स्वाध्याय कोई आवश्यक नहीं है, किन्तु स्तुति और प्रतिक्रमण में स्वाध्याय गर्भित है, कुन्द-कुन्दाचार्य ने 'नियमसार' में लिखा कि जब उनसे पूछा गया कि स्वाध्याय को आपने आवश्यक नहीं बताया? तो उन्होंने समझाया कि प्रतिक्रमण और स्तुति में स्वाध्याय गर्भित है; किन्तु जब हम प्रतिक्रमण करते हैं, तब उसमें सामायिक गर्भित रहती है।

ने. : सामायिक में प्रतिक्रमण गर्भित है; प्रतिक्रमण में सामायिक गर्भित नहीं है।

वि : सामायिक तक पहुँचने के लिए प्रतिक्रमण एक रास्ता बनता है।

ने. : एक वीथि है।

वि : इसलिए यह प्रवृत्ति है; किन्तु सामायिक में प्रवृत्ति का अभाव है। यह बात अलग है कि मोक्ष/स्वभाव की ओर जाने के लिए प्रवृत्ति भी आवश्यक है; लेकिन प्रवृत्ति तो अन्ततः प्रवृत्ति ही है।

ने. : प्रतिक्रमण निवृत्तिपरक है।

वि. : नहीं; प्रतिक्रमण करने के उपरान्त निवृत्ति होती है।

ने. : निवृत्ति उसका लक्ष्य है?

वि. : हाँ।

ने. : और उस लक्ष्य तक पहुँचने पर तो निवृत्ति होना ही है।

वि. : बाद में होना है।

ने. : इसलिए मैंने कहा कि निवृत्ति नहीं, निवृत्तिपरक है।

वि. : निवृत्तिपरक भी नहीं कह सकेंगे; निवृत्ति-का-मार्ग है, ऐसा कहेंगे।

ने. : निवृत्तिमूलक कह सकते हैं क्या?

वि. : निवृत्तिमूलक भी नहीं कह सकते। निवृत्ति-के-लिए कह सकते हैं।

ने. : निवृत्त्यर्थ है।

वि. : ऐसा कह दीजिये।

ने. : उसके बाद ही निवृत्ति का क्रम है। प्रतिक्रमण की समाप्ति पर मानें, लेकिन प्रतिक्रमण तो कभी समाप्त होगा नहीं ?

वि. : दोषों-का-अभाव यानी प्रतिक्रमण-का-अभाव।

ने. : सब दोष अनुपस्थित हो जाएँगे, तो फिर उसके बाद यह प्रवृत्ति अपने आप उसके अनुसार हो जाएगी; उसका अनुगमन करेगी।

वि. : सामायिक नीरोग अवस्था है और प्रतिक्रमण रोग हटाने की प्रक्रिया है।

ने. : सामायिक नीरोग अवस्था है ?

वि. : हाँ, और प्रतिक्रमण उस रोग को हटाने की प्रक्रिया है, यानी यह औषधि का काम करता है।

ने. : प्रतिक्रमण औषधि है ?

वि. : प्रतिक्रमण औषधि तो है ही।

ने : फिर निदान ? रोग का निदान कैसे होगा ?

वि. : ज्ञान के द्वारा होगा।

ने. : किस प्रकार के ज्ञान के द्वारा ?

वि. : यदि रोग का अनुभव हो रहा है, दु:ख का अनुभव हो रहा है, दु:ख का अनुभव हो रहा है, तो मन कह रहा है कि यह ठीक नहीं है।

ने. : संकट तो यही है कि अभी रोगी को रोग का अनुभव नहीं हो रहा है।

वि. : नहीं हो रहा है न ? तो फिर वह नीरोग हो नहीं सकता।

ने. : गुरु के माध्यम से हो; गुरु ही तो निदान करेगा।

वि. : गुरु निदान कहाँ तक करेंगे ? अपना करेंगे, या पराये का। यह ध्यान रखना, डॉक्टर पेशेन्ट(रोगी) के पास नहीं जाते।

ने. : पेशेन्ट तो आता है।

वि. : आता है; बुला लेता है। फिर बाद में डॉक्टर जाते हैं।

ने. : जब पेशेन्ट आपके पास आयेगा, तब आप निदान करेंगे न ?

वि. : सोचूंगा, या पूछूंगा तो ज़रूर कि वह किसलिए आया है ?

ने. : मान लीजिए, मैं ही आपका पेशेन्ट हूँ।

वि. : समझ रहा हूँ (हँसी) ; कुछ 'पेशेन्ट' ऐसे होते हैं; जो औषधि खाने वाले नहीं होते; माथा खाने वाले होते हैं।

ने. : कोई-न-कोई आहारदान तो होता है। आते तो हैं, कुछ-न-कुछ खाने वाले। (हँसी) ।

है। मैं भूला जा रहा हूँ; आप बता रहे थे कि जब मैं सामायिक में होता हूँ, तो बोलता नहीं हूँ; जब बोलता हूँ, तो सामायिक में नहीं होता हूँ। यह एक उत्कृष्ट अनुभव है। तब अनुभव को कैसे जाना जाए?

वि. : जब बोलता हूँ, तब समिति में होता हूँ।

ने. : तब थोड़ा विषयान्तर हो जाएगा।

वि. : यह विषयान्तर नहीं है। प्रतिक्रमण शाब्दिक नहीं है।

ने. : प्रतिक्रमण शाब्दिक नहीं है, सो तो ठीक है।

वि. : हम शब्द के साथ चलते हैं जैसे समता/सामायिक; आचार्यों ने कहा है कि *स्वाध्याय-के-साथ प्रतिक्रमण संभव है; प्रतिक्रमण-में-स्वाध्याय संभव है।* स्वाध्याय कोई आवश्यक नहीं है, किन्तु स्तुति और प्रतिक्रमण में स्वाध्याय गर्भित है, कुन्द-कुन्दाचार्य ने 'नियमसार' में लिखा कि जब उनसे पूछा गया कि स्वाध्याय को आपने आवश्यक नहीं बताया? तो उन्होंने समझाया कि प्रतिक्रमण और स्तुति में स्वाध्याय गर्भित है; किन्तु जब हम प्रतिक्रमण करते हैं, तब उसमें सामायिक गर्भित रहती है।

ने. : सामायिक में प्रतिक्रमण गर्भित है; प्रतिक्रमण में सामायिक गर्भित नहीं है।

वि. : सामायिक तक पहुँचने के लिए प्रतिक्रमण एक रास्ता बनता है।

ने. : एक वीथि है।

वि : इसलिए यह प्रवृत्ति है; किन्तु सामायिक में प्रवृत्ति का अभाव है। यह बात अलग है कि मोक्ष/स्वभाव की ओर जाने के लिए प्रवृत्ति भी आवश्यक है; लेकिन प्रवृत्ति तो अन्ततः प्रवृत्ति ही है।

ने. : प्रतिक्रमण निवृत्तिपरक है।

वि. : नहीं; प्रतिक्रमण करने के उपरान्त निवृत्ति होती है।

ने. : निवृत्ति उसका लक्ष्य है?

वि. : हाँ।

ने. : और उस लक्ष्य तक पहुँचने पर तो निवृत्ति होना ही है।

वि. : बाद में होना है।

ने. : इसलिए मैंने कहा कि निवृत्ति नहीं, निवृत्तिपरक है।

वि. : निवृत्तिपरक भी नहीं कह सकेंगे; निवृत्ति-का-मार्ग है, ऐसा कहेंगे।

ने. : निवृत्तिमूलक कह सकते हैं क्या?

वि. : निवृत्तिमूलक भी नहीं कह सकते। निवृत्ति-के-लिए कह सकते हैं।

ने. : निवृत्त्यर्थ है।

वि. : ऐसा कह दीजिये।

ने. : उसके वाद ही निवृत्ति का क्रम है। प्रतिक्रमण की समाप्ति पर मानें, लेकिन प्रतिक्रमण तो कभी समाप्त होगा नहीं ?

वि. : दोषों-का-अभाव यानी प्रतिक्रमण-का-अभाव।

ने. : सब दोष अनुपस्थित हो जाएँगे, तो फिर उसके वाद यह प्रवृत्ति अपने आप उसके अनुसार हो जाएगी; उसका अनुगमन करेगी।

वि. : सामायिक नीरोग अवस्था है और प्रतिक्रमण रोग हटाने की प्रक्रिया है।

ने. : सामायिक नीरोग अवस्था है ?

वि. : हाँ, और प्रतिक्रमण उस रोग को हटाने की प्रक्रिया है, यानी यह औषधि का काम करता है।

ने. : प्रतिक्रमण औषधि है ?

वि. : प्रतिक्रमण औषधि तो है ही।

ने : फिर निदान ? रोग का निदान कैसे होगा ?

वि. : ज्ञान के द्वारा होगा।

ने. : किस प्रकार के ज्ञान के द्वारा ?

वि. : यदि रोग का अनुभव हो रहा है, दुःख का अनुभव हो रहा है, दुःख का अनुभव हो रहा है, तो मन कह रहा है कि यह ठीक नहीं है।

ने. : संकट तो यही है कि अभी रोगी को रोग का अनुभव नहीं हो रहा है।

वि. : नहीं हो रहा है न ? तो फिर वह नीरोग हो नहीं सकता।

ने. : गुरु के माध्यम से हो; गुरु ही तो निदान करेगा।

वि. : गुरु निदान कहाँ तक करेंगे ? अपना करेंगे, या पराये का। यह ध्यान रखना, डॉक्टर पेशेन्ट (रोगी) के पास नहीं जाते।

ने. : पेशेन्ट तो आता है।

वि. : आता है; वुला लेता है। फिर वाद में डॉक्टर जाते हैं।

ने. : जव पेशेन्ट आपके पास आयेगा, तव आप निदान करेंगे न ?

वि. : सोचूंगा, या पूछूंगा तो ज़रूर कि वह किसलिए आया है ?

ने. : मान लीजिए, मैं ही आपका पेशेन्ट हूँ।

वि. : समझ रहा हूँ (हँसी); कुछ 'पेशेन्ट' ऐसे होते हैं; जो औषधि खाने वाले नहीं होते; माथा खाने वाले होते हैं।

ने. : कोई-न-कोई आहारदान तो होता है। आते तो हैं, कुछ-न-कुछ खाने वाले। (हँसी)।

है। मैं भूला जा रहा हूँ; आप बता रहे थे कि जब मैं सामायिक में होता हूँ, तो बोलता नहीं हूँ; जब बोलता हूँ, तो सामायिक में नहीं होता हूँ। यह एक उत्कृष्ट अनुभव है। तब अनुभव को कैसे जाना जाए?

वि. : जब बोलता हूँ, तब समिति में होता हूँ।

ने. : तब थोड़ा विषयान्तर हो जाएगा।

वि. : यह विषयान्तर नहीं है। प्रतिक्रमण शाब्दिक नहीं है।

ने. : प्रतिक्रमण शाब्दिक नहीं है, सो तो ठीक है।

वि. : हम शब्द के साथ चलते हैं जैसे समता/सामायिक; आचार्यों ने कहा है कि स्वाध्याय-के-साथ प्रतिक्रमण संभव है; प्रतिक्रमण-में-स्वाध्याय संभव है। स्वाध्याय कोई आवश्यक नहीं है, किन्तु स्तुति और प्रतिक्रमण में स्वाध्याय गर्भित है, कुन्द-कुन्दाचार्य ने 'नियमसार' में लिखा कि जब उनसे पूछा गया कि स्वाध्याय को आपने आवश्यक नहीं बताया? तो उन्होंने समझाया कि प्रतिक्रमण और स्तुति में स्वाध्याय गर्भित है; किन्तु जब हम प्रतिक्रमण करते हैं, तब उसमें सामायिक गर्भित रहती है।

ने. : सामायिक में प्रतिक्रमण गर्भित है; प्रतिक्रमण में सामायिक गर्भित नहीं है।

वि : सामायिक तक पहुँचने के लिए प्रतिक्रमण एक रास्ता बनता है।

ने. : एक वीथि है।

वि : इसलिए यह प्रवृत्ति है; किन्तु सामायिक में प्रवृत्ति का अभाव है। यह बात अलग है कि मोक्ष/स्वभाव की ओर जाने के लिए प्रवृत्ति भी आवश्यक है; लेकिन प्रवृत्ति तो अन्ततः प्रवृत्ति ही है।

ने. : प्रतिक्रमण निवृत्तिपरक है।

वि. : नहीं; प्रतिक्रमण करने के उपरान्त निवृत्ति होती है।

ने. : निवृत्ति उसका लक्ष्य है?

वि. : हाँ।

ने. : और उस लक्ष्य तक पहुँचने पर तो निवृत्ति होना ही है।

वि. : बाद में होना है।

ने. : इसलिए मैंने कहा कि निवृत्ति नहीं, निवृत्तिपरक है।

वि. : निवृत्तिपरक भी नहीं कह सकेंगे; निवृत्ति-का-मार्ग है, ऐसा कहेंगे।

ने. : निवृत्तिमूलक कह सकते हैं क्या?

वि. : निवृत्तिमूलक भी नहीं कह सकते। निवृत्ति-के-लिए कह सकते हैं।

ने. : निवृत्त्यर्थ है।

वि. : ऐसा कह दीजिये।

ने. : उसके वाद ही निवृत्ति का क्रम है। प्रतिक्रमण की समाप्ति पर मानें, लेकिन प्रतिक्रमण तो कभी समाप्त होगा नहीं?

वि. : दोषों-का-अभाव यानी प्रतिक्रमण-का-अभाव।

ने. : सब दोष अनुपस्थित हो जाएँगे, तो फिर उसके वाद यह प्रवृत्ति अपने आप उसके अनुसार हो जाएगी; उसका अनुगमन करेगी।

वि. : सामायिक नीरोग अवस्था है और प्रतिक्रमण रोग हटाने की प्रक्रिया है।

ने. : सामायिक नीरोग अवस्था है?

वि. : हाँ, और प्रतिक्रमण उस रोग को हटाने की प्रक्रिया है, यानी यह औषधि का काम करता है।

ने. : प्रतिक्रमण औषधि है?

वि. : प्रतिक्रमण औषधि तो है ही।

ने : फिर निदान? रोग का निदान कैसे होगा?

वि. : ज्ञान के द्वारा होगा।

ने. : किस प्रकार के ज्ञान के द्वारा?

वि. : यदि रोग का अनुभव हो रहा है, दुःख का अनुभव हो रहा है; दुःख का अनुभव हो रहा है, तो मन कह रहा है कि यह ठीक नहीं है।

ने. : संकट तो यही है कि अभी रोगी को रोग का अनुभव नहीं हो रहा है।

वि. : नहीं हो रहा है न? तो फिर वह नीरोग है [illegible]।

ने. : गुरु के माध्यम से हो; गुरु ही तो निदान करेगा।

वि. : गुरु निदान कहाँ तक करेंगे? अपना [illegible] रखना, डॉक्टर पेशेन्ट (रोगी) के पास नहीं जाते।

ने. : पेशेन्ट तो आता है।

वि. : आता है; बुला लेता है। फिर [illegible]।

ने. : जव पेशेन्ट आपके पास आयेगा [illegible]

वि. : सोचूंगा, या पूछूंगा तो जरूर [illegible] ...ये

ने. : मान लीजिए, मैं ही आपका [illegible]

वि. : समझ रहा हूँ (हँसी); [illegible] वाले नहीं होते; माथा खाने वाले होते हैं। ...ल्य

ने. : कोई-न-कोई [illegible] वाले। (हँसी)।

वि. : यही तो कह रहा हूँ। एक बार समर्पित होने के उपरान्त वह औषधि यदि लेगा, तो नियम से उसका रोग मिट जाएगा।

ने. : अभी आपने समिति का उल्लेख किया था कि हम समिति में होते हैं, सामायिक में नहीं होते।

वि. : स्वाध्याय में समिति होती है।

ने. : इस बात को थोड़ा विस्तृत कर दीजिये।

वि. : समिति का अर्थ प्रवृत्ति होता है। सम्यक् चिन्तन का नाम समिति है।

ने. : जो पाँच समितियाँ हैं; इनमें इनका सन्दर्भ है।

वि. : ये गुप्ति के लिए हैं।

ने. : ये पाँचों। वह समिति कौन-सी है जिसका आप ज़िक्र कर रहे हैं; इसकी ओर ही आपका संकेत है न?

वि. : वही तो समिति है। प्रवृत्ति का नाम समिति है। सावधानी के साथ जो प्रवृत्ति है, उसमें समिति है।

ने. : इन्हें प्रवचन-माताएँ कहा गया है। पाँच और तीन।

वि. : जिस समय प्रवृत्ति होती है, उस समय सावधानी रखने का नाम समिति है। समिति का अर्थ है सावधानी : चलते समय, बोलते समय, खाते समय, आदि-आदि के समय।

ने. : क्रम में होगी।

वि. : क्रिया के साथ जो सावधानी होगी, उसका नाम समिति है।

ने. : तो इन पाँचों समितियों को भी आप सम्बद्ध करेंगे, प्रतिक्रमण से? ये सम्मिलित हो जाएँगी, या इन्हें सम्मिलित करना पड़ेगा?

वि. : सावधानी है तो हो ही जाएँगी।

ने. : अप्रमत्त होने की ज़रूरत है।

वि. : अप्रमत्त होने की आवश्यकता तो है ही। अप्रमत्तता के साथ प्रतिक्रमण होगा, तो फिर त्रिगुप्ति (मन-वचन-काय) आयेगी। और समितियाँ हैं : ईर्या (गमन), भाषा (वचन), एषणा (भोजन), आदान-निक्षेप (ग्रहण और स्थापना), उत्सर्ग (त्यागना)।

ने. : 'वोस्सिरामि' शब्द आता है। क्या यह दिगम्बर-परम्परा में भी चलता है? इसे बार-बार क्यों कहते हैं?

वि. : व्युत्सृजामि – छोड़ रहा हूँ।

ने. : कायोत्सर्ग की अवस्था में इसे कहा जाता है, या किसी भी प्रमाद के क्षण में इसे कहते हैं।

वि. : पाप को छोड़ते समय, अपने दोष को छोड़ते समय। दोषों को छोड़ने के लिए 'वोस्सिरामि'; और गुण-ग्रहण करते समय 'अब्भुट्ठामि' कहते हैं।

ने. : इन दोनों शब्दों का प्रयोग करते हैं।

वि. : 'अब्भुट्ठामि' यह गुण-ग्रहण के लिए है।

ने. : यह कव कहते हैं, वह कव कहते हैं?

वि. : एक अस्ति, एक नास्ति। उसे छोड़ देता हूँ, तो दूसरे को ग्रहण करता हूँ — क्या ग्रहण करता हूँ — व्रत ग्रहण करता हूँ, तो पाप छोड़ देता हूँ। वात एक ही है।

ने. : क्या प्रतिक्रमण को जीवन-शोधन की प्रक्रिया कह सकते हैं?

वि. : औषधि के द्वारा शोधन तो होता ही है।

ने. : प्रक्रिया कहें तो आपत्ति है? — जीवन-शोधन की प्रक्रिया।

ने. : कह सकते हैं।

ने. : या आत्मशोधन की प्रक्रिया कहें या आत्मानुशासन लाने की प्रक्रिया कहें?

वि. : कुछ भी कहें, दोषों का निवारण होना चाहिये — उनका विरेचन जरूरी है।

ने. : इससे दोषों का निष्कासन होना चाहिये। पढ़ते-पढ़ते 'निःशल्यीकरण' शब्द पढ़ने में आया। इसका संवन्ध भी प्रतिक्रमण से होगा।

वि. : नहीं; प्रतिक्रमण वाद में होता है। शल्य पहले होती है। शल्य का विमोचन व्रत के साथ होता है और दोषों के विमोचन के लिए प्रतिक्रमण आता है।

ने. : शल्य का विमोचन दोषों के पूर्व होगा।

वि. : जव व्रत लेते हैं; तव पापों का त्याग करते-करते कुछ शल्यें रह जाती हैं।

ने. : शल्य और दोष में कोई अन्तर है?

वि. : शल्य हमेशा चुभती रहती है।

ने. : चुभेगा तो दोप भी।

वि. : दोप अलग है। निःशल्य होने के उपरान्त भी दोप लग सकते हैं; लेकिन शल्य है, वह अपने आपमें दोष है; इसलिए शल्य को पहले निकाल दीजिये अर्थात् निर्विकल्प हो कर वता दीजिये कि व्रत चाहिये या नहीं?

ने. : स्पष्ट वताइये कि शल्य और दोष में क्या फ़र्क़ है?

वि. : वहुत फ़र्क़ है। जव व्रत लेते हैं, तव निःशल्य हो कर लेते हैं। शल्य थोड़ी पीड़ाजनक होती है।

ने. : दोष नहीं होता।

वि. : दोष अज्ञात भी हो सकता है। शल्य ज्ञात अवस्था में होती है। जान-बूझ कर रट रहे हैं। शल्य में सघनता है। दोष में सघनता भी हो सकती है; किन्तु वह बाद की घटना है।

ने. : बाद को पता लगता है कि दोष है। दोष शल्य बन सकता है।

वि. : दोष बाद में बनेगा।

ने. : पहले वह शल्य है, उसके बाद दोष है; फिर यदि दोष का पता लग जाए, तो वह शल्य है।

वि. : शल्य में सघनता आ जाए तो।

ने. : एक-दूसरे की पर्याय बदल सकती है—शल्य दोष में; दोष शल्य में।

वि. : शल्य का अर्थ है बाण।

ने. : ग्रन्थि।

वि. : आपने जब कूप (कुएँ) में बाल्टी छोड़ी, तब रस्सी में गाँठ थी; जैसे शल्य। बाल्टी रस्सी में बाँध कर कुए में छोड़ दी; छोड़ने के बाद आपने सोचा कि रस्सी में गाँठ थी, शल्य थी; उसे निःशल्य नहीं मानेंगे।

ने. : पानी वही बाल्टी लायेगी।

वि. : गिर्री पर से तो वह आयेगी न? गिर्री पर गाँठ अटकेगी। वह इधर-उधर गिरेगी; उसका सन्तुलन बिगड़ेगा।

ने. : उसे हम बचा कर डालेंगे। उस समय तो गाँठ देंगे ही।

वि. : नहीं; वह ग्रन्थि अलग है, यह ग्रन्थि अलग है। यह रास्ते में आने वाली ग्रन्थि है। वह संयम है।

ने. : वह संयम है। गाँठ संयम भी हो सकती है और शल्य भी।

वि. : इसमें क्या शक है?

ने. : इसमें यदि कोई बँधता है, तो वह संयम है, मर्यादा है; और बीच में कोई शल्य आती है, तो वह गाँठ है वह गिर्री को निर्विघ्न नहीं घूमने देगी। जो गाँठ बीच में पड़ गयी है, वह गिर्री के चलने में बाधक होगी—इसे शल्य कहेंगे। यह बहुत अच्छी उपमा है; इसलिए निःशल्यीकरण यानी निर्ग्रन्थता, ग्रन्थि-मोचन।

वि. : गाँठ-से-रहित रस्सी हमने छोड़ दी है—बिलकुल निःशल्य हो कर, उसके बाद खेंच रहे हैं—बाल्टी ऊपर आ गयी है। आते-आते बीच में रस्सी में जो त्रुटियाँ थीं—रेशे एक-एक करके टूटने लगे हैं; तड़्-तड़्-तड़् टूटने की आवाज़ आ रही है। आपने सोचा, अब बाल्टी को ऊपर तक लाना बड़ा कठिन है। अपने स्वयं को बहुत संयत बना रहे हैं; लेकिन कितने ही संयत बनें यदि खेंचेंगे तो बाल्टी को

ज़ोर लगेगा ही। थोड़ा-सा खेंचते हैं, तो तड़-तड़ आवाज़ आती है — आपको डर लगता है, कहीं बाल्टी छूट न जाए, इसे कहते हैं दोष।

ने. : यानी दोष में अन्तर्द्वन्द्व है।

वि. : दोष का अर्थ बाल्टी नहीं; पूरी-की-पूरी रस्सी बिगड़ गयी है; इसमें हो क्या रहा है कि बाल्टी तो आ रही है, लेकिन रेशे एक-एक कर टूट रहे हैं।

ने. : आशंका बनी हुई है।

वि. : गिरने की पूरी आशंका है।

ने. : एक भय बना हुआ है। यह दोष है।

वि. : यह दोष कहाँ तक है — निन्यानवेवें रेशे तक है; क्योंकि जहाँ तक रेशे हैं, बाल्टी गिरेगी नहीं; टूटेगी नहीं; लेकिन दुर्घटना की आशंका पूरी है।

ने. : भीति बनी रहेगी।

वि. : इसलिए प्रतिक्रमण दोषों-का-परिमार्जन करते रहना है।

ने. : रेशे-से-रेशा जोड़ देते हैं।

वि. : हाँ।

ने. : तब बाल्टी नहीं गिरती। बाल्टी में जल है, यानी जीवन है। जीवन हम गहराई में-से लाये हैं। यह बहुत बढ़िया उपमा है। निःशल्यीकरण होने का मतलब ही यह है।

वि. : दूसरी बात है; आपकी रस्सी बिलकुल ठीक है, लेकिन दोष अलग काम करता है, शल्य अलग। वह गाँठ जब गिर्री पर आयेगी, तो बाल्टी का सन्तुलन बिगाड़ देगी।

ने. : डिब्बा पटरी पर से उतर जाएगा।

वि. : बिलकुल ठीक।

ने. : वह दुर्घटनाग्रस्त होगी।

वि. : यह भी ठीक है।

ने. : शल्य होगी, तो दुर्घटना होगी और दोष होगा, तो भी वह होगी; लेकिन धीमी (स्लो) होगी। उसका परिमार्जन संभव है।

वि. : उसमें गुंजाइश है। तीन-चार हाथ नीचे बाल्टी है। अब खेंचना बन्द कर देते हैं और उसे हाथ से थाम लेते हैं। जो मेधावी होगा, वह यही करेगा।

ने. : वह रस्सी को दुरुस्त करेगा। क्या रस्सी को शरीर मान लें।

वि. : शरीर नहीं।

ने. : रूपक-मात्र मानें। रस्सी को यह मानें, बाल्टी को वह मानें, यह ठीक

ने. : श्रावक और श्रमण – इन दोनों के प्रतिक्रमण में कोई अन्तर आयेगा?

वि. : व्रतों में जो दोष रहते हैं, उनके निवारणार्थ प्रतिक्रमण होता है।

ने. : जो साधु प्रतिक्रमण करेगा, क्या यह आवश्यक है कि वह अपने आचार्य के सम्मुख ही उसे करे?

वि. : हाँ।

ने. : और गृहस्थ करे तो?

वि. : गृहस्थ के लिए प्रतिक्रमण है व्रतों की अपेक्षा से।

ने. : वह उसे आत्मोन्मुख करेगा, या किसी अन्य के समक्ष?

वि. : यदि घर में रहेगा, तो किस प्रकार करेगा? भगवान् के सम्मुख ही करेगा।

ने. : क्या सामायिक में भी यही विधि होगी?

वि. : सामायिक में वह अकेला होता है।

ने. : अकेला होता है; लेकिन उसकी कोई विधि तो है?

वि. : विधि है; क्यों नहीं होगी?

ने. : वही तो मैं पूछ रहा हूँ; थोड़े में उसे जानना चाहता हूँ।

वि. : सामायिक, सच पूछा जाए तो, पाँच पापों से निवृत्त होना है।

ने. : यह तो उसका लक्ष्य है। विधि क्या है?

वि. : नहीं; यही विधि है; पहले संकल्प बना लीजिये। यदि गृहस्थ करता है, तो वह काल-निर्धारित कर ले कि मैं इतने समय तक के लिए आरंभ आदि परिग्रहों का त्याग करता हूँ। इस अवधि में मेरा कोई भी नहीं है। मैं केवल आत्मा हूँ – यह संकल्प ले वह, जितने काल के लिए चाहता है उतने के लिए, वन्दना करके चारों दिशाओं में।

ने. : किस दिशा से शुरू करना चाहिये इसे?

वि. : पूर्व, या उत्तर से।

ने. : उत्तर से शुरू करें।

वि. : हाँ; उत्तर से, उत्तरमुख हो कर।

ने. : पूर्वमुख करें तो?

वि. : करें।

ने. : पूर्व में इसलिए कि वहाँ से सूर्योदय है, वह प्राची माँ है।

वि. : कोई खास लक्ष्य तो नहीं है; लेकिन वैज्ञानिक गुण-धर्म ले कर चलेंगे।

ने. : अव प्रश्न उठेगा कि पश्चिम मे शुरू क्यों नहीं करते ?

वि. : पश्चिम सूर्यास्त की दिशा है इसलिए।

ने. : सामायिक में यदि हम आत्मचिन्तन के लिए बैठेंगे; तो उसका देह पर या प्रभाव पड़ेगा ?

वि. : देह पर, कर्म पर, चिन्तन पर—सर्वत्र पड़ेगा।

ने. : दक्षिण की ओर से जो आरम्भ किया जाता है। वह ज्यादा फलप्रद हीं होता है ?

वि. : सुना है, इससे वुद्धि का नाश होता है।

ने. : एक साइकिल (प्रभाव-चक्र) वन जाती है।

वि. : उत्तर की ओर सिर नहीं करना चाहिये; दक्षिण की ओर सिर और उत्तर की ओर पैर।

ने. : साइकल, या चुम्वकीय वृत्त वन जाता है, ऐसा वैज्ञानिक मानते हैं।

वि. : सूर्य की जो प्रदक्षिणा है, सुमेरु की जो परिक्रमा है, जितने ज्योतिप मण्डल हैं, उनकी; प्रदक्षिणा भी इसी प्रकार होती है।

ने. : दायें से वायें।

वि. : हाँ।

ने. : वैसे हम किसी भी दिशा मे शुरू कर सकते हैं। विधि में हम जहाँ खड़े हों, वहाँ सर्वप्रथम क्या करें ? शिरोनति क्या है ?

वि. : सामायिक की पूर्वावस्था।

ने. : सामायिक में आने की विधि का प्रश्न है।

वि. : शिरोनति यानी सिर झुका कर अंजलिवद्ध नमस्कार। इसका भावार्थ है नम्रता। पंचपरमेष्ठी के प्रति विनय।

ने. : उसके वाद चारों दिशाओं में इसी तरह होगा।

वि. : तीन आवर्तों के साथ।

ने. : इसका आदर्श समय क्या है ? सामायिक कितनी अवधि तक होनी चाहिये ?

वि. : ४८ मिनिट; एक मुहूर्त।

ने. : इससे अधिक भी हो सकती है। कम-से-कम यह है।

वि. : क्योंकि ध्यान जव भी होता है, वह ४८ मिनिट की सीमा में ही होता है।

ने. : ४८ मिनिट के पीछे भी क्या कोई युक्ति है ?

वि. : छद्मस्थ का उपयोग इतने समय ही टिक पायेगा।

ने. : एकाग्रता का क्या अर्थ है?

वि. : व्यग्रता का अभाव।

ने. : व्यग्रता की अनुपस्थिति का नाम एकाग्रता है।

वि. : व्यग्रता के निरोधार्थ एकाग्रता का प्रयोग है।

ने. : शिरोनति आदि तो दो-चार मिनिटों में समाप्त हो जाएँगे, क्या णमोकार मन्त्र की भी कोई भूमिका सामायिक में है।

वि. : है; वन्दना के समय।

ने. : किस प्रकार।

वि. : नौ बार णमोकार मन्त्र कहें। जब कायोत्सर्ग करें चारों दिशाओं में—तब भी णमोकार मन्त्र बोलें

ने. : कायोत्सर्ग से यहाँ मतलब?

वि. : २७ श्वासोच्छ्वासपूर्वक णमोकार मन्त्र।

ने. : श्वासोच्छ्वास की यहाँ क्या सार्थकता है?

वि. : जो अ-स्वस्थ होगा, उसे ही बता सकेंगे।

ने. : मुझे अस्वस्थ मान लीजिये। हूँ तो स्वस्थ। (हँसी)।

वि. : वस्तुतः णमोकार मन्त्र परवर्ती संयोजना है। मूल में ऐसा नहीं है। प्रत्येक दिशा में २७ श्वासोच्छ्वास के ३ आवर्तों का विधान है।

ने. : इस तरह १०८ श्वासोच्छ्वास हो जाएँगे। यह तो १२-१४ मिनिट में समाप्त हो जाएगा, फिर क्या करेंगे?

वि. : अपने जो श्वासोच्छ्वास हैं, तदनुरूप ही इसे कर लेना चाहिये, क्या इसे आप पूरी-की-पूरी सामायिक में कर नहीं रहे हैं, दिशाओं के कायोत्सर्ग में २७ श्वासोच्छ्वास का विधान है।

ने. : और अधिक-में-अधिक?

वि. : ऐसा कुछ नहीं है। चारों दिशाओं में जो वन्दना करते हैं। उसमें इतना पर्याप्त हैं।

ने. : शेष जो समय बचेगा, उसमें क्या होगा?

वि. : पात्र के अनुरूप चिन्तन।

ने. : अर्थात्
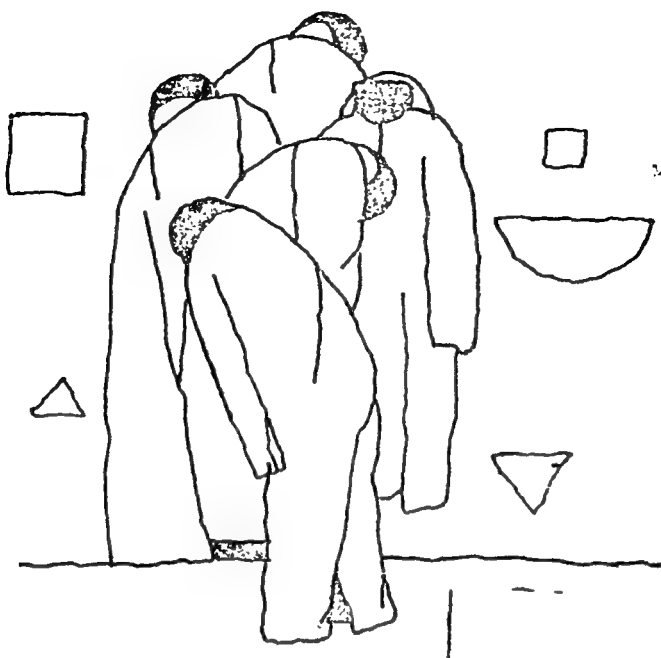
वि. : इसके बाद जो समय बचे, उसमें सोचें कि 'मैं शरीर से भिन्न हूँ, यह शरीर शरण-योग्य नहीं है। यह दुःख-रूप है। यह अनात्म है; अतः यह भावना ही आत्मोत्थान देगी। शरीर से ऊपर ले जाएगी। हम सोचें कि इसमें क्या-कैसा भरा है? सात धातुओं (रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र) के अलावा इसमें कुछ नहीं है। आश्चर्य है कि इन सात धातुओं का नाम लेते ही वैराग्य होता है; लेकिन सात धातुओं वाले का नाम लेते ही राग होता है!

ने. : इस गड़बड़ का अनुचिन्तन करना चाहिये।

वि. : यह भेद-विज्ञान है। भेद-विज्ञान के माध्यम से ही सम्यक्त्व संभव है।

ने. : स्थिरता भेद-विज्ञान से ही बनेगी। सामायिक-समापन की कोई विधि है?

वि. : जैसे आपने अंगीकार किया था, ठीक वैसे ही समाप्त कर लीजिये। उसी तरह चारों दिशाओं में शिरोनति तथा आवर्तपूर्वक।

ने. : कृतकृत्य हुआ आपके इस सत्संग से। देखें, अब कब ऐसा भाग्यशाली प्रसंग उपस्थित होता है? □□

प्रतिक्रमण/सामायिक : परिवर्तन-परिवर्धन की आवश्यकता

आचार्यश्री तुलसी/डॉ. नेमीचन्द जैन : जोधपुर, २३ जुलाई, १९८४

डॉ. नेमीचन्द जैन : दिगम्बरों में सामायिक और श्वेताम्बरों में प्रतिक्रमण को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है; ऐसी स्थिति में मैं आपसे प्रतिक्रमण पर विचार करने जा रहा हूँ। यह एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसने श्रावकों और श्रमणों दोनों को प्रभावित किया है। मैं तेरापंथ द्वारा प्रकाशित 'सचित्र श्रावक प्रतिक्रमण' को पढ़ रहा था, जिसकी 'प्रस्तुति' में आपने लिखा है : 'जैन परम्परा में साधुओं की भाँति श्रावकों के लिए भी प्रतिक्रमण करने की विधि रही है, पर वह सब परम्पराओं में एकरूप नहीं है। प्राकृत, गुजराती, राजस्थानी आदि भाषा-भेद के साथ भावना और विधि में भी अन्तर है।' (पृष्ठ ४)। मैं जानना चाहूँगा कि भावना में क्या अन्तर है?

आचार्य तुलसी : यहाँ भावना का अर्थ है, अभिव्यक्ति; जैसे, प्राकृत भाषा में विचार आये हैं, गुजराती और हिन्दी में भी आये हैं; इनकी भावनाओं की अभिव्यक्ति में अन्तर आया है।

ने. : प्राकृत में प्रतिक्रमण को लेकर जो भावना, या विचार हुआ है, अथवा जो गुजराती या हिन्दी में है; उसमें क्या अन्तर हुआ है?

तु. : स्तुतियों को अधिक महत्त्व मिल गया है। प्राकृत में जो लिखी गयी हैं।

ने. : 'लोगस्स' के अलावा।

तु. : वह तो है ही। अमुक-अमुक स्तुतियों के बड़े पाठ दे दिये गये हैं।

ने. : आधुनिक भाषाओं में आने के कारण ही शायद यह अन्तर आ गया है?

तु. : वह तो हुआ ही है; उसके पहले भी हुआ है, प्राकृत में भी ऐसा हुआ है।

ने. : समय जैसे-जैसे बीतता गया, अन्तर आता गया। मैं जानना चाहूँगा कि यह जो श्रावक प्रतिक्रमण करता है और श्रमण को जिस प्रतिक्रमण की स्वीकृति है, इन दोनों में कोई मूलभूत अन्तर है?

तु. : रहेगा। साधु महाव्रती है; श्रावक अणुव्रती है। महाव्रतों की आलोचना श्रमण-प्रतिक्रमण के अनुरूप होगी। श्रावक अणुव्रती है, उसकी आलोचना बारह व्रतों के अनुरूप होगी।

ने. : श्रावकाचार अथवा श्रमणाचार के अनुसार यह अन्तर रहेगा; क्या विधि में कोई अन्तर है?

तु. : यों वह एक-जैसी ही है, लेकिन अतिचारों के उच्चारण में अन्तर आ जाएगा।

आचार्यश्री तुलसी से चर्चा करते हुए डॉ. नेमीचन्द जैन

ने. : पहले अतिचार कितने थे ?

तु. : निन्यानवे। बोलने में भी अन्तर पड़ता है।

ने. : यदि श्रमण जिस तरह प्रतिक्रमण करता है, श्रावक भी वैसे ही करने लगे, तो इसमें कोई आपत्ति है ?

तु. : वह स्वाध्याय होगा, प्रतिक्रमण नहीं।

ने. : श्रमण का प्रतिक्रमण यदि श्रावक करे, तो वह उसके लिए स्वाध्याय हो जाएगा। उसे दिशा तो इससे मिलेगी ही। जानना चाहूँगा कि प्रतिक्रमण का लक्ष्य क्या है ?

तु. : लक्ष्य है कि 'चलें, वापस चलें'। दिन में, रात में जब भी हम अपनी सीमा से बाहर चले आये हों, तब वापस लौट आयें; यह वापसी ही प्रतिक्रमण है। दिन-भर, या रात-भर के आचार की आलोचना करना, उसका चिन्तन करना; तथा ऐसा करते हुए अपने मूल स्थान पर लौटना, प्रतिक्रमण का मुख्य लक्ष्य है।

ने. : प्रश्न उठता है कि मूल का बोध हमें सतत् रह भी पाता है, या नहीं ?

तु. : रहना चाहिये। प्रायः हम भूल जाते हैं। कभी-कभी ऐसा लगता है कि हम भटक जाएँगे। भटकाव हो सकता है। मेरा विश्वास है, जब तक हम छद्मस्थ हैं, तब तक भटकाव संभव है। कभी-कभी आदमी अपनी आन्तरणिक परिधि से बाहर चला आता है।

ने. : प्रतिक्रमण इस भटकाव से बचने का उपाय है ?

तु. : है; भटकाव से वापस होने का अचूक उपाय है। शास्त्रों ने तो यहाँ तक कहा है कि यदि प्रतिक्रमण विधिवत् किया जाए, तो उत्कृष्ट क्रम में तीर्थंकर-गोत्र का बन्ध होता है। मैं मानता हूँ कि यह एक बहुत बड़ा कारण है। तीर्थंकर-गोत्र का बन्ध इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है; महत्त्वपूर्ण है उसके साथ होने वाली निर्जरा। इसमें मात्र पुण्य-का-बन्ध ही नहीं है; बहुत बड़ी निर्जरा भी है; तब पुण्य-बन्ध है। इस निर्जरा के कारण ही मैं कहता हूँ कि यह एक बहुत महत्त्व की स्थिति है।

ने. : प्रतिक्रमण से संवर होगा, या निर्जरा होगी।

तु. : मुख्यतया निर्जरा होगी।

ने. : तब संवर का उपाय क्या है ?

तु. : प्रत्याख्यान। छोड़ना। जहाँ शुभ योग का मानसिक-वाचिक-कायिक त्याग होगा, वहाँ निर्जरा ही मुख्यतया होगी।

ने. : इसका मतलब यह हुआ कि प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान की पूर्वक्रिया है ?

तु. : हम संकल्प करते हैं कि ऐसा प्रयत्न करेंगे। यह संवर हुआ। बाद को जब शोधन की प्रक्रिया चलेगी, तब वहाँ निर्जरा होगी।

ने. : कुल मिला कर इसका उद्देश्य क्या है ?

तु. : अपनी आत्मा को 'स्नात' करना, जो इधर-उधर से मलिनता आ गयी है, उस मल को हटा कर शुद्ध करना।

ने. : इसका मुख्य आधार क्या होगा ?

तु. : वही, जो 'आवश्यक' का है। आवश्यक-सूत्र में इसका विवेचन हुआ है। इसे ले कर ही हम चलते हैं। बाद को इसमें बहुत परिवर्तन हुआ है; किन्तु मूल वही है। उत्तरवर्ती ग्रन्थों में परिवर्तन कर दिया गया है।

ने. : इस 'परिवर्तन' को संक्षेप में बतायेंगे ?

तु. : मूलतः षडावश्यक हैं, इनकी विधि भी है। हमने क्या किया है कि अतिचारों को हिन्दी में विवृत कर दिया है; क्योंकि सब लोग प्राकृत नहीं जानते; संस्कृत भी नहीं जानते; और यदि इस तरह बिना जाने प्राकृत में प्रतिक्रमण करेंगे, तो वह भाव-प्रतिक्रमण नहीं होगा; अतः भाव-प्रतिक्रमण कैसे करें; इस हेतु से अतिचारों को हिन्दी, या गुजराती में दे दिया गया, ताकि उसे सहज ही समझा जा सके। इस तरह क्रमशः परिवर्तन आता गया। अन्तिम परिवर्तन हमने किया है।

ने. : आपने यह कौन-से वर्ष में किया है ?

तु. : इसी वर्ष।

ने. : मुख्य परिवर्तन क्या है ?

तु. : अतिचार मारवाड़ी में थे, गुजराती में थे; किन्तु हिन्दी में नहीं थे। कुछ अतिचार ऐसे भी थे, जो आज की परिस्थिति में अनावश्यक हैं; उस समय आवश्यक थे।

ने. : आपने सब कुछ समकालीन बना दिया।

तु. : हाँ।

ने. : माना जाए कि आपने कुछ अंश हटा दिये हैं; और कुछ जोड़ दिये हैं?

तु. : मूल अतिचारों में नहीं। जो भाषा में आ जुड़े थे; बीच-बीच में बदला उन्हें है। मूल का तो हमने पद्यानुवाद कर दिया है। 'श्रावक-प्रतिक्रमण' में यह हुआ है; उन अतिचारों को हमने सायास और सविवेक पद्यबद्ध किया है। अब जब इन्हें करने बैठते हैं, तब बड़ा आनन्द आता है।

ने. : चिन्तनात्मक काव्य के रूप में आपने उसे रख दिया है। यह तो स्वाध्याय हो गया। संगीत में आपकी सहज रुचि है, तो क्या 'श्रावक-प्रतिक्रमण' में आपने संगीत का ध्यान रखा है?

तु. : हाँ; यदि चाहें तो इसे सब एक साथ गा सकते हैं।

ने. : प्रतिक्रमण व्यक्ति के लिए ही अधिक उपयोगी है। एक शब्द आया है 'सामूहिक प्रतिक्रमण'। प्रतिक्रमण जब व्यक्ति करता है, तब वह प्रक्रिया मेरे हिसाब से बहुत समीचीन और उपयोगी है; किन्तु क्या सामूहिक प्रतिक्रमण भी हो सकता है?

तु. : होता तो वह व्यक्तिगत ही है। ध्यान व्यक्तिगत है, किन्तु सामूहिक ध्यान भी हो सकता है। एक साथ बैठ गये और ध्यान शुरू कर दिया। सामूहिकता का अपना महत्त्व है। प्रतिक्रमण भी सामूहिक हो सकता है। समूह में व्यक्ति सावधान रहता है, अधिक प्रमाद नहीं कर पाता।

ने. : नियमितता भी बन जाती है।

तु. : सब साधु बैठ कर कर लेते हैं। सामूहिक प्रतिक्रमण में भी आनन्द आता है।

ने. : अधिक उपयोगी व्यक्ति-प्रतिक्रमण है, लेकिन सामूहिक प्रतिक्रमण करने पर एक आध्यात्मिक लय, या तर्ज़ बन जाती है।

तु. : उसमें जल्दबाजी नहीं होती।

ने. : समत्व की भावना भी आती है।

तु. : हाँ।

ने. : प्रतिक्रमण की फलश्रुति क्या है; परिणाम क्या निकलता है?

तु. : यही कि जिस समय हम प्रतिक्रमण करते हैं, उस समय हमारे ध्यान में आता है कि आज हमने क्या ग़लतियाँ कीं; क्या अनुचित किया, आगे क्या नहीं

करना है, यह सब स्वयमेव अन्तर्ध्वनित होता है। इस दिशा में चिन्तन चलता है। कई बार ऐसा होता है कि आंसू आ जाते हैं: 'अरे, कहां चला गया था?' करुणा के भाव आ जाते है। प्रतिक्रमण में हम बहुत हल्के हो जाते हैं। इसे मैं महत्त्व की फलश्रुति मानता हूँ। इससे हम उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं। आप तो जानते ही हैं कि आज का युग मिश्रण का युग है, इस मिश्रण से हम बिलकुल बचे रहना चाहते हैं।

ने. : आपने 'मिश्रण' कहा है। मैं 'अपमिश्रण' कहूंगा।

तु. : बिलकुल ठीक है। हम इससे अलग रहना चाहते हैं। इस बचाव में प्रतिक्रमण हमारा बहुत बड़ा सहयोगी बनता है।

ने. : एक रासायनिक प्रयोगशाला है, उसमें तीन-चार चीजों से मिश्रण (कम्पाउण्ड) बन जाता है। फिर हम उस मिश्रण को अलग-अलग करते हैं। क्या प्रतिक्रमण भी पृथक्कीकरण की वैसी ही प्रक्रिया है?

तु. : है; प्रतिक्रमण शोधन-की-प्रक्रिया है।

ने. : जीवन-शोधन की, आत्मशोधन की।

तु. : हम अनुभव करते हैं कि प्रतिक्रमण किया और एकदम शान्त हो गये। हमेशा नहीं; कभी-कभी ऐसा होता है। हमें इससे शान्ति और आनन्द मिलता है; इसीलिए हम इसे बहुत महत्त्व देते हैं।

ने. : जब कोई साधु अथवा श्रावक प्रतिक्रमण में होता है, तब उसका भीतरी अनुभव क्या होता है? इसे यदि शब्दों में दिया जा सके, तो अवश्य दीजिये।

तु. : शब्द देना तो कठिन है। दूसरे यह कि प्रतिक्रमण प्रायः पारम्परिक ही होता है; इसलिए कई बार कोई अनुभव ही नहीं होता; लेकिन आत्मा जैसे-जैसे ऊपर उठती है, वैसे-वैसे वह ज्ञान-प्रधान बनती जाती है।

ने. : ठीक है।

तु. : जब प्रतिक्रमण में आत्मा डूबती है, तब वह चिन्तन-प्रधान बन जाती है। ऐसे लोगों का प्रतिक्रमण मूल्यवान् होता है। हमारे कई साधु प्रतिक्रमण को ध्यानावस्था मानते हैं। वे ध्यान में प्रतिक्रमण करते हैं। ध्यानावस्था में अद्भुत प्रतिक्रमण होता है, शब्दातीत।

ने. : अद्भुत शब्द सुन कर मैं बहुत प्रसन्न हूँ; लेकिन 'अद्भुत' यानी क्या? एक-दो वाक्यों में इसे बताइये।

तु : 'अद्भुत' का अर्थ है 'असाधारण'। मैं बताता हूँ। इसे अहं न समझें। मैं जब प्रतिक्रमण करता हूँ, तब मुझे लगता है कि यदि सब-के-सब लोग प्रतिक्रमण करें, तो कितना अच्छा हो! जब कोई साधु प्रतिक्रमण करे, तब पहले वह तल्लीन ('तत्' लीन) हो जाए। सारे दोष दिमाग़ से निकाल फेंके। अपनी सम्यक् आलोचना

करे; यह कि उससे कौन-कौन-सी ग़लतियाँ हुई हैं। पर्दा बिल्कुल न रखे। फिर देखे कि कौन-सी ग़लती वस्तुतः हुई है। उसका स्वतन्त्र प्रायश्चित्त करे। कभी-कभी प्रतिक्रमण में विगत ग़लतियाँ भी याद आ जाती हैं। इनके याद आने पर उनका अलग से प्रायश्चित्त करे। हमें मालूम पड़ता जाता है कि कौन साधु कितना सहज है; उसने अपने भीतर की ग़लती हमें बता दी है, या नहीं?

ने : प्रायश्चित्त गुरु के सामने ही होगा। उसकी प्रक्रिया क्या है?

तु : साधु आयेगा और अपना हृदय खोल कर रख देगा कि आज मुझसे यह ग़लती हुई है। मेरी आत्मा काँप उठी है। अब मैं इसका प्रायश्चित्त करता हूँ। गुरु कहता है: 'ठीक है, हम इसका प्रायश्चित्त किये देते हैं। तुम स्वीकार करो।' गुरु प्रायश्चित्त थोपता नहीं है। वह बतला देता है कि अमुक पाप का अमुक प्रायश्चित्त है।

ने : यह तो आध्यात्मिक प्रजातन्त्र ही हुआ।

तु. : साधु स्वयं आता है। आ कर अपनी ग़लती बताता है। ग़लती कभी-कभी इतनी गंभीर होती है कि उसे आप किसी को बतला नहीं सकते, लेकिन वह हमें बतलाता है।

ने. : प्रायश्चित्त का कोई उदाहरण दें कि जब आपका कोई शिष्य आपके सामने प्रस्तुत हुआ है और प्रतिक्रमण की प्रक्रिया चल रही है।

तु. : पहली घटना भिक्खु स्वामीजी की है। जब वे विहार करने जा रहे थे, तब दूसरे संघ का एक साधु आया; और बोला कि मैं आप से अलग से बात करना चाहता हूँ। उन्होंने सबको अलग कर दिया। पाँच मिनिट बातचीत की। वापस आये। उनके उत्तराधिकारी प्रिय शिष्य ने उनसे पूछा कि वह साधु आपसे क्या बात कर रहा था? आचार्य भिक्खुजी ने कहा: 'मैं बता नहीं सकता'। शिष्य ने समझा कि प्रायश्चित्त की बात थी, अतः नहीं बतायी। पहले उसने समझा था कि वह साधु संघ में आने की बात कर रहा होगा। उन्होंने अपने प्रिय शिष्य को भी कुछ नहीं बताया। इसे मैं एक उल्लेखनीय घटना मानता हूँ। कई साधु मेरे पास आते हैं और आ कर कहते हैं कि आज मुझसे बहुत स्खलना हो गयी। मेरा मन वासनामय हो गया। मैं 'आपे' से बाहर निकल गया; अतः मैं आपके पास आया हूँ, आप मुझे प्रायश्चित्त दीजिये। मैं उन्हें प्रायश्चित्त बताता हूँ।

ने. : क्या प्रायश्चित्त बताते हैं?

तु. : दो प्रकार के प्रायश्चित्त बताते हैं: तपस्या, ध्यान। किसी को सेवा भी बताते हैं; जैसे — रुग्ण साधु की परिचर्या। इससे उसका मन उल्लसित हो उठता है। वह सोचता है: मेरा काम पूरा हो गया। हम भी यह मानते हैं कि इस तरह उसका जीवन स्वच्छ हुआ है।

ने. : उसकी क्षमता और पात्रता के अनुरूप प्रायश्चित्त बताते हैं। यदि कोई

स्थूलग्राही है, तो उसे उपवासादि बता देते हैं; यदि कोई सूक्ष्मग्राही है, तो उसे ध्यान आदि बताते हैं, और यदि उसकी सामाजिक प्रवृत्ति है, तो सेवा, वैयावृत्त्य आदि बता देते हैं।

तु. : यदि ऐसा कोई अतिचार हुआ हो, जो बहुत प्रसिद्ध हो गया हो, तो फिर उसका प्रसिद्ध प्रायश्चित्त देते हैं; ताकि सबको विश्वास हो जाए कि इसका ऐसा प्रायश्चित्त होता है। यदि कोई जानता नहीं है; तो उसे व्यक्तिगत बता देते हैं; लेकिन यह होता निश्चित ही है। यह आवश्यक विधि है। कोई साधु ग़लती करता है, कर सकता है, चूँकि छद्मस्थ है; इससे हम इनकार नहीं करते, पर हमारे यहाँ ग़लती आगे चल नहीं सकती। साधु-साध्वियाँ/श्रावक-श्राविकाएँ भी ग़लती होने पर फौरन हमारे पास आ जाते हैं कि अमुक ने ग़लती की है; तब हम बताते हैं कि इसका यह प्रायश्चित्त करना होगा। यदि वह प्रायश्चित्त नहीं करेगा; तो हम उसे (संघ से) अलग कर देंगे; फिर वह टिक नहीं सकेगा। आपको एक घटना सुनाता हूँ।

ने. : अवश्य सुनना चाहूँगा।

तु. : संघ में एक वयोवृद्ध साधु थे। अच्छे पढ़े-लिखे, व्याख्यानी साधु थे। इतना अच्छा व्याख्यान वे देते थे कि हज़ारों लोग सहज ही इकट्ठा हो जाते थे। यह आज से तीस वर्ष पहले की बात है।

ने. : आपने तो ग्यारह वर्ष में ही दीक्षा ले ली थी।

तु. : वे मुझसे बड़े थे। पूर्व दीक्षित थे। उनसे भी ग़लती हो गयी। वे चातुर्मास-हेतु पहुँचें, इससे पहले उनकी ग़लती पहुँच गयी।

ने. : ग़लती शायद तेज चलती है।

तु. : बहुत तेज; मैंने कहा कि वे आयेंगे, तो पूछ लेंगे। वे आये; इस बार उन्हें ज्वर हो गया था। मैंने कुछ नहीं कहा। जब ज्वर हलका पड़ा, तब मैंने उन्हें बुलाया और पूछा कि आपने यह ग़लती की है? उन्होंने इनकार कर दिया।

ने. : कठिनाई खड़ी हो गयी।

तु. : उनके साथ दो साधु और थे। उन्हें बुला कर पूछा। उन्होंने बताया कि ग़लती तो हुई है। मैंने सोचा : इसका फैसला अवश्य करना चाहिये।

ने. : अनुशासन की दृष्टि से।

तु. : मैं रात आठ बजे बैठा। आठ के ग्यारह बज गये । सब साधु सो गये। मैं बैठा रहा। रात के बारह बज गये। उन्होंने स्वीकार नहीं किया।

ने. : समाधान सामने नहीं आया।

तु. : मैं उन पर कुछ थोप नहीं सकता था। दूसरा कहे कि उसने ग़लती की है; तो भी उसके कहने से मैं स्वीकार नहीं कर सकता था। जब तक वह स्वयं स्वीकार नहीं करे, तब तक कुछ भी थोपना उचित नहीं था।

ने. : प्रतिक्रमण में आत्मस्वीकृति महत्त्वपूर्ण है।

तु. : मैंने उन्हें समझाइश दी। करते-कराते उनके मुँह से एक शब्द निकला कि आप मुझे सोचने का समय दीजिये।

ने. : यह प्रारंभ हुआ।

तु. : पकड़े गये। सोचने की बात तो थी नहीं। आपसे कुछ छिपी है नहीं; पकड़े गये। मैंने सोचा, ग़लती तो हुई है। मैंने कहा कि आपके साथ वाले साधु क्या कह रहे हैं? तब उन्होंने कहा कि ये साधु मेरी-ही-मेरी ग़लती बताते हैं। इस तरह वे दोबारा पकड़े गये। इसका मतलब यह हुआ कि उन्होंने ग़लती तो की थी।

ने. : पुष्टि हुई।

तु. : रात के साढ़े बारह बज गये। मैंने प्रमुख साधुओं को जगाया। तय कर लिया कि सुबह होने से पहले-पहले इसका फ़ैसला करूँगा।

ने. : मलिन सूर्योदय क्यों हो; स्वच्छ सूर्योदय होना चाहिये।

तु. : मैं कैसे सो सकता था? दायित्व था। जो-जो प्रमुख साधु थे, वे सब उठ गये। मैंने कहा कि स्थिति यह है कि ग़लती इनसे हुई है; किन्तु ये मंजूर नहीं कर रहे हैं। पकड़ में आ गये हैं, फिर भी मंजूर नहीं कर रहे हैं। क्या करना चाहिये? आप इन्हें समझायें कि ग़लती मंजूर कर लें, ताकि मैं उसका संशोधन कर सकूँ। बड़ी-से-बड़ी ग़लती की हो, तो भी उसका शोधन है। मंजूर नहीं करेंगे, तो मैं प्रायश्चित्त नहीं बता सकूँगा। मैं इन्हें संघ में नहीं रखूँगा। पकड़ में आने पर वे मन-ही-मन समझ गये; लेकिन आदमी में अहं होता है। आखिर उन्होंने मंजूर नहीं किया।

ने. : प्रतिक्रमण में तो 'अहंकार' का विसर्जन होता है। उन्होंने स्वीकार नहीं किया।

तु. : छद्मस्थ अवस्था है। रात को दो बजे मैंने उनका संघ-विच्छेद कर दिया। संबन्ध-विच्छेद कर फिर मैं शान्ति से सो गया। वे चले गये।

ने. : जो भी हुआ हो।

तु. : तेरापंथ से निकले हुए साधुओं की संख्या बहुत है। यह तो एक घटना है; ऐसी कई घटनाएँ हैं। मैं इन्हें आयी-गयी नहीं कर सकता, क्योंकि तेरापंथ का नियम ही ऐसा है। आचार्य पर सब लोग इतना अटूट विश्वास करते हैं कि उसे पूरी निष्ठा से निभाना होता है; और यदि वही विश्वासघात कर बैठे तो···।

ने. : तो फिर रह ही क्या जाता है?

तु. : हमारे साधुओं से ग़लतियाँ हो सकती हैं, लेकिन ग़लतियाँ चल नहीं सकतीं।

ने. : प्रतिक्रमण एक तरह से ग़लतियों का परिष्कार है; एक दिशा-दर्शन भी है।

तु. : मैं यह मानता हूँ कि प्रतिक्रमण केवल प्रातःकाल या सायंकाल ही नह होता, जीवन-पर्यन्त चलता रहता है।

ने. : वह अनियतकालिक होना चाहिये।

तु. : हाँ; हर समय, चलते समय भी; प्रतिक्रमण एक बार नहीं, दिन में अनेक बार करना होता है।

ने. : दैवसिक, रात्रिक आदि प्रतिक्रमण अभ्यास के लिए हैं।

तु. : हाँ।

ने. : जब स्थिति बदली हुई दिखायी देती है, तब कभी भी इसे किया जा सकता है। यह वस्तुतः साधु-जीवन का एक अभिन्न अंग है।

तु. : बिलकुल ठीक।

ने. : सामायिक भी आवश्यकों में से एक है। सामायिक दिगम्बरों में और प्रतिक्रमण श्वेताम्बरों में अधिक चल पड़ा; ऐसा क्यों-कैसे हुआ?

तु. : यह भ्रान्ति हुई—सामायिक और प्रतिक्रमण में। प्रतिक्रमण छह आवश्यकों में से एक है।

ने. : छह में से एक?

तु. : हमने सबको प्रतिक्रमण मान लिया। सामायिक, स्तव, वन्दन, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, और कायोत्सर्ग—छहों स्वतन्त्र हैं। हमने इन सबको प्रतिक्रमण मान लिया, यह भ्रान्ति हुई है।

ने. : मैं कुन्दकुन्दाचार्य का 'नियमसार' पढ़ रहा था। उसमें प्रतिक्रमण पर जो कुछ कहा गया है, इतना आश्चर्यजनक है कि उन्होंने 'प्रतिक्रमण-रत' साधु को ही 'प्रतिक्रमण' कह दिया है।

तु. : अच्छा! (प्रसन्नता-सूचक)।

ने. : साधु के लिए 'प्रतिक्रमण' शब्द काम में लिया है। जब साधु प्रतिक्रमण कर रहा है, तब वह इस क़दर प्रतिक्रमणमय है कि उसका संबोधन ही 'प्रतिक्रमण' हो गया है। दोनों पर्याय बन गये हैं। सामायिक और प्रतिक्रमण में भ्रान्ति क्यों हुई? इसका मूल कारण क्या है?

तु. : यह कि इसे हमने प्रतिक्रमण का अंग मान लिया। हम आवश्यक कर रहे हैं, तो हम कहते हैं कि हम प्रतिक्रमण कर रहे हैं।

ने. : पर्याय शब्द हो गया; पर्याय है नहीं।

तु. : आवश्यक कर रहे हैं, और कहते हैं प्रतिक्रमण कर रहे हैं। सामायिक तो समता की साधना/आराधना है। सामायिक का प्रतिक्रमण से कोई सीधा संबन्ध

नहीं है। समता की साधना-आराधना सामायिक है। प्रतिक्रमण के पहले सामायिक, समता-का-अभ्यास, करना चाहिये।

ने. : उससे पृष्ठभूमि बन जाएगी प्रतिक्रमण की। सामायिक से प्रतिक्रमण की एक स्वस्थ पीठिका बन सकती है।

तु. : जहाँ तक मेरा खयाल है, दिगम्बरों में जो सामायिक को प्राथमिकता दी गयी है, वह ध्यान की विशेष अपेक्षा से है। हमारे यहाँ सामायिक प्रतिक्रमण की ही प्रक्रिया है। हमारी सामायिक एक वक्त की है।

ने. : अड़तालीस मिनिट की।

तु. : साधु के लिए निरन्तर सामायिक है। साधु-जीवन स्वयं सामायिक है। साधु-चर्या सामायिक है। सामायिक में हमने एक परिवर्तन किया है। वह रूढ़ बन गयी थी। हमने उसे जागृत करने के लिए कुछ अभिनव प्रयोग शुरू किये हैं।

ने. : गतानुगत से अलग।

तु. : बिलकुल अलग; पढ़े-लिखे लोग मानते हैं कि सामायिक बेकार चीज़ है; अतः मैंने उसे एक नया ही आयाम दे दिया है।

ने. : यह अभिनवता क्या है?

तु. : बात वही है, किन्तु प्रयोग नया है।

ने. : आपने उसे संस्कार दिया है।

तु. : सामायिक में तीन बातें हैं — पहली, अपने साथ आसन, चद्दर हो; दूसरी, वह ठीक समय पर हो; तीसरी, सामूहिक हो। सबको पंक्तिबद्ध बैठना होगा। एक-दूसरे को कोई छू नहीं सकेगा। सब-के-सब अस्पृश्य बन जाएँगे। एक साथ पाँच-पाँच हज़ार आदमियों ने सामायिक की है। हज़ारों-हज़ार लोग एक साथ सामायिक करते हैं। मैं बोलता हूँ; सब बोलते हैं। प्रत्याख्यान के बाद सामायिक को तीन भागों में विभाजित कर देता हूँ। पहले सामायिक का भाव — यह जपयोग है। दस-पन्द्रह मिनिट जप करें — **अ सि आ उ सा नमः** जब यह सामूहिक होता है, तब इसकी एक अपूर्व लय बन जाती है।

ने. : निर्विकल्पता के लिए।

तु. : दूसरा करते हैं दीर्घ श्वास प्रेक्षा-प्रयोग। सब एक साथ दीर्घश्वास लें, फिर छोड़ें और उसकी प्रेक्षा करें।

ने. : आध्यात्मिक अभ्यास (स्पिरिच्युअल परेड)।

तु. : तीसरा प्रयोग है, त्रिगुप्ति-साधना — अच्छा सोचो, अच्छा बोलो, अच्छा चलो। यह भी हो सकता है, हम न सोचें, न बोलें, न चलें। इसका अभ्यास करो। वैसे न-सोचना, न-बोलना सरल नहीं है।

ने. : बहुत मुश्किल है।

तु. : पाँच मिनिट यह करवाते हैं। तीनों प्रयोग कराते-कराते सामायिक संपन्न हो जाती है। इसके बाद परमेष्ठि-वन्दन कराते हैं। उन्हें पता ही नहीं चलता बल्कि ऐसी प्रतीति होती है कि सामायिक जीवन का एक अविभाज्य अंग हैं; बड़ी हलकान महसूस होती है। इसे हम प्रबुद्ध-से-प्रबुद्ध तथा युवा-से-युवा व्यक्ति सबसे करवाते हैं।

ने. : इसमें व्यक्ति समुदाय बन जाता है।

तु. : इसमें हमें बहुत आनन्द आता है। सामायिक का यह अभिनव संस्करण है।

ने. : अभी चल रहा है?

तु. : यह, यहाँ (जोधपुर) आने के बाद शुरू किया है।

ने. : अच्छा प्रयोग है।

तु. : हमारा लक्ष्य रहता है कि पुरानी चीजों को थोड़ी-थोड़ी नवीनता दे कर स्वच्छ बनाया जाए। चीजें तो वही हैं।

ने. : नवीनता पर आपका ध्यान हमेशा रहा है; लेकिन मौलिकताओं को आप नहीं छोड़ते।

तु. : नहीं; उन्हें कैसे छोड़ सकते हैं? फिर नवीनता क्या रही? मौलिकताओं को कायम रखते हुए उन्हें स्वच्छ रखते हैं।

ने. : लिफाफा बदल देते हैं; चिट्ठी वही रहती है।

तु. : बिलकुल ठीक।

ने. : यह बहुत मुश्किल काम है; लेकिन आप उसे सफलतापूर्वक कर रहे हैं। प्रतिक्रमण पर और कोई बात बताना चाहें, तो अवश्य बताइये।

तु. : आपने कोई कमी तो रखी नहीं है। आप खोजी हैं। (हँसी)।

□ □

स्वस्थानाद् यत्परस्थानं, प्रमादस्य वशाद् गतः ।
तत्रैव क्रमणं भूयः, प्रतिक्रमणमुच्यते ॥

प्रमादवश अपना स्थान छोड़ कर पर-स्थान में पहुँचा हुआ जीव जब स्व-स्थान में लौटता है, तब उसके उस लौटने को प्रतिक्रमण कहते हैं।

सामायिक

एक

सामायिक मानव-जीवन के लिए परम आवश्यक है।
भवसागर से पार उतरने का सुयान सामायिक है।।

यह संसार असार विनश्वर क्षण-भंगुर अशरण दुखरूप,
इन्द्रिय-भोग-विलास-क्षोभ, वैराग्य भावना ही सुखरूप,
जड़ चेतन के यथातथ्य निर्णय का साधन सामायिक,
दर्शन ज्ञान चरित्र साधनामयी सुपावन सामायिक,

विषय-वासना की कुभावना सामायिक में बाधक है।
सामायिक मानव-जीवन के लिए परम आवश्यक है।।

दो

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अनउपगूहन, मूढ़त्व रहित,
अस्थितिकरण, अवात्सल्य, अप्रभावना, विहीन समकित,
ज्ञान, जाति, कुल, तप, बल, पूजा, राज्य, रूप, मद से विरहित,
छह अनायतन, तीन मूढ़ता, सर्व शल्य से हो वर्जित,

अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत, मुनिव्रत में अति हितकारक है।
सामायिक मानव-जीवन के लिए परम आवश्यक है।।

तीन

लोकेषणा सांसारिकता स्वच्छन्दता संयमित हो,
दीर्घ महत्त्वाकांक्षा विषमय अपने-आप सन्तुलित हो,
प्राणिमात्र पर समभावों से परम अहिंसा विकसित हो,
शुद्धात्मानुभूति की वीणा शुद्ध स्वरों में झंकृत हो,

अनुभवमयी स्व-संवेदन ही सक्षम मुक्ति-प्रदायक है।
सामायिक मानव-जीवन के लिए परम आवश्यक है।।

चार

तज प्राणातिप्राणमय हिंसा मृषावाद से रहता दूर,
ग्रहण अदत्तादान न कर, तज मैथुन, त्याग परिग्रह क्रूर,
क्रोध, मान, माया, लोभादिक राग-द्वेष, पैशून्य, कलह,
पर परिवाद अरति रति अभ्याख्यान मृषा माया बिन रह,

मिथ्यादर्शन आदि शल्य का सामायिक संहारक है।
सामायिक मानव-जीवन के लिए परम आवश्यक है।।

पाँच

मैत्री करुणा मय प्रमोद माध्यस्थ भावना अमृत कुम्भ,
हिंसा से विनष्ट होते हैं, बन जाता जीवन विष कुम्भ,
कहीं मानसिक शान्ति न मिलती द्वन्द्वात्मक स्थिति होती,
प्रत्याख्यान बिना दुष्कृत्यों से भव-भव दुर्गति होती,

सामायिक के समय अनिच्छुक ही शिवपन्थ विधायक है।
सामायिक मानव-जीवन के लिए परम आवश्यक है।।

छह

साधक से छद्मस्थ अवस्था के कारण होते कुछ दोष,
सावधान प्रायश्चित लेता करता लेश न पर से रोष,
नित त्रिकाल सामायिक करता भाव-द्रव्य प्रतिक्रमण-सहित,
सहज अखण्ड मौन धारण कर आस्रव से होता विरहित,

सामायिक में आत्मस्थित प्राणी सन्मार्ग-प्रणायक है।
सामायिक मानव-जीवन के लिए परम आवश्यक है।।

सात

परभव का पाथेय यही उत्तम अन्तिम समाधि आधार,
सल्लेखना ग्रहणकर्त्ता को सामायिक अनुभव सुखकार,
ज्ञान सर्वथा भिन्न राग से जीव ज्ञान का है आगार,
अन्तर्बाह्य परिग्रह तज मुनिवत् हो जाता है अनगार,

पर भव में उत्तम गति मिलती जो इसका आराधक है।
सामायिक मानव-जीवन के लिए परम आवश्यक है।।

आठ

धीरे-धीरे जीव सफलता के सोपान सहज पाता,
सम्यक्दर्शन हो जाते ही सम्यक्ज्ञान स्वयं आता,
फिर सम्यक् चारित्र धार कर मोक्ष-मार्ग पर आ जाता,
पूर्ण सफलता पाते ही अरहन्त सिद्ध पद प्रकटाता,

वस्तु-स्वरूप सुनिश्चय करने वाला सच्चा ज्ञायक है।
सामायिक मानव-जीवन के लिए परम आवश्यक है।।

राजमल पवैया

वापसी : विभाव-से स्वभाव-में

आचार्य श्री नानालाल/डॉ. नेमीचन्द जैन; बम्बई; २३ सितम्बर, १९८४

डॉ. नेमीचन्द जैन : प्रतिक्रमणके बारे में आपके विचार जानने की उत्सुकता है।

आचार्यश्री नानालाल : शब्द-व्युत्पत्ति की दृष्टि से प्रतिक्रमण यानी 'गति'। जो वृत्ति आत्मा से बाहर चली गयी है, स्वभाव-से-विभाव-में चली गयी है; विभाव के कारण वह उलट गयी है; उसने स्व-रूप को विस्मृत कर दिया है।

ने. : स्व-भाव विस्मृत हो गया है।

ना. : इसलिए उसे वहाँ से लौटाना। विभाव-से-स्वभाव-में लौटना, प्रतिक्रमण है।

ने. : यह जब आप करते हैं, तब उसमें आपको कैसी अनुभूति होती है?

ना. : प्रतिज्ञा ले रखी है पाँच महाव्रतों की, पाँच समितियों की, तीन गुप्तियों की। ये प्रतिज्ञाएँ भावात्मक हैं; स्वभावगत हैं। ग्रहीत के बाहर जब व्यतिक्रमण-अतिक्रमण हो जाता है, वहाँ से उसे लौटा करके इनमें (यहाँ) पुनः स्थिर करना—प्रतिक्रमण है।

ने. : यहाँ यह जो व्यतिक्रमण/अतिक्रमण हो गया है, वहाँ से प्रत्यावर्तन; इसी का नाम प्रतिक्रमण है।

ना. : जैसे, श्रमण/साधु ने अहिंसा का परिज्ञान किया; यदि वह हिंसा की ओर बढ़ गया, तो वहाँ से वापस लौटना और उसका प्रायश्चित्त करना। यह 'मिच्छामि दुक्कडं' है।

ने. : प्रायश्चित्त तो प्रत्याख्यान में आ जाएगा?

ना. : वह प्रत्याख्यान में आयेगा ही; जो व्यतिक्रमण, अतिक्रमण, या अतिचार हुआ है, वह तो 'मिच्छामि दुक्कडं' कह कर मिथ्या हो गया; लेकिन जो अनाचार हो गया है अर्थात् व्रत-भंग हुआ है; उसकी अलग से आलोचना कर प्रायश्चित्त लेना होगा।

ने. : अनाचार की आलोचना अलग से होगी?

ना. : जैसे मन में अहिंसा का संकल्प कर रखा है; फिर भी हिंसा का विचार मन में पैदा होता है तो वह अतिक्रमण है। हिंसा का विचार-मात्र आ गया, तो वह अतिक्रमण हो गया। उसकी ओर बढ़ना व्यतिक्रमण है; जब उसके नज़दीक पहुँच गये, तो अतिचार हो गया; हिंसा कर ही ली, तो वह अनाचार हो गया; इसलिए अतिचार तक की जो स्थिति है, उसके लिए यह प्रतिक्रमण और 'मिच्छामि
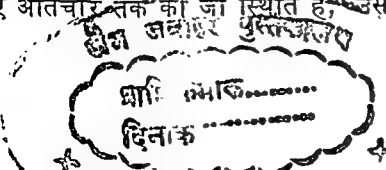
दुक्कडं' है; किन्तु जब वह अनाचार की परिधि में चला गया है तो फिर आलोचना करके प्रायश्चित्त करना होगा।

ने. : यह साधु के लिए ज़रूरी है या श्रावक के लिए भी?

ना. : श्रावक के लिए अणुव्रत हैं। अणुव्रत की जो प्रतिज्ञा ली है, यदि वह इस प्रतिज्ञा-के-बाहर जाता है; उसका संकल्प तो है कि चलते-फिरते भी जीव को न मारना; यदि फिर भी मारने का संकल्प मन में आ गया, तो अतिक्रमण हो गया; मारने की तैयारी की तो व्यतिक्रमण हो गया—अतिचार हो गया।

ने. : यदि कर ही डाला तो···

ना. : अनाचार हो गया।

ने. : वह उसका बड़ा रूप है, और यह उसका संक्षिप्त रूप है।

ना. : प्रारंभिक रूप से जो मानसिक संकल्प होते हैं, उनमें परिवर्तन भी हो जाता है। पश्चात्ताप/प्रायश्चित्त से वे निष्फल भी हो सकते हैं।

ने. : षडावश्यकों में सामायिक की भूमिका/विधि क्या है?

ना. : षडावश्यकों में सबमें पहले सामायिक है। वैसे सामायिक का रूप विराट है। यह अन्तर्मुहूर्त से ले कर आजीवन तक जा सकती है। श्रावक प्रारंभ में सामायिक को मुहूर्त में ही लेता है, साधु आजीवन लेता है। सामायिक का मूल उद्देश्य है चित् स्वरूप में लीन हो जाता।

ने. : सामायिक की अन्तिम परिणिति है, चित् स्वरूप में पहुँचना; लेकिन इसके बीच तो बहुत सारे सेतुबन्ध—पड़ाव आ सकते हैं।

ना. : आ सकते हैं। सामायिक प्रारंभ करने के साथ ही यह लक्ष्य में रखना होगा कि हमारा निर्धारित उद्देश्य कैसे पूरा होता है?

ने. : इसीलिए तो यह आयोजन है।

ना. : जब षडावश्यक के अन्तर्गत स्तुति करते हैं, तो चिंतन होता है कि सिद्धों का स्वरूप कैसा है?

ने. : स्तुति और वन्दन में कोई अन्तर है?

ना : स्तुति में सिद्ध-स्वरूप का अपने मन में समादर करना चाहिये। उसे आदर्श के रूप में अपने जीवन में स्थान देना; अपने आन्तरिक भावों को शब्दों में परिणत करना, यह तो है स्तुति। षडावश्यक में तीसरे क्रम पर है वन्दन। मोक्षमार्ग बतानेवाले जो गुरु महाराज हैं; उनसे ही मोक्षमार्ग की विधि ज्ञात होती है; उनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन 'वन्दन' है।

ने. : चौथा है प्रतिक्रमण।

ना : प्रतिक्रमण-पूर्व यानी जो व्रत मैंने ग्रहण कर रखे हैं; उनमें कहीं-कोई व्यतिक्रम, अतिचार; अनाचार तो नहीं हुआ?

ने. : समीक्षा करना; अवलोकन करना।

ना. : ध्यान में आ जाए, तो गुरु के सामने, या गुरु की साक्षि में उस दोष को प्रकट करना – 'मिच्छामि दुक्कडं' करना।

ने. : यह बहुत महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है गुरु-की-साक्षि में।

ना. : गुरु के समक्ष खड़े हो कर उनकी साक्षि में बोलना 'मिच्छामि दुक्कडं'। वह वीरासन में भी इसे कर सकता है।

ने. : यह तो आध्यात्मिक शौर्य/पराक्रम का प्रतीक है।

ना : वीरासन में बैठ कर आलोचना करना; चौवीस घण्टों में जो कुछ हुआ हो, प्रतिक्रमण में उन सारी क्रियाओं को 'मिच्छामि दुक्कडं' से परिमार्जित करना।

ने. : यह चौथा आवश्यक हो गया; उसके बाद प्रत्याख्यान है।

ना. : उसके बाद भाव-वन्दन या भावनात्मक वन्दन है। मैंने जो प्रतिज्ञाएँ की हैं; मोक्ष में जाने की जो सीढ़ियाँ स्वीकृत हैं–साधु, उपाध्याय, आचार्य, सिद्ध अरिहंत - इन सबके प्रति भावात्मक वन्दन।

ने. : इसे एक तरह से हम परमेष्ठि - वन्दन भी कह सकते हैं?

ना. : हाँ।

ने. : इसके बाद प्रत्याख्यान।

ना : प्रत्याख्यान में भी कई प्रायश्चित्त ऐसे होते हैं, जिनमें अतिचार, व्रत-भंग हुआ हो, या अनाचार तक पहुँच गये हों; तो इनका पुनरवलोकन करना होता है। इसके बाद पाँचवाँ आवश्यक है – 'लोगस्स'-का-पाठ, या ध्यान। इसमें निर्धारित श्वासोच्छ्वासों के क्रम-में ध्यान करना भी प्रायश्चित्त है।

ने. : यह बड़े आश्चर्य की बात है कि प्रायश्चित्त को श्वासोच्छ्वास पर आधारित किया गया है।

ना. : 'इच्छा निरोधस्तपः'। यह जो 'लोगस्स' का पाठ है। उसमें श्वासों का जो क्रम है; उसमें भी इच्छा को रोकना पड़ता है।

ने. : यह तो बड़ी सूक्ष्म प्रक्रिया है।

ना. : अलग-अलग प्रायश्चित्त के लिए अलग-अलग संख्या में श्वासोच्छ्वास निर्धारित हैं। दैवसिक और रात्रिक प्रतिक्रमणों में चार-चार; पाक्षिक में आठ; चातुर्मासिक में बारह।

ने. : ४, ८, १२ – इस क्रम से श्वासोच्छ्वास उत्तरोत्तर बढ़ गये हैं। इनके द्वारा प्रायश्चित्त होता है।

ना. : प्रतिक्रमण में श्वासोच्छ्वास का क्रम निर्धारित है। यदि अतिचार में कोई नुक़्स रह गयी हो, तो वह अतिचार को लाँघ कर अनाचार में चली जाएगी; ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष में आलोचना करके प्रत्याख्यान करना होता है।

ने. : क्या षडावश्यक सब सम्प्रदायों में एक-से हैं?

ना. : मेरे खयाल से मूलस्वरूप तो एक-सा है।

ने. : किंचित् परिवर्तन हुआ है।

ना. : मान्यतानुसार थोड़ा परिवर्तन हुआ है। □□

फरिश्ते से बढ़ कर है इन्सान बनना,
मगर इसमें पड़ती है मिहनत जियादा ।।

यूनान का एक दार्शनिक दिन के बारह बजे लालटेन जला कर एथेंस के बाजारों में कई घंटे घूमता रहा। इस तरह किसी व्यक्ति का सूरज की तेज रोशनी में लालटेन जलाये घूमना आम जनता के लिए आश्चर्य का विषय था।

एक जगह हजारों लोग इकट्ठा हो गये और सहज ही पूछने लगे: 'यह सब क्या हो रहा है?'

दार्शनिक ने कहा: 'मैं इस लालटेन की रोशनी में आदमी की तलाश में हूँ'।

सब लोग खिलखिला कर हँस पड़े और बोले: 'हम हजारों आपके सामने हैं; ऐसे में लालटेन की रोशनी में खोजने की क्या जरूरत है?'

दार्शनिक ने सिंहगर्जना की: 'अरे क्या तुम स्वयं को मनुष्य माने हुए हो? यदि तुम मनुष्य हो तो फिर पशु और राक्षस कौन होंगे? तुम दुनिया-भर के जुल्म करते हो, छल-छंद रचते हो, अपने भाइयों का गला काटते हो, काम-वासना की पूर्ति के लिए कुत्तों की तरह मारे-मारे फिरते हो और फिर भी बड़ी बेहयाई से कहते हो कि तुम मनुष्य हो!! मुझे मनुष्य चाहिये, वनमानुष नहीं।'

दार्शनिक का यह कठोर, किन्तु सत्य कथन मनुष्य-मात्र के लिए चिन्ता और चिन्तन का विषय है।

□□□

प्रतिक्रमण की प्राचीनतम ताड़पत्रीय पाण्डुलिपि के दो पत्र-पृष्ठ, जिनके संबन्ध में आप विस्तार से पढ़ेंगे 'तीर्थंकर' के दिसम्बर 1984 में प्रकाश्य 'प्रतिक्रमण/शेषांक-1' में; सौजन्य : चारुकीर्ति भट्टारक स्वामीजी, मूडबिद्री (कर्नाटक)।

प्रतिक्रमण की एक मध्यकालीन पाण्डुलिपि का प्रथम पृष्ठ; सौजन्य : पं॰ श्री दलसुख भाई मालवणिया, एल॰ डी॰ इंस्टीट्यट ऑफ इण्डोलॉजी, अहमदाबाद (गुजरात) ।
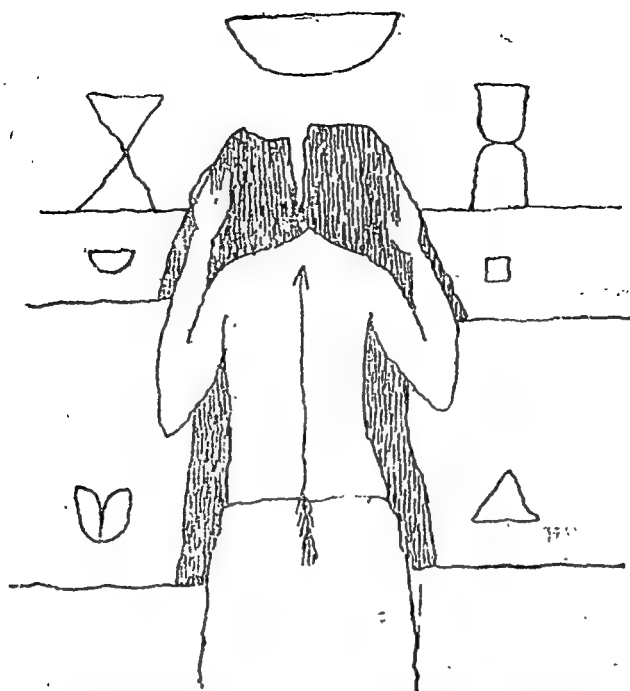
प्रतिक्रमण : होना स्वयं-का, स्वयं-में

साध्वी-प्रमुखा कनकप्रभाश्री / डॉ. नेमीचन्द जैन; जोधपुर, २२ जुलाई १९८४

डॉ. नेमीचन्द जैन : श्रावक-श्राविका हो, या साधु-साध्वी हो, सभी के लिए प्रतिक्रमण/सामायिक आवश्यक है; इसलिए मैं जानना चाहूँगा आपसे कि प्रतिक्रमण क्या है? उसकी प्रक्रिया क्या है?

साध्वी-प्रमुखा कनकप्रभाश्री : 'प्रतिक्रमण' का अर्थ है 'वापस होना'। हम जहाँ खड़े हैं, वहाँ से पीछे मुड़ कर देखें कि हमने आज कुछ ग़लत तो नहीं किया है, अगर ग़लत कुछ किया है, तो हम उस स्थान को छोड़ कर पीछे मुड़ जाएँ।

ने. : प्रतिक्रमण यानी स्वयं-में-लौटना।

क. : अतिक्रमणों से अपना बचाव करना।

ने. : प्रतिक्रमण की प्रक्रिया क्या है?

क. : जैनागम में प्रतिक्रमण की 'आवश्यक' के रूप में विवेचना हुई है। बताया गया है कि उभय सन्ध्याओं में प्रतिक्रमण करना चाहिये। प्रातःकाल सूर्योदय के एक मुहूर्त पहले और सायंकाल सूर्यास्त के एक मुहूर्त बाद तक।

ने. : एक मुहूर्त अर्थात्...।

क. : अड़तालीस मिनिट। इसमें प्रतिक्रमण निहित होता है। जैसे साधु करते हैं, साध्वियाँ भी वैसा ही करती हैं।

ने. : कैसे/किस तरह?

क. : प्रतिक्रमण की विधि निश्चित है। जो आवश्यक-सूत्र है, उसके साथ कुछ अतिचार और जुड़ जाते हैं। जो निर्धारित विधि है, तदनुसार प्रतिक्रमण केवल बैठे-बैठे ही नहीं करते हैं, न केवल खड़े-खड़े ही करते हैं; इसमें कभी बैठना होता है; कभी उठना होता है, कभी खड़े-खड़े ही करना होता है।

ने. : मैंने जितना अध्ययन किया है, उससे तो यही जान पाया हूँ कि प्रतिक्रमण एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है।

क. : मनोवैज्ञानिक ही होनी चाहिये; क्योंकि हमें मान कर चलना होगा कि मानव-स्वभाव में /की कुछ दुर्बलताएँ हैं। जब तक वह वीतराग नहीं हो जाता, भूलें करता है। भूलें करने के बाद वह स्वयं आत्मविश्लेषण करे (तटस्थ भाव से) कि मैंने अपनी चर्या में, अपने आचार में कहाँ-क्या ग़लती की है? यदि वास्तव में कोई ग़लती हुई है, तो वह उसका 'मिच्छामि दुक्कडं' करे। 'मिच्छामि दुक्कडं' का मतलब आज की भाषा में है : मैं अपने दुष्कृत वापस लेता हूँ'। जैसे अंग्रेजी में कहते हैं : आय एम सॉरी (मुझे खेद है)। मैं सोचती हूँ : प्रतिक्रमण का अर्थ होना चाहिये कि मैंने जो कुछ किया ग़लत किया; इस सोच के साथ मानसिक अनुताप हो कि 'आगे मुझे ऐसा काम नहीं करना है'।

ने. : संकल्प कि अब भविष्य में ऐसा नहीं करूँगा।

क. : यह संकल्प प्रतिक्रमण-के-साथ जुड़ा हुआ है। अपने-आप में इस तरह यह एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया हो जाती है कि जो काम हम ग़लत कर रहे हैं, उसके प्रति हमारे मन में एक स्वस्थ मनस्ताप उभरे कि भविष्य में ऐसा काम नहीं होगा; इस संकल्प को हम उत्तरोत्तर पुष्ट करें। ऐसा करते-करते ऐसी स्थिति निर्मित हो जाएगी कि भूलें कम होने लगेंगी और आत्मविशुद्धि बढ़ती जाएगी।

ने. : जो तथ्य अनुभवी के माध्यम से आता है, वह बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है। जैसे समुद्र से हम सीधा पानी लें, तो वह खारा होगा और मेघ के माध्यम से लें, तो वह सहज ही मीठा हो जाएगा। आप तो अनुभवी हैं, इसलिए बताइये कि प्रतिक्रमण के अनुभव का वर्णन आप कैसे करेंगी? यह है तो अजीब, मुश्किल भी है उस अनुभव को शब्द देना।

क. : मैं अपने शब्दों में कहूँ या आचार्यश्री (तुलसीजी) के शब्दों में। उन्होंने प्रतिक्रमण के बारे में कुछ पद लिखे हैं। पद तो मुझे याद नहीं हैं, उनका आशय याद है। आचार्यश्री ने लिखा है कि जब गर्मी के मौसम में व्यक्ति स्नान करता है तब उसे शारीरिक हलकापन महसूस होता है; यही स्थिति प्रतिक्रमण की है। प्रतिक्रमण के बाद व्यक्ति मानसिक रूप से हलका हो जाता है। जिस प्रकार आयुर्वेद में कायाकल्प के प्रयोग से कायिक यौवन को लौटाते हैं।

ने. : मन-का-कायाकल्प?

क. : हाँ, यह मन-का-कायाकल्प है। मानसिक उल्लास एकदम बढ़ जाता

है। तीसरा उदाहरण उन्होंने दिया है; जब कोई पथिक पदयात्रा करता है; चलते-चलते थक जाता है, क्लान्त हो जाता है; और घर पहुँच कर अपनी थकान उतार देता है। यही स्थिति प्रतिक्रमण की है। प्रतिक्रमण करने वाला अपने आत्मविश्वास को, आत्मोल्लास को वृद्धिगत करता है।

ने. : ताज़गी का अनुभव करता है।

क. : बिलकुल। आगम में प्रतिक्रमण की विधि सुनिर्दिष्ट है। सबसे बड़ी विधि है भावक्रिया। उठने-बैठने की क्रिया एकदम न भी हो; अस्वस्थता के कारण, वृद्धावस्था के कारण, लेकिन मूल विधि है कि भावक्रिया के साथ प्रतिक्रमण हो।

ने. : भावक्रिया क्या है?

क. : भावक्रिया यह कि मन हमारा उसके साथ जुड़ा रहे। हम जो शब्द बोलते हैं; बोलते-बोलते उसका अर्थ आपोआप अन्दर उतर जाए। इस भावक्रिया के साथ जो सुविध प्रतिक्रमण होता है, उसका सर्वोत्कृष्ट लाभ यह है कि उससे तीर्थंकर गोत्र का बन्ध हो सकता है। मैं समझती हूँ कि प्रतिक्रमण के बारे में यह एक समीचीन अनुभव है।

ने. : आपका अनुभव भी बताइये।

क. : मेरा अनुभव भी इसमें जुड़ा हुआ समझिये।

ने. : जुड़ा हुआ है यह एक अलग बात है; किन्तु अलग से अनुभव वह दूसरी बात है।

क. : प्रतिक्रमण में जब कभी हमारा मन इधर-उधर हो जाता है, तब मन में प्रसन्नता नहीं होती। जिस दिन हम पूरे स्वस्थ मन से, पूरी एकाग्रता के साथ भावक्रिया-पूर्वक प्रतिक्रमण कर पाते हैं, उस दिन हमारा अपना आत्मोल्लास भी बहुत अधिक वृद्धिगत होता है।

ने. : क्या प्रतिक्रमण में आप निर्विकल्प हो पाती हैं?

क. : नहीं होते; ज़रूरी नहीं है कि हम निर्विकल्प हो ही जाएँ। कभी-कभी ऐसी स्थिति आती है कि एक भी विकल्प नहीं उठता; कभी-कभी ऐसी स्थिति भी हो सकती है कि बीच-बीच में कई बार विकल्प आ जाते हैं; लेकिन आमतौर पर विकल्प कम ही उठते हैं। एक तो हम प्रतिक्रमण बोल-बोल कर करते हैं, सामूहिक प्रतिक्रमण करते हैं, सब साध्वियाँ एक साथ उच्चार करती हैं, मन को वहाँ अलग से केन्द्रित रखते हैं; इसलिए अधिक विकल्प तो नहीं उठते; फिर भी सर्वथा निर्विकल्पता बनती है, ऐसा मैं नहीं मानती।

ने. : एक गणितज्ञ से मैंने बातचीत की, तो उसने कहा, एक और दो; एक के बाद जैसे दो पर आते हैं, एकदम तो नहीं आते; एक और दो के बीच में 'सन्धि' रहती है, वह सन्धि निर्विकल्पता की होती है, उसे बढ़ाते जाना चाहिये।

'एक' और 'दो' के बीच जब एक के बाद दो का उच्चारण करते हैं, तब ऐसा नहीं है कि सन्धि नहीं आती; सन्धि तो आती है, लेकिन कोई विकल्प नहीं होता। एक बोलते हैं, तो एक बोलने का विकल्प होता है और एक के बाद रुकते हैं, एकदम तो बोलने का विकल्प नहीं आता, दो बोलने पर ही दो का विकल्प आता है। यह सन्धि बड़ी सूक्ष्म है। यह निर्विकल्पता की सन्धि है। इसे बढ़ाते जाने को प्रतिक्रमण कहा जा सकता है?

क. : प्रेक्षाध्यान का प्रयोग यहाँ चल रहा है, उसमें यह क्रम है। 'श्वास-संयम' का जो क्रम है, वह निर्विकल्पता का ही क्रम है, ऐसा मुझे मालूम है। यदि हम प्रतिक्रमण करते समय अपने मन को श्वास-केन्द्रित रखते हैं, तो उस काल में जब हम एक-शब्द-के-बाद दूसरा शब्द बोलेंगे तब उसमें जो अन्तराल रहेगा, उसमें हम निर्विकल्प ही होंगे।

ने. : अन्तराल में?

क. : हाँ, अन्तराल में निर्विकल्प रह सकेंगे। यदि हमारा मन श्वास-केन्द्रित नहीं है, इधर-उधर भटक रहा है, तो मुझे नहीं लगता कि उस समय हम निर्विकल्प रह सकेंगे।

ने. : यानी एक श्वास और दूसरी श्वास के बीच में सन्धि की बात हम सोच सकते हैं, क्या यह निर्विकल्पता का क्षण है?

क. : श्वासोच्छ्वास का क्रम भी चलेगा, तो भी कोई विकल्प नहीं आयेगा, यदि मन वहाँ टिका हुआ है तो।

ने. : जैसे आप प्रतिक्रमण में बैठीं, यह एक संकल्प हो गया कि बैठना ही है, यह तो नित्य कर्म हो गया। क्या बैठने के तुरन्त बाद मन पर लगाम आ जाती है?

क. : कभी-कभी तो मन तत्काल उसमें जुड़ जाता है। कभी ऐसा होता है कि प्रतिक्रमण करना हमने शुरू किया, बाहर के लोग ज्यादा आ गये, हो-हल्ला हो गया, तो मन कभी-कभी स्थिर नहीं भी हो पाता है।

ने. : प्रतिक्रमण मन को सुस्थिर करने का ही प्रकार है, उपाय है।

क. : हमारे यहाँ स्वाध्याय तो मन को स्थिर करने के लिए है, किन्तु प्रतिक्रमण का मूल उद्देश्य शायद यह नहीं है। प्रतिक्रमण का मूल उद्देश्य यह है कि हमारे भीतर जो शल्य हैं, उन्हें काट कर हम निःशल्य बन जाएँ; हम आत्मशुद्धि के क्षेत्र में आगे बढ़ें।

ने. : यानी प्रतिक्रमण का उद्देश्य निःशल्यीकरण है?

क. : यह एक भाग (पार्ट) है। उत्तरीकरण, प्रायश्चित्तकरण, विशोधीकरण, निःशल्यीकरण – शोधन की ये जो प्रक्रियाएँ हैं, वे प्रतिक्रमण के साथ ही अधिक जुड़ी हुई हैं।

ने. : निःशल्यीकरण की प्रक्रिया क्या है?

क. : शल्य का मतलब है, कोई काँटा या तीखा शस्त्र। जैसे कि जब हमारे शरीर में किसी शस्त्र का अग्रभाग घुस जाता है, और जब तक वह नहीं निकलता है तब तक उसकी कसक बनी रहती है। उसके निकलते ही मन एकदम शान्त हो जाता है। शस्त्र की बात छोड़िये, पाँव में ही यदि कोई छोटा-सा काँटा लग जाता है, तो हम किसी काम में यदि लगे हैं, तो ठीक है; नहीं तो ध्यान बराबर उधर जाता है, हाथ भी बार-बार उधर जाता है। यह है ऊपरी शल्य। इसी प्रकार हमारे भीतर भी कुछ शल्यें हैं। जब तक ये चुभती हैं, आत्मा स्वस्थ नहीं हो पाती, मन में बेचैनी बार-बार होती है; विकल्प उठते हैं।

ने. : क्या इसका कोई इलाज नहीं है?

क. : शल्यें तीन प्रकार की मानी गयी हैं : माया-शल्य, निदान-शल्य, और मिथ्यादर्शन-शल्य। मिथ्यादर्शन–शल्य सबमें बड़ी शल्य है।

ने. : क्रम से चलें, माया-शल्य क्या है?

क. : जीवन में जितना-जितना ऋजुता का, सरलता का अभाव है, वह माया है। माया कभी भी व्यक्ति को स्वस्थ नहीं बैठने देती।

ने. : क्या प्रतिक्रमण द्वारा माया-शल्य को दूर किया जा सकता है?

क. : हाँ; माया पर नियन्त्रण किया जा सकता है। आर्जव जितना-जितना विकसित होता जाता है, माया-शल्य उतना-उतना दूर होता जाता है। दूसरा है, निदान-शल्य। निदान का अर्थ है भौतिक विशुद्धि के लिए संकल्प करना; यानी अपनी साधना को भौतिक विशुद्धि के बदले बेच देना। हमने इतनी साधना की है, इतनी तपस्या की है, हमें इसका यह फल मिलना चाहिये। तात्कालिक भावुकता होती है, आकर्षण होता है भौतिक स्थिति के प्रति, किसी वस्तु के प्रति; उस भावुकता में व्यक्ति कोई संकल्प कर बैठता है। लेकिन जब वह स्वस्थ हो कर सोचता है तब उसे यह चुभता है कि मैंने कितना कुछ ग़लत कर लिया है?

ने. : निदान का अर्थ अन्त होता है, या किसी चीज का हेतु।

क. : यह हमारा 'टेक्नीकल' शब्द है। 'पडिक्कमामि तिहिं सल्लेहिं' यह प्रतिक्रमण में आता ही है। मैं तीन शल्यों से संन्यस्त होता हूँ। ये तीन हैं : माया, निदान, और मिथ्यादर्शन। मिथ्यादर्शन का अर्थ है मिथ्यात्व – विपरीत दृष्टिकोण। यदि हमारा दृष्टिकोण विपरीत होगा, तो इसका मतलब यह होगा कि न हमारा तो कर्म सही होगा, और न दर्शन; इसलिए दृष्टिकोण को सही/शुद्ध करना बहुत ज़रूरी है।

ने. : पता नहीं, आप इसे शब्द दे पायेंगी या नहीं; लेकिन मैं जानना चाहूँगा कि जब आप प्रतिक्रमण में अड़तालीस मिनिट बैठती हैं; तब भीतर जो कुछ घटित होता है, वह क्या होता हैं? है तो काम बड़ा मुश्किल।

क. : वास्तव में अनुभूतियों को शब्द देना कठिन होता है; फिर भी हम शब्दों के जगत् में ही जीते हैं। मैं सोचती हूँ, आप शब्दों का अच्छा इस्तेमाल करते हैं/कर लेते हैं।

ने. : मैं ऐसे अनुभव जानना चाहता हूँ—मिनिट-दर-मिनिट; जैसे पहला मिनिट, दूसरा मिनिट, क्या-कुछ होता है प्रतिक्रमण में? क्या ऐसा ब्यौरेवार विवरण हमें मिल सकता है?

क. : कभी-कभी तो हम उसमें इतने संलीन हो जाते हैं, एकात्म हो जाते हैं कि हमें पता ही नहीं चलता कि प्रतिक्रमण का समय कब/कैसे पूरा हो गया! कभी-कभी प्रतिक्रमण करते-करते मन में यदि विकल्प उठने लगते हैं, तो लगता है कि प्रतिक्रमण अभी तक हुआ ही नहीं। दोनों प्रकार की स्थितियाँ होती हैं; लेकिन मूल बात यह है कि प्रतिक्रमण करते समय आत्मलीनता का जो क्षण है उसमें यही अनुभव होता है कि हम अपने-आप को देख रहे हैं, अपने भीतर प्रवेश कर रहे हैं।

ने. : आत्मा में प्रत्यावर्तन हो रहा है।

क. . प्रत्यावर्तन की अपेक्षा कहूँगी, आत्मदर्शन-जैसा कुछ अनुभव होता है।

ने. : इस अनुभव को शब्द देना शायद बड़ा मुश्किल है।

क. : आप खोजें।

ने. : खोजूंगा, लेकिन इस समय तो आपको खोजना है, क्योंकि मैं आपकी चीज खोजूं, यह बड़ा मुश्किल है। आपकी अनुभूतियों के लिए अभिव्यक्ति आपको खोजना है। आपका अनुभव-जगत् जो भीतर है, वस्तुतः उसका वर्णन मैं चाहता था। किसी ने दिया नहीं मुझे, शायद आप दे सकें। है तो यह बड़ा विकट काम, लेकिन आप के लिए आसान हो, क्योंकि हजारों बार आप प्रतिक्रमण कर चुकी हैं।

क. : प्रतिक्रमण हमारे जीवन का अभिन्न अंग बन गया है। इतना अभिन्न कि अगर प्रतिक्रमण न करने की स्थिति हो, तो हमें अटपटा लगेगा। इसमें दो स्थितियाँ हैं; एक तो काम करते-करते उसके अभ्यस्त हो जाते हैं; बनती है यह स्थिति भी जो रूढ़ भी बन सकती है, यदि हम उसके प्रति जागरूक नहीं हैं तो हमें सिखाया जाता है कि जब भी हम कोई काम करें, इतनी जागरूकता के साथ उसे करें कि अनुक्षण यह अनुभव होता रहे कि हम उसे कर रहे हैं। करते-करते अब इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि यदि मक्खी हमारे सिर पर बैठती है, तो हमें पता चले न चले हमारा हाथ उधर जाएगा ही। कुछ काम करते-करते ऐसी स्थिति हो जाती है कि न कुछ सोचना पड़ता है, न मन को एकाग्र करना पड़ता है; जैसे—हम नवकार मन्त्र बोलते हैं। इसे बोलते-बोलते इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि उसे बोलते समय हमारा मन कहीं भी चला जाए, तो भी हम उसका उच्चारण कर देंगे; लेकिन अलग से कोई मन्त्र बोलेंगे, तो मन की स्थिति भिन्न होगी। यही

बात प्रतिक्रमण की है। अभ्यस्त अवस्था में जब प्रतिक्रमण हम करते हैं तब मन पर उसकी कोई प्रतिक्रिया (रिएक्शन) नहीं होती।

ने. : शारीरिक क्रिया के अलावा कुछ होना चाहिये। यदि अभ्यास होगा, तो वह शारीरिक क्रिया ही होगी, आप चाहती हैं कि उसके साथ चेतना भी जुड़े।

क. : जब तक चेतना नहीं जुड़ेगी, आनन्द नहीं आयेगा।

ने. : आनन्द कैसा? किस प्रकार का? यह बड़ा भाववाचात्मक (एब्सट्रेक्ट) है। जब ऐसी बातों का उत्तर नहीं मिलता है, तब मुझे बड़ी कठिनाई होती है।

क. : किसी चीज को प्राप्त करने की आपकी इच्छा है और वह चीज़ आपको मिल जाती है, तब कैसी मनःस्थिति बनती है? हम लोग सोचते हैं। चाहते भी हैं कि प्रतिक्रमण करते समय मन एकाग्र रहे, आत्मलीन रहे, केवल अपने-आपको देखे और किसी को न देखे, इस हमारी चाह, चिरपोषित स्वप्न के पूरा होने पर जो आनन्द होता है, वैसा कुछ प्रतिक्रमण करते समय होता है।

ने. : मुझे बड़ी चीज मिल जाए, तो भी आनन्द नहीं होता; जैसे बहुत-सा रुपया मिल जाए।

क. : रुपये की तो आप छोटी बात कर रहे हैं, आप लोगों के लिए यह छोटी बात है ही।

ने. : हाँ, कोई विचार मिल जाए, तो एकदम उल्लास होता है।

क. : आप लोगों का तो यही काम है कि नया विचार मिले, आपके भीतर नया विचार जनमे, तो आपको खुशी होती है।

ने. : वैसी खुशी आपको कब होती है?

क. : एक छोटी-सी घटना बताती हूँ। एक बच्चा दीपक जला कर आरती उतारने के लिए मन्दिर जा रहा था। बीच में उसे कोई पादरी मिल गया। पादरी ने रोक कर पूछा : कहाँ जा रहे हो? उसने कहा : मन्दिर। आरती करने। पादरी ने फिर पूछा : यह दीपक किसने जलाया है? बच्चे ने उत्तर दिया : मैं खुद जला कर लाया हूँ। पादरी का अगला प्रश्न था : क्या तुम बताओगे कि इसमें ज्योति कहाँ से आयी? बच्चा एक क्षण सहमा फिर पता नहीं उसके दिमाग़ में एकदम बिजली-सी कौंधी और उसने फूंक मार कर तत्काल वह ज्योति बुझा दी और प्रतिप्रश्न किया : बताइये, ज्योति कहाँ गयी? यदि आप बता देंगे कि ज्योति कहाँ गयी, तो मैं भी बता दूंगा कि ज्योति कहाँ से आयी।

ने. . यह तो चक्करदार काम हो गया। आपने तो कथारूप कुछ कहा है किन्तु मैं चाहता हूँ, ठोस कुछ बतायें कि प्रतिक्रमण में आनन्द कैसा होता है और कहाँ से होता है?

क. : आनन्द को शब्द दिये जा सकते हैं क्या ?

ने. : स्वानुभूति तो बिलकुल भिन्न होगी। वह साधना का परिणाम होगी।

क. : शब्दों में बताना चाहेंगे, तो भी बता नहीं सकेंगे। मन में जानते होने पर भी शब्दों में प्रकट करना असंभव होता है।

ने. : प्रतिक्रमण और सामायिक दोनों एक हैं, या अलग ?

क. : दोनों 'आवश्यक' हैं।

ने. : आवश्यक किसे कहेंगे ?

क. : अवश्य करणीय को।

ने. : यह फिर वही बात हो गयी। कृपया आवश्यक शब्द को इस तरह समझाइये कि उसमें 'अवश्य' शब्द का उपयोग नहीं हुआ हो।

क. : प्राचीन काल में आवश्यक विभागों का नाम था; इनमें एक था प्रतिक्रमण।

ने. : शुरू का था सामायिक।

क. : सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान

ने. : स्तव और वन्दन में क्या फ़र्क है ?

क. : कोई खास फ़र्क नहीं है। अर्थ की दृष्टि से यदि हम देखें, यह अभिवादन और स्तुति — दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है। 'स्तवन' शब्द 'स्तु' धातु से बना है जिसका अर्थ है स्तुति स्तोत्र, प्रशंसा। वन्दना की परिधि में स्तुति और वन्दना दोनों आ जाते हैं।

ने. : फिर इन्हें आवश्यकों में अलग-अलग क्यों गिनाया गया है; एक चतुर्विंशतिस्तव और दूसरा वन्दना।

क. : चतुर्विंशतिस्तव चौवीस तीर्थंकरों का नाम-संकीर्तन है।

ने. : 'लोगस्स' ?

क. : हाँ, लोगस्स। उनके विषय में थोड़ी-सी जानकारी दी गयी है। वन्दना में थोड़ा फ़र्क दिखाया गया है कि स्तुति है तो नाम-संकीर्तन करके उनके बारे में कुछ वता दिया गया है। इसमें अहं-विसर्जन की काफी गुंजाइश है।

ने. : कहें कि वन्दना में 'अहं-का-विसर्जन' होता है।

क. : मैं सोचती हूँ, अहं-विसर्जन के विना वन्दना हो ही नहीं सकती।

ने. : और स्तवन ?

क. : अगर भावक्रिया के साथ वह है, तो उसमें भी अहं नहीं रहेगा। वोलेंगे तो भी स्तवन हो जाएगा।

ने. : दोनों अलग-अलग रखे गये हैं। यदि दोनों एक ही हैं, तो इन्हें अलग-अलग क्यों रखा गया है?

क. : उद्देश्य तो अलग-अलग ही हैं। 'चतुर्विंशति स्तव' में चौबीस तीर्थंकरों का स्मरण है, साथ में उनका चरित्र है, उनके जीवन के जो विशिष्ट प्रसंग हैं, उनके प्रति श्रद्धाभाव हैं। वन्दना में अपने-आपको विसर्जित करना है गुरु के सामने।

ने. : उसके बाद चौथा है....

क. : प्रतिक्रमण।

ने. : और उसके बाद?

क. : कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान।

ने. : प्रत्याख्यान और प्रतिक्रमण में कोई अन्तर है?

क. : प्रतिक्रमण का अर्थ है, जहाँ हम हैं, वहाँ से पीछे मुड़ें। प्रत्याख्यान का लक्ष्य है आगे हमारे जो असत् है उसे रोकें।

ने. : संवर?

क. : हाँ।

ने. : पाँचवाँ है कायोत्सर्ग।

क. : कायोत्सर्ग का भी अपूर्व महत्त्व है। ध्यान की दृष्टि से कायोत्सर्ग ध्यान का आदिबिन्दु भी है और अन्तिम भी। निर्जरा में व्यक्ति ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है, जहाँ बहुत कुछ पीछे छूट जाता है और आगे देखने के लिए पर्याप्त अवकाश बन जाता है। कायोत्सर्ग का क्रम प्रतिक्रमण के बाद है। प्रतिक्रमण में व्यक्ति वापस आता है। सोचता है : मैंने कहाँ भूलें की हैं; अब उन्हें दोहराऊँगा नहीं। कायोत्सर्ग में वह 'रिलेक्स' करता है, यहाँ उसके मन में न पीछे की बात रहती है, और न आगे की। इस समय वह संकल्प करता है कि 'यह करूँगा, यह नहीं करूँगा।'

ने. : कायोत्सर्ग वर्तमान है, प्रस्तुत में रुकना है।

क. : रुकना नहीं, जीना है।

ने. : रुकेंगे नहीं, तो जियेंगे कैसे?

क. : बस, जीते जाएँगे; वर्तमान ठहरेगा नहीं।

ने. : कायोत्सर्ग-की-प्रक्रिया; वह क्या है?

क. : लगता तो वह बहुत सरल है; लेट कर, या खड़े हो कर उसे कर सकते है।

ने. : इसकी कोई खास मुद्रा नहीं है।

क. : नहीं।

ने. : बैठ कर भी, चलते-फिरते भी कायोत्सर्ग कर संभव है।

क. : हाँ, चलने-फिरने भी, आगे की स्थिति में हो सकता है; शुरू की स्थिति में नहीं। शुरू में यदि खड़े होकर किया जाए, तो अधिक सुविधाजनक होगा; वैसे इसे बैठ या लेट कर भी किया जा सकता है।

ने. : सुविधाजनक होने की बात अलग है, प्रश्न उपयोगिता का है।

क. : उपयोगिता की दृष्टि से यदि खड़े-खड़े करें, तो कोई अवरोध नहीं आयेगा, क्योंकि कायोत्सर्ग में सारे शरीर की अन्तर्यात्रा होती है।

ने. : होती है, या करते हैं?

क. : दूसरों से करवाते हैं। स्वयं करते हैं, तब आपोआप हो लेती है। उसमें कहीं कोई अवरोध उपस्थित नहीं होता। लेट कर करने में नींद आ सकती है। बैठे-बैठे करने में भी अवरोधों की आशंका रहती है; लेकिन लगता है कायोत्सर्ग करने वाले लोग भी शायद कायोत्सर्ग-के-मूल तक नहीं पहुँच पाते। यह स्थिति कभी-कभी ही आती है। मैं अपनी बताती हूँ।

ने. : मूल तक पहुँचने का मतलब?

क. : मतलब शरीर और आत्मा की पृथक्ता-का-अवलोकन।

ने. : 'शरीर अलग, आत्मा अलग' यही न?

क. : आत्मा अलग है, देह अलग है।

ने. : पार्थक्य-बोध। कायोत्सर्ग यानी इस मूल तक पहुँचने की अन्तर्यात्रा।

क. : कायोत्सर्ग में प्रतिक्रमण तो सन्निहित ही है। वैसे भी ध्यान की जो प्रक्रिया चलती है; उसमें कायोत्सर्ग का क्रम है; लेकिन मेरी कठिनाई यह है कि कायोत्सर्ग बहुत कम ही हो पाता है।

ने. : क्यों?

क. : आज कल नहीं हो पाता।

ने. : कायोत्सर्ग संभवतः एक जटिल प्रक्रिया है।

क. : मेरे लिए, सबके लिए नहीं।

ने. : जटिल क्यों?

क. : जटिल इसलिए कि उसमें काफी बहुत लम्बे समय तक निमग्न निश्चल रहना होता है।

ने. : निश्चल?

क. : निष्क्रियता; क्योंकि जब तक काम करते रहेंगे, निश्चलता आयेगी नहीं।

ने. : प्रतिक्रमण में कायोत्सर्ग तो होता ही होगा ?

क. : जिस रूप में होना चाहिये, नहीं हो पाता।

ने. : पूछना चाहूँगा कि इसे किस रूप में होना चाहिये ?

क. : बताया न कि आत्मा और शरीर की भिन्नता के परिपूर्ण अनुभव के रूप में।

ने. : समग्र बोध ।

क. : यह क्षण आता ज़रूर है।

ने. : आना ज़रूरी है, लेकिन शायद ठहर नहीं पाता।

क. : ठहर तो पाता ही नहीं है। आता भी है कभी-कभार ।

ने. : वैसे तो इसका कोई हिसाब नहीं है, फिर भी आपमें तीव्रता से वह कब प्रकट हुआ ?

क. : मुझे याद आया; एक बार जब मैं लाडनूं में थी, कायोत्सर्ग का प्रयोग तब कर रही थी।

ने. : दो-तीन वर्ष पहले ?

क. : हाँ, इतने शायद हुए होंगे।

ने. : सन् १९८१ ?

क. : याद नहीं पड़ता; किन्तु उस समय मैं कायोत्सर्ग कर रही थी लेटे-लेटे। मुझे अहसास हुआ कि मेरे शरीर से कुछ निकल कर ऊपर की ओर उठ रहा है। जिसे हम सूक्ष्म शरीर कहते हैं, उसके साथ आत्मप्रदेश जुड़े होते हैं। अनुभव हुआ कि शरीर से कुछ निकल रहा है और थोड़ी दूर हट कर इसे देखा जा रहा है; लेकिन कुछ ही क्षणों का अनुभव यह था।

ने. : अभी जो लोग अन्तरिक्ष में गये थे, उन्होंने बताया था कि वहाँ शरीर का वज़न ही नहीं लगता, उड़ने लगता है वह । मतलब शरीर में से यदि कर्म-भार कम हो जाए, तो साधक ऊँचा उठ सकता है।

क. : हलकापन तो बहुत लगा उस समय। मैंने बहुत बार कोशिश की कि वह स्थिति वापस आये, लेकिन उस दिन जैसी स्थिति फिर कभी लौटी नहीं।

ने. : वह अनायास क्षण था।

क. : कायोत्सर्ग अभ्यास से संभव ही नहीं है। यदि करेंगे, तो तनाव बढ़ेगा।

ने. : यह मौलिक क्षण एकाध बार ही आया ?

क. : हाँ; सामान्य कायोत्सर्ग तो करते ही हैं।

ने. : रामकृष्ण परमहंस के जीवन में भी ऐसे क्षण आये थे। मैं सोचता हूँ कि अध्यात्म में कायोत्सर्ग की स्थिति हिन्दू या जैन कुछ होती नहीं है। वह सम्प्रदायातीत कुछ है। सामायिक में क्या करते हैं ?

क. : 'सामायिक' का अर्थ खोजें, तो उसमें समता का बोध है। समता की अनुभूति वहाँ होती है। इस प्रकार 'आत्मबोध' ही सामायिक है।

ने. : इतना और जानना चाहूँगा कि क्या प्रतिक्रमण-की-प्रक्रिया साधु-साध्वी दोनों के लिए समान है ?

क. : हाँ; अलग कुछ नहीं है। □□

प्रतिक्रमण

अब तक अज्ञात मोहवश हो, जितने भी कर्म किये स्वामी।
वे सब दुष्कृत मिथ्या हों प्रभु, निष्कर्ष बनूं अन्तर्यामी।।
चैतन्य स्वरूप आत्मा में हो लीन आत्म-अनुभवन करूँ।
जो भूतकाल में हुए कर्म, उन सबका मैं प्रतिक्रमण करूँ।।

जो कर्म उदय में आये हैं, उनका मैं दृष्टा-ज्ञाता हूँ।
मन-वच-तन कृत-कारित अनुमोदन, से न कर्म-निर्माता हूँ।।
अपने स्वरूप में ही रह कर, निष्कर्म अवस्था वर्त रहा।
कर, वर्तमान में, उदयागत कर्मों की आलोचना रहा।।

सब मोह नष्ट हो गया देव, रह निज में निज का ध्यान करूँ।
मैं अब भविष्य में कर्मों के, करने का प्रत्याख्यान करूँ।।
मैं भाव द्रव्य तो कर्मों से, विरहित निष्कर्म स्वरूप वरूँ।
शुद्धोपयोग में ही रह कर प्रभु प्रतिपल-प्रतिक्षण ध्यान करूँ।।

शुद्धोपयोग से जितने भी, विपरीत कर्म सब दोष रूप।
मैं कर्म चेतना से त्रिकाल, हूँ भिन्न ज्ञान चेतना रूप।।
हो निष्प्रमाद श्रेणी चढ़ कर, पाऊँगा केवलज्ञान प्रभो!
श्रद्धान ज्ञान चारित्र पूर्ण रत्नत्रय से निर्वाण विभो!!

चैतन्य स्वरूप आत्मा का ही मैं संचेतन करता हूँ।
मैं उर में सकल कर्म फल की संन्यास भावना भरता हूँ।।
मैं भूत भविष्यत् वर्तमान के कर्म त्याग निज-में-आऊँ।
कर्मों की सर्व प्रकृतियाँ हर परिपूर्ण मोक्ष पद को पाऊँ।।

साक्षात् ज्ञान चेतना रूप परिणाम सहज ही होता है।
फिर सादि अनन्त काल तक परमानन्द मग्न जिय होता है।।
व्यवहार प्रतिक्रमण किया बहुत पर निश्चय रूप नहीं जाना।
अब आज सुमति आयी स्वामी निश्चय स्वरूप को पहचाना।।

—राजमल प

सामायिक : योग का चरमोत्कर्ष

ब्र. कुमारी कौशल / डॉ. नेमीचन्द जैन;
देहरादून, २ अक्टूबर, १९८४

डॉ. नेमीचन्द जैन : जानना चाहता हूँ मैं यह कि आपके जीवन में 'प्रतिक्रमण' की क्या स्थिति है?

ब्र कुमारी कौशल : पहले 'प्रतिक्रमण' शब्द की परिभाषा करूँ।

ने. : ठीक है।

कौ. : 'प्रतिक्रमण' का अर्थ है 'लौट आना'।

ने. : कहाँ लौट आना?

कौ. : प्रत्यावर्तन; 'प्रति' कहते हैं आत्मा को। अपने स्वयं में लौट आना, इसे (पारमार्थिक) प्रतिक्रमण कहते हैं।

ने. : 'क्रम्' क्रिया है; 'प्रति' उपसर्ग, इसका मतलब जिस दिशा में हम गये थे, उसके विपरीत आना। प्रतिक्रमण यानी स्वयं-में स्वयं-की वापसी? और क्या अर्थ है?

कौ. : दूसरा अर्थ है, जो विगत है, उसमें लौटना। हमारी दिनचर्या में पीछे जो छूट गया है, उसमें लौटना। जिस प्रकार माला में दाने होते हैं, वे हैं तो भिन्न-भिन्न; लेकिन इनमें धागा एक ही अनुस्यूत है; दाने पर्याय हैं। उनमें जो कुछ है, वह एकात्मता है। महत्त्वपूर्ण वही है।

ने. : इसे थोड़ा स्पष्ट कीजिये।

कौ. : जैसे, एक संसार हमारे बाहर है; एक भीतर है। बाहर के संसार को हम प्रत्यक्ष रूप से भिन्न देखते ही हैं, लेकिन भीतर के संसार में हम एक होते हैं।

ने. : हम यानी?

कौ. : आप।

ने. : एक बाहर संसार, एक अन्तरग संसार – दोनों को भिन्न-भिन्न देखना- वस्तुनिष्ठ चिन्तन है। हर आदमी ऐसे नहीं देख पाता है। यह जो आप देखती हैं, तो आपको कैसा अनुभव होता है?

कौ. : उसमें ऐसा दिखायी देता है; जैसे – भिन्न-भिन्न परिणामों में, चित्त की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में एक तत्त्व अनुस्यूत है, ध्रुव है।

ने. : 'सूत्र' को आपने ध्रौव्य कहा है और दानों को पर्याय। पर्याय क्षण-भंगुर हैं। जो एकसूत्रता है, वह ध्रुव है।

कौ. : तटस्थ रह कर भी देखा जाता है। सिनेमा हॉल में जैसे हम पिक्चर देखते हैं; उन दृश्यों के साथ हम तादात्म्य बना लेते हैं।

ने. : बना लेना एक बात है; बन जाना दूसरी। तादात्म्य बन जाता है, या बना लेते हैं?

कौ. : बना लेते हैं; बन भी जाता है – दोनों बातें हैं। बन जाता है–वह यों कि जो हमारे जनम-जनम के संस्कार हैं उनसे बन जाता है; फिर उसमें हम भेद-अभ्यास नहीं करते, हम बना भी लेते हैं। दोनों स्थितियाँ साथ-साथ चलती हैं। एक पूर्व-संस्कार; दूसरा वर्तमान पुरुषार्थ। यदि संस्कार के अनुसार पुरुषार्थ चल रहा है, तो बना भी लेते हैं; क्योंकि हमारे हाथ में केवल वर्तमान ही है। उसमें हम पूर्व संस्कार का उपभोग भी करते हैं; और अगले संस्कार का निर्माण भी। यदि हम पूर्व संस्कार से तटस्थ रहते हैं, तो नये संस्कार निर्मित नहीं होंगे।

ने. : आपने क्या कहा था? विगत में लौट आना प्रतिक्रमण है, या विगत से लौट आना?

कौ. : पहले विगत में जाएँगे।

ने. : इसे तनिक स्पष्ट कीजिये।

कौ. : विगत में ऐसे जाया जाएगा, शास्त्रीय भाषा में कहूँ, जैसे–मैं नारकी नहीं हूँ, पर्याय-रूप नहीं हूँ; मार्गणा स्थान भी नहीं हूँ। बाल-युवा-वृद्ध की अवस्था भी नहीं हूँ। आगे कहा गया है कि यह जो राग-द्वेष हैं, वे भी मैं नहीं हूँ। उसके पश्चात् यह कि विकल्पों की जो तरंगें पैदा होती हैं, वह भी मैं नहीं हूँ। इस दृष्टि से मैं कहती हूँ कि पहले विगत में लौटा जाएगा; फिर वहाँ उसमें अनुस्यूत तत्त्व को देखा जाएगा।

ने. : यह जो कुन्दकुन्दाचार्य आदि की कथन-शैली है – विधि-निषेध करते हुए सत्य तक हमें ले जाने की। उसमें कहा गया है : यह नहीं है, वह नहीं है; फिर स्वभावतः प्रश्न बनता है कि तो क्या है? इस प्रश्न को उभारने के लिए ही पहले नकारा गया है। यहाँ विगत में लौटने की बात कहाँ उठती है?

कौ. : हमारी जो पर्यायें हैं वे या तो देहगत हैं, या भावगत। कुछ पर्यायें हमारी विगत हो गयी हैं। वर्तमान में उभरने के लिए पहले एकाग्रता चाहिये। इस में से ही वस्तुतः हमें मन का निरीक्षण करना चाहिये। मन या तो भूतकाल में रहता है, या फिर भविष्य का चिन्तन करता है। भविष्य अभी आया नहीं है। 'कल' आ चुका है। इसमें चिन्तन-स्मृति हम करते रहते हैं। उन सब अवस्थाओं में कोई ध्रौव्य भाव है। एक चैतन्य है जिसे देख लेना/दिखते रहना ही सम्यक्त्व का कारण है। इसी में सुस्थित हो जाने को शुद्धोपयोग कहा है। यही प्रतिक्रमण है। जितना-जैसा हो सके उस अखण्ड को साक्षिभाव से देखने का प्रयत्न होना चाहिये।

ने. : एक बात समझ में आयी कि प्रतिक्रमण में हम दोषों का पुनर्चिन्तन करते हैं। इस तरह जब आत्मशोधन की प्रक्रिया में आते हैं, तब विगत में लौटे बग़ैर हमारी गति नहीं है। विगत में लौटते हैं, तब पता चलता है कि हममें कितने दोष हैं, कितने दोष हमने किये हैं; अतः आत्मशोधन के लिए इस प्रक्रिया में लौटना काफी ज़रूरी है।

कौ. : विगत में जो अवस्थाएँ गुज़र चुकी हैं – उन्हें साक्षिभाव से देखने का गहन और अचूक अभ्यास होना चाहिये।

ने. : साक्षिभाव को अंग्रेजी में 'ऑब्जेक्टिविटी' कहते हैं – वस्तून्मुख अवलोकन, अपने-आप को तटस्थ देखना।

कौ. : मैं उसे 'तादात्म्य-भाव-से नहीं-देखना' कहती हूँ।

ने. : 'अ-तादात्म्य' पूर्वक देखना।

कौ. : हाँ; उसमें भी 'यह अच्छा है, वह बुरा है; यह आना चाहिये, वह नहीं आना चाहिये; इसे हटाओ, उसे लाओ – इन और ऐसे भावों से रहित देखना चाहिये; क्योंकि ये सब हमारे चित्त की परिणतियाँ हैं। चेतना इससे ऊपर है। यही साक्षिभाव से देखना है।

ने. : 'चेतना चित्त से ऊपर है'–इसे थोड़ा स्पष्ट कीजिये।

कौ. : जैन दर्शन/धर्म में 'चित्त' का कम प्रयोग किया जाता है। 'चित्त' वह है, जहाँ हमारे संस्कार संचित होते हैं। शास्त्रीय भाषा में कार्मण शरीर में संस्कार संचित होते हैं। वे जब उदय में होते हैं, तो पहले चित्त में आते हैं। चित्त से फिर वे हमारे संकल्प-विकल्पों में आते हैं। चित्त में वे भावात्मक रूप में होते हैं और मन में संकल्प-विकल्प के रूप में।

ने. : क्या काम करते हैं वे?

कौ. : मन संकल्प-विकल्प करता है। चित्त भावात्मक है, उसमें शब्द नहीं होते, विचार नहीं होते; सिर्फ भाव होते हैं।

ने. : चित्त भाषातीत, शब्दातीत होता है ?

कौ. : हाँ।

ने. : मन शब्द-संयुक्त होता है ?

कौ. : हाँ; लेकिन भाव वहाँ भी होते हैं, जहाँ मन नहीं होता।

ने. : इतनी चर्चा करने के बाद भी अभी आप यह नहीं बता पायी हैं कि 'प्रतिक्रमण' किसे कहते हैं ?

कौ. : मैंने बताया था कि अतीत के सब भावों में जाने पर तटस्थतापूर्वक देखना-साक्षी बन जाना – उससे अपने को अलग कर लेना, द्रष्टा बन कर, अपने को उनसे अलग कर लेना प्रतिक्रमण में होना है। फिर धीरे-धीरे भाव होने लगते हैं; सिर्फ एक द्रष्टाभाव रह जाता है – ज्ञान-मात्र रह जाता है।

ने. : इसमें द्रष्टाभाव ही रह जाता है। इस प्रक्रिया में हम आत्म-समीक्षा करते हैं, अपना विश्लेषण करते हैं– क्या उसी का नाम प्रतिक्रमण है ?

कौ. : पहले अपनी समीक्षा की, फिर उन विगत भावों से अपने को अलग कर लिया।

ने. : मुक्त कर लिया।

कौ. : दूसरे शब्दों में कहेंगे धर्म्यध्यान से शुक्लध्यान में स्थित हो जाना प्रतिक्रमण है। धर्म्यध्यान विकल्पात्मक होता है, शुक्लध्यान विकल्पातीत होता है। उस स्थिति में पहुँचने के लिए विगत स्थितियों में से गुज़रना होता है, आन्तर निरीक्षण करना होता है; उसके बाद ही हम उस ज्ञेय-से-रहित-ज्ञान की स्थिति में पहुँच सकते हैं।

ने. : आवश्यक शब्द आया है; और प्रतिक्रमण भी एक आवश्यक है। इसे स्पष्ट कीजिये।

कौ. : आवश्यक बना है – अवश्य से। वश्य कहते हैं वश में होना। पर के वश में होना, उसे कहेंगे 'वश्य'। जो पर के वश में न हो, उसे अवश्य कहेंगे अर्थात् आत्मवश। जिन क्रियाओं के करने से जीव पर के वश में नहीं होता, वह अपने वश में होता है, स्वाधीन होता है, उसे आवश्यक क्रिया कहते हैं।

ने. : ये कितने हैं ?

कौ. : छह। सामायिक, स्तुति, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग।

ने. : प्रतिक्रमण चौथा आवश्यक है। प्रत्याख्यान के बारे में बतायेंगी।

कौ. : 'आख्यान' कहते हैं त्याग को। परकृत भाव चित्त में पैदा न हो – आगामी काल में – ऐसा संकल्प।

ने. : मन में संकल्प न हो।

कौ. : संकल्प तो बुद्धिपूर्वक होता है।

ने. : क्या प्रतिक्रमण के द्वारा ऐसा संभव है? वैसे प्रत्याख्यान प्रतिक्रमण के बाद की क्रिया है।

कौ. : हाँ; इन दोनों क्रियाओं के बाद सामायिक की स्थिति बनती है।

ने. : प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग — इन तीनों के आपसी संबन्ध को कुछ बताइये।

कौ. : मैंने पहले बताया है कि प्रतिक्रमण विगत के लिए है, प्रत्याख्यान भविष्य के लिए है, जबकि कायोत्सर्ग का अर्थ होता है काया के प्रति तटस्थ भाव, या साक्षिभाव। जितना तनाव है काया का, यानी काया को हम पकड़े हुए हैं, उस तनाव या पकड़ को छोड़ना/छोड़ते जाना। यौगिक आसनों में जिसे शवासन कहते हैं, लगभग वैसी ही स्थिति होती है कायोत्सर्ग में।

ने. : आप तो ये तीनों क्रियाएँ करती होंगी? मुझे यह बहुत कम लोग बता पाये हैं कि इन आवश्यकों में से गुज़रते हुए उन्हें क्या अनुभव होता है? अनुभव को शब्द देना कठिन है; लेकिन आप अवश्य बताइये कि कायोत्सर्ग में जब आप होती हैं, तब आपको कैसा लगता है?

कौ. : अक्सर होता यह है कि कुछ अनुभव ऐसे होते हैं जिन्हें शब्द नहीं दिये जा सकते, फिर भी कुछ बताया जा सकता है; जैसे — कायोत्सर्ग करने से शान्ति की, शरीर में एक प्रकार के तनाव-राहित्य की प्रतीति होती है। ऐसी स्थिति आती है क्रमशः कि मन-रहितता प्रतीत होने लगती है — काल बीत जाता है, तो भी प्रतीति नहीं होती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि उस अवस्था में सारी-सारी रात बैठे रहो। शीतकाल में मैं दो महीनों का मौन करती हूँ। उसमें आहार के लिए बाहर आती हूँ, फिर एकान्त में चली जाती हूँ। उस लम्बे काल में चौबीसों घण्टे ऐसा लगता है, भोजनादि करते हुए, चलते हुए भी कि देह चल रही है। मैं उसकी साक्षी हूँ। जब विशेष रूप से आसन पर बैठ जाती हूँ तब कभी थोड़ी-सी नींद आ जाती है। जब तनाव-रहितता होती है, तब नींद आना स्वाभाविक है, लेकिन उसमें भी एक सजगता-सतर्कता का भाव पड़ा हुआ रहता है। सहज शान्ति-सी, दुनिया से कोई अलग-सा, जैसे आकाश में कोई तैर रहा हो। ऐसा नहीं लगता कि मौन के समय कोई बात करे।

ने. : आप शीतकाल में ही मौन क्यों करती हैं? ग्रीष्म में भी करती होंगी?

कौ. : शीत में लम्बा करती हूँ; ग्रीष्म में दैनिक करती हूँ।

ने. : क्या मौसम से मौन का कोई संबन्ध है?

कौ. : यह सामाजिक भी है; घूमने का, प्रवचन का काम भी कम होता है;

एकान्त का समय हो जाता है। शीतकाल में एक आसन में भी काफी समय तक बैठा जा सकता है।

ने. : आप की दृष्टि में शीत ऋतु मौन के लिए सर्वश्रेष्ठ है?

कौ. : स्वास्थ्य के लिए और मौन के लिए भी है। एक कारण यह भी है कि प्रकाश हमें विशेष रूप से बाहर की तरफ खींचता है; शीत ऋतु में दक्षिणायन होने से रात्रि जल्दी हो जाती है, यह हमें अपनी तरफ खींचती है।

ने. : इससे तो लगता है कि प्रकाश से मौन घबराता है।

कौ. : प्रकाश से उपयोग बाहर फैलता है। घबराने की बात इसमें नहीं है।

ने. : आप आसन कौन-सा लगाती हैं?

कौ. : अर्धपद्मासन।

ने. : क्या यह ज्यादा उपयुक्त है प्रतिक्रमणादि के लिए ?

कौ. : इसमें स्थिरता रहती है और सजगता भी।

ने. : दूसरे आसनों का भी उपयोग करती होंगी?

कौ. : कभी-कभी; लेकिन पद्मासन में निद्रा नहीं आती, प्रमाद भी नहीं आता; यही सजगता है। इसे ही लगाना चाहिये।

ने. : कितने समय तक लगाती हैं?

कौ. : अर्धपद्मासन ४५/४८ मिनिट तो लगा ही लेती हूँ।

ने. : कहते हैं, प्रतिक्रमण ४८ मिनिट करना चाहिये?

कौ. : ऐसा तो नहीं है। इतना कम-से-कम करना चाहिये; फिर जितना मन हो; जितना अधिकतम हो सके, करें; सुबह-शाम।

ने. : सामायिक और प्रतिक्रमण में भेद है?

कौ. : है; प्रतिक्रमण में तटस्थ रह कर देखने की बात है, जबकि सामायिक में ऐसा कुछ नहीं है। सामायिक की भी परिभाषा है। सम यानी एकीभाव से आय यानी जानना, गमन करना। तो एकीभाव से जानना और गमन करना और; जानना और गमन करना आत्मा में ही होता है। आत्मा को समय कहते हैं। आत्मा ही है प्रयोजन जिसका उसे सामायिक कहते हैं। यह 'सम' शब्द से भी होता है। रागद्वेष-रहित परिणाम का नाम सामायिक है; यह समभाव है। उस समभाव का ही प्रयोजन जिसका हो, उसे सामायिक कहते हैं। कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है :

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हि समो ॥

—प्रवचनसार, गाथा-७

(निश्चय से चारित्र धर्म को कहते हैं, शम अथवा साम्यभाव को धर्म कहा है और मोह-मिथ्यादर्शन तथा क्षोभ-रागद्वेष-से-रहित आत्मा का परिणाम शम अथवा साम्यभाव कहलाता है।) मोह-क्षोभ से रहित जो परिणाम है, वह सामायिक कहलाता है। वह जितने-जितने अंश में हो, सामायिक ही है।

ने. : यह एकीभाव क्या चीज है?

कौ. : राग-द्वेष-स्पन्दन-रहितता। तनाव-विकार-राहित्य – यह यौगिक है।

ने. : मान लें कि प्रतिक्रमण और सामायिक योग से संवन्धित हैं।

कौ. : योग के लिए ही सव कुछ है।

ने. : यानी?

कौ. : प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और सामायिक उसी की उप-स्थितियाँ हैं

ने. : सामायिक को योग की चरम स्थिति कहें; क्यों?

कौ. : 'चारित्तं खलु धम्मो'–यह चारित्र के लिए ही है।

ने. : अन्तिम स्थिति कहें, या पराकाष्ठा कहें?

कौ. : कहा है न, 'चारित्तं खलु धम्मो'––चारित्र जो है, वही धर्म है। साम्यभाव को कहा, वही मोक्ष को भी कहा।

ने. : योग जव कहेंगे, तो सामायिक की वात है। थोड़ा योग पर प्रकाश डालिये, क्योंकि योग को जैन दर्शन में आस्रव का द्वारा कहा है।

कौ. : योग का सामान्य अर्थ होता है जोड़ – जिसका अर्थ जोड़ना है। इसका मतलव है, अपने से संयुक्त हो जाना; आत्मा से जुड़ जाना। उस दृष्टि से योग कह सकते हैं, क्योंकि वह तो अरहंत को भी होता है।

ने. : प्रतिक्रमण की जो प्रक्रिया शास्त्रोक्त चली आ रही है, क्या आप उससे सन्तुष्ट हैं, या उसमें कुछ परिवर्तन चाहती हैं?

कौ. : प्रतिक्रमण जो आज शब्दात्मक है, उसे मैं ध्यान-रूप वनाना चाहूँगी।

ने. : कैसे वनायेंगी? यह तो व्यक्तिगत वात हो जाएगी।

कौ. : विशेषत: यह व्यक्तिगत ही है। समूह की दृष्टि से यह कि अगर इस तरह का हममें प्रचलन हो; व्रत लें, तो पहले प्रारंभिक प्रतिज्ञा होगी, उस संवन्ध में विचार। जैसा मैं प्रारंभ में करती थी। मोक्षशास्त्र के सातवें अध्याय में जो सूत्र हैं–उसकी भावनाएँ और उसके अतिचार दृष्टि में लिये हुए थे प्रारंभ में। उनके आधार पर विचार करती कि सुवह से क्या हुआ है इस क्षण तक। प्रारंभिक स्थिति है; केवल पाठ पढ़ लेना।

ने. : यह तो आपका सुझाव हो गया कि वह सिर्फ शक्ल में न रह जाए, थोड़ा चारित्र का अंग भी वने। पूछना मैं यह चाहता हूँ कि प्रतिक्रमण जो शास्त्रोक्त

चला आ रहा है कि 'इतने समय तक बैठो, ऐसा करो'—इसमें कहीं कोई परिवर्तन की गुंजाइश है?

कौ. : मैंने कहा न, मैंने सुझाव दिया है, इस ढंग से यदि विचार किया जाए अपने चौबीस घण्टों के जीवन का; तो वह केवल वचनात्मक नहीं रह जाएगा, कुछ भावात्मक भी होगा। फिर उन (सूत्रों के) आधारों को भी छोड़ दिया जाए; जैसा मैंने प्रारंभ में बताया, उस ढंग से चिन्तन किया जाए – आत्मा में लौट आना, तो वह भावात्मक बन जाएगा।

ने. : खतरा यह है कि शब्द छोड़ते-छोड़ते कहीं वह पूरा-का-पूरा न छूट जाए?

कौ. : मैं उस पाठ को निरुपयोगी नहीं कह रही हूँ। मैंने पाठ को निरुपयोगी नहीं कहा है।

ने. : मैंने माना भी नहीं है कि आपने ऐसा कहा है। पाठ के चलते हुए, यह भी चले।

कौ. : इसीलिए मैंने मोक्षशास्त्र के सूत्र जोड़े। उनका भी आधार ले लें। इन पाठों में भी भीतर के भाव ही हैं। सूत्र जो हैं, वे अधिक सुविधाजनक लगते हैं।

ने. : आपने कौन-से सूत्र जोड़ दिये?

कौ. : मोक्षशास्त्र के सातवें अध्याय के सूत्र। –अहिंसा, संबन्धी भावनाएँ और अतिचार संबन्धी भी। सूत्र सरल पड़ जाते हैं – पाठ की अपेक्षा।

ने. : यही तो मैं जानना चाहता हूँ कि जो पाठ चले आ रहे हैं प्राकृत में। प्राकृत में होने से आज उनकी संप्रेषणीयता खो गयी है। ऐसा नहीं होता कि प्राकृत सब समझ लेते हों, तो क्या आप ऐसा कोई रूपान्तर विकसित करना चाहती हैं, जो हमारी अपनी भाषा में हो; इस पक्ष में आप हैं क्या?

कौ. : हो सकती हूँ; लेकिन इस संबन्ध में मैंने कभी विचार नहीं किया है।

ने. : यह बहुत बड़ा योगदान होगा, यदि प्रतिक्रमण को इस तरह रूपान्तरित किया जाए।

कौ. : साधुवर्ग इसे स्वीकार करेगा या नहीं? बहुत-से मुद्दे हैं, जिनके अनुसार हम परिवर्तन लाना चाहेंगे; किन्तु साधु वर्ग उसे स्वीकार नहीं करेगा; इसीलिए वह प्रचलित नहीं हो पायेगा। हमारे साथ कोई संघ, समुदाय तो है नहीं कि जिसमें हम उसे प्रचारित करें और फिर कोई परम्परा चल निकले।

ने. : मैं नहीं मानता कि किसी क्रान्ति या प्रतिभा के लिए संघ/समुदाय की जरूरत पड़ती है।

कौ. : व्यक्तिगत रूप में तो हम करते ही हैं।

ने. : सामायिक की कोई निश्चित विधि है?

कौ. : है; चारों दिशाओं में नमस्कार या शिरोनति करते हैं, आवर्त करते हैं, नमन करते हैं।

ने. : आप तो सामायिक करती होंगी? कितने समय?

कौ. : हाँ! ४५-४८ मिनट तो करती ही हूँ।

ने. : सामायिक का परिणाम क्या निकलता है? अगर हम किसी से कहें कि सामायिक करो, तो वह क्यों करे; उपयोगिता क्या है इसकी?

कौ. : जब हम सामायिक के लिए बैठें तब सब में पहले तनाव-रहितता करनी होगी—कायोत्सर्ग करना होगा। तनाव-रहितता से शारीरिक परिवर्तन आते हैं, भावों से भी परिवर्तन आता है। विकार भी शान्त होते हैं। हमारे शरीर को जो अतिरिक्त काम करना पड़ता है, उससे भी विश्राम मिलता है। हमारे शरीर में जो हारमोन्स हैं, उनका स्राव भी शरीर के लिए जरूरी है, तनाव भी उस समय कम हो जाते हैं। हम चूँकि धार्मिक भावनाओं में बैठते हैं— 'अरहन्त-सिद्ध का जाप करते हैं—इन भावनाओं की भी तरंगें बनती हैं।

ने. : शरीर और मन का शिथिलीकरण होता है।

कौ. : हाँ; इससे सत्ता में भी परिवर्तन आता है। शारीरिक और मानसिक परिवर्तन के कारण तनाव-रहितता बनती है। हम जो अवलम्ब प्रारंभ में अरहन्त-सिद्ध का, फिर मूर्ति का उससे रूपस्थ ध्यान संभव होता है। रंगों का भी अपना महत्त्व है। शरीर में जिस-जिस तत्त्व की कमी होती है, वृत्तियों में तदनुरूप रंगों का प्रयोग भी करते हैं। बीजाक्षर मन्त्रों की जाप भी उपयोगी है।

ने. : बीजाक्षर से आपका क्या आशय है।

कौ. : जैसे ॐ, ह्रीं, अर्हं—यह एकाक्षर मन्त्र भी हैं। इनका जप करके विशेष रूप से नाभि पर उसका कंपन (वायब्रेशन) अनुभव करें; क्योंकि नाभि से शब्दों की उत्पत्ति होती है।

ने. : नाभि शिराओं का केन्द्र भी है?

कौ. : हाँ; सारे शरीर का केन्द्र है। नाभि से करें। समय की पाबन्दी रख सकते हैं—जितने समय सामायिक में बैठना हो, उसमें उसे समायोजित कर लें। उसके बाद सहज बैठें, फिर करें प्रतिक्रमण, और सामायिक।

ने. : सामायिक ४८ मिनिट तक चलायें?

कौ. : इतने समय तो जरूर चलनी चाहिये। एक रिकॉर्ड प्लेयर है, उस पर कोई रिकॉर्ड लगाता है, कितनी स्पीड होनी चाहिये रिकॉर्ड की? जिस स्पीड की

रिकॉर्ड हो। कहते हैं ४५ की होती है, ७६ की होती है। उतनी गति तो होनी ही चाहिये। तब उससे अपेक्षित ध्वनि पैदा होगी। इसी तरह सामायिक में इतना समय तो होना ही चाहिये, ताकि हमारी प्रत्येक स्नायु में, प्रत्येक शिरा में, प्रत्येक नाड़ी में तनिक शिथिलीकरण संभव हो, उनमें कुछ परिवर्तन हो, उसके साथ कुछ भावनाओं में भी परिवर्तन हो। उसमें कुछ शान्ति या सहजता का अनुभव हो। सामायिक से उठने के बाद लगे कि हाँ, कुछ तब्दीली हुई है।

ने. : आपने अनुभव किया कि ४८ मिनिट में ऐसा होता है?

कौ. : इतना हो, अधिक हो। जैसा कि एक रिकॉर्ड चलाया; उसने एक मिनिट में दस राउण्ड लिये, उसका क्या प्रभाव होगा, इतनी ऊर्जा पैदा होगी कि हमें प्रभाव का पता नहीं लगेगा।

ने. : ४८ मिनिट के पीछे भी कोई-न-कोई उद्देश्य रहा ही होगा।

कौ. : इतने समय में कुछ हो सकता है। ऐसे तो आचार्यों ने कहा कि छह महीनों तक साधना करो। छह महीनों के पहले भी कुछ हो सकता है और कुछ लोगों को छह महीनों के बाद भी नहीं होता है

ने. : क्या सामाजिक प्रतिक्रमण भी हो सकता है?

कौ. : हो सकता है; जैसे क्षमावणी को करते हैं; यह सामाजिक प्रतिक्रमण ही है।

ने. : लेकिन यह औपचारिक होता है?

कौ. : कभी-कभी उपचार भी वास्तविक हो उठता है। ऐसा भी होता है कि हजारों आदमियों में से एक ने भी वास्तविक कर ली तो पूरा समारोह सार्थक हो उठता है। ऐसे उदाहरण देखने में आये हैं।

ने. : क्या सामाजिक सामायिक भी हो सकती है?

कौ. : हो सकती है, इसके लिए 'योग-साधना केन्द्र' उपयोगी हैं। इस दिशा में मेरी भी वहुत रुचि है।

ने. : कोई प्रयत्न किया है?

कौ. : कैम्प (शिविर) लगाये हैं।

ने. : स्वरूप क्या होता है इन कैम्पों का?

कौ. : इनमें कायोत्सर्ग का अभ्यास कराया जाता है, मन्त्र-ध्यान करवाया जाता है, धारणा-ध्यान भी करवाया जाता है। अन्तर्यात्रा का अध्यास भी होता है। शुरू में सुझाव दिये जाते हैं। तदनुसार लोग विचार करते हैं। उसके पश्चात् सात दिन की साधना करवाते हैं। जो लोग इन शिविरों से लौटे हैं, उनमें परिवर्तन देखा गया है। उनके अनुभव शान्ति/प्रसन्नतामूलक होते हैं। उनके चेहरों से भी ऐसा आभास मिलता है। □ □
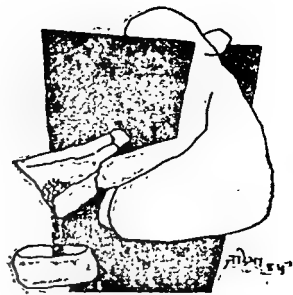
प्रतिक्रमण/सामायिक शब्द-कोश

(शब्द-संख्या १६३)

अइक्कम=अतिक्रम, मानसिक शुद्धि का अभाव।

अइक्कंतं पच्चक्खाणं=पर्युषणा के समय गुरु, तपस्वी, और ग्लान (रुग्ण) की परिचर्या आदि के कारण स्वीकृत तपश्चरण यथासमय न कर बाद को यथेच्छित समय पर करना (अतिक्रान्त प्रत्याख्यान)।

अकिंचण=अकिञ्चन; मुनि; जिसके पास कुछ भी नहीं है।

अजिय (अ)=अजितनाथ; द्वितीय तीर्थंकर।

अज्झयण=अध्ययन।

अट्ठ=अर्थ, मायने, धन।

अणायार=अनाचार; विषयों में अतिशय आसक्ति।

अत्त=आप्त; जिसने ज्ञान, दर्शन, और चारित्र को प्राप्त कर लिया है।

अदिचारो=अतिचार; विराधना; चारित्र-संबन्धी स्खलना; व्रत में शिथिलता।

अप्प=आत्मन्, आत्मा।

अप्पाणं=अपनी।

अब्भुट्ठाण=अभ्युत्थान; सम्मुख आते हुए को देख कर उठना; ग्रहण।

अवश=स्वाधीन; इन्द्रियों की दासता से मुक्त; मुनि।

अवश्य=जो इन्द्रियों की वशवर्तिता से मुक्त है; इन्द्रियाँ जिसके अनुशासन में हैं; मुनि।

अवसो=अवश; मुनि।

असंजम=असंयम।

असण=भोजन।

असच्च=असत्य।

अहिय=अधिक।

आयारिय=आचार्य।

आयार=आचार।

आरुग्ग=आरोग्य, नीरोग।

आलोयणा=आलोचना; अपने दोषों की वस्तुनिष्ठ समीक्षा।

आलोएमि=आलोचना करता हूँ।

आवस्सय=मुनियों के छह आवश्यक, दैनंदिन कर्म।

आवसग्ग=आवश्यक; अवश्य करणीय।
आसण=आसन; जिस पर/जिससे बैठा जाता है।
आसायणा=आशातना; जो सम्यक्त्व/ज्ञान आदि का विनाश करती है।
इच्छाकार=स्वेच्छापूर्वक कार्य में प्रवृत्ति; सामाचारी।
इत्थी=स्त्री।
इरिया=ईर्या; गमनागमन की क्रिया।
इरियावही=ऐर्यापथिकी; प्रतिक्रमण का भेद; इसके बिना सामायिक, प्रतिक्रमण आदि अन्य क्रियाएं सार्थक नहीं मानी जाती।
इसि=ऋषि।
उज्जोअ=उद्योत, प्रकाश, आलोक।
उत्तरीकरण=आलोचना; गर्हा; निन्दा द्वारा आत्मा को विशुद्ध करने की प्रक्रिया; इसके बाद कायोत्सर्ग होता है।
उवज्झाय=उपाध्याय; जिसके पास उपस्थित हो कर शिष्य अध्ययन करते हैं।
उवसग्ग=उपसर्ग; जो पीड़ित करते हैं; जिनसे जीव धर्मच्युत होता है।
उसभ=वृषभनाथ; प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ।
एगिंदिया=एकेन्द्रिय।
कंखा=कांक्षा; इस लोक, या परलोक-संबन्धी विषयों की इच्छा करना।
कदो (ओ)=कृत; किया हुआ।
कम्म=कर्म।
करेमि=करता हूँ।
कसाय=कषाय (ये चार हैं--क्रोध, मान, माया, लोभ)।
कहा=कथा; वर्णन।
काउ=कापोत लेश्या; नील/लाल वर्णयुक्त द्रव्यों के आश्रयभूत परिणति; भावों की कलुषता; अन्यों का तिरस्कार, आत्मशंसा आदि की कलुषित/दूषित भावना आदि।
काउस्सग्ग=कायोत्सर्ग; शरीर से मोह-विसर्जन।
कारिदो=कारित; करवाया गया।
कायोत्सर्ग=काया से ममत्व-मोह का त्याग।
किण्ह=कृष्ण लेश्या; निर्दयी, क्रूर स्वभावी, लम्पटी, और युद्ध-में-आसक्ति इस लेश्या के प्रमुख लक्षण हैं।
कीरंतो=अनुमोदित, समर्थित।
कोह=क्रोध।
खमण=क्षमण; जो सहन करता है।
खमासमण=क्षमा श्रमण।
खीणमोहा=क्षीणमोह; मोह के विजेता साधु का मोह जब सर्वथा क्षीण हो जाता है, तब उसका संबोधन।
गरिहामि=गर्हा करता हूँ (गर्हा=दूसरों के समक्ष की जाने वाली आत्मनिन्दा; 'मैंने परीषह के भय से परिग्रह किया' यह कथन)।
गुत्ती=गुप्ति (मनोगुप्ति, वाग्गुप्ति, कायगुप्ति)।
चउमासिय=चातुर्मासिक; प्रतिक्रमण का एक भेद।
चउरिंदिया=चार इन्द्रिय जीव।
चउवीसत्थय=चौबीस तीर्थंकरों का स्तव; चतुर्विंशति स्तुति।
चरित्त=चारित्र्य; पुण्य और पाप दोनों का परित्याग; समतारूप धर्म।

चेइय = चैत्य; मूर्ति; चिति से युक्त।

चेइयाणं (चिइवंदण) = चैत्यवंदन।

जिण = जिन; जिन्होंने स्वयं को जीत लिया है; आत्मजित।

झाण = ध्यान।

जहा = यथा; इस प्रकार।

ठाण = स्थान।

णमो = नमन करता हूँ।

णमोत्थुणं = इसे 'नमोत्थुणं' 'मक्कत्थव' आदि भी कहते हैं; इन शब्दों से आरंभ होने से इसे ऐसा कहा जाता है।

णाण = ज्ञान।

णिक्खेअ = निक्षेप; जिसे रखा जाए; लक्षण/भेदपूर्वक तत्त्व-समीक्षण के लिए नाम-स्थापनादि के भेद से जो विवेचना की जाती है वह।

णिग्गंठ = निर्ग्रन्थ; बाह्य/अभ्यन्तर ग्रन्थि/परिग्रह से मुक्त।

णिग्घाय = निर्घात, हिंसा, अधिक घात।

णिज्जुत्ति (त्ती) = निर्युक्ति; पूर्ण उपाय; स्पष्ट प्रतिपादन/व्याख्या।

णिद्दोस = निर्दोष, दोषमुक्त।

णिस्सल्ल = निःशल्य; व्रती।

तव = तप।

तित्थयर = तीर्थंकर।

तिविहेण = त्रियोग-सहित; मन, वचन, कायपूर्वक।

तेइंदिया = तीन इन्द्रिय जीव।

तेउ = तेज; अग्नि आदि की उष्ण प्रभा; एक लेश्याभेद, सर्वधर्मसमदर्शित्व, कुशलता, विवेकिता, आदि इस लेश्या के लक्षण हैं।

थुदि (ति) = स्तुति।

थूल = स्थूल।

दंसण = दर्शन; जो परिग्रह से रहित ज्ञान-स्वरूप है; जो सम्यक्त्व को दिखलाता है; रुचि, प्रत्यय, श्रद्धा, दर्शन समानार्थक हैं।

दव्व = द्रव्य; जो स्वभाव को नहीं छोड़ता; जो उत्पाद व्यय, ध्रौव्य से सम्बद्ध रह कर गुण-पर्याय-सहित रहता है।

दसविह = दस प्रकार का।

दिट्ठि = दृष्टि।

दुक्कड = दुष्कृत; सावद्य; गर्हित; प्रमाद।

दीह = दीर्घ, बड़ा, लम्बा, विशाल।

देवसिअ (य) = दैवसिक; दिवसान्त का प्रतिक्रमण।

दोस = दोष; द्वेष; जो दूषित, या विकृत करता है।

धम्म = धर्म; जो दुर्गति में पड़ती हुई आत्मा को धारण करना, या उसकी रक्षा करना है।

पंचविह = पंचविध, पांच प्रकार का।

पंचिंदिया = पंचेन्द्रिय जीव।

पक्खिअ (य) = पाक्षिक प्रतिक्रमण।

पच्चक्खाण = प्रत्याख्यान; अप्रमत्तता को जागृत करने के लिए मर्यादापूर्वक संकल्प।

पच्छित्त = प्रायश्चित्त; चित्त का शुद्धिकरण।
पज्जय = पर्याय।
पडिक्कमण = प्रतिक्रमण; सद्भाव में वापसी; प्रत्यावर्तन।
पडिक्कमामि = प्रतिक्रमण करता हूँ।
पम्ह = पद्म; लेश्या का एक भेद; त्यागी, भद्रपरिणामी, पवित्र, सरल, क्षमाशील होना इस लेश्या के मुख्य लक्षण हैं।
पयास = प्रकाश।
पायच्छित्त = प्रायश्चित्त; अनुताप; शुद्धिकरण।
परिसह = परीषह; कायिक/मानसिक उत्कृष्ट पीड़ा की हेतुभूत क्षुधादि वेदनाएँ। ये बाईस हैं।
पहीण = प्रहीण, मुक्त।
पाव = पाप; जो आत्मा के आनन्दरस को क्षीण करता है।
पुग्गल = पुद्गल; रूपी; रूप, रस, गंध, स्पर्श वाले द्रव्य।
प्रतिक्रमण = पूर्वकृत दोषों का पुनरवलोकन; स्वयं में लौटना।
फासुय = प्राशुक; अचित्त।
बेइंदिया = द्वीन्द्रिय जीव।
बोहि = बोधि; आत्मज्ञान।
मज्झं = मेरा; मध्य।
मत्थअ = मस्तक।
महव्वय = महाव्रत; अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य; हिंसादि से सर्वथा विरति।
माण = मान; एक कषाय-भेद।
मिच्छा = मिथ्या; निष्फल; अकरणीय।
मुहुत्त = मुहूर्त; ४८ मिनिट।
मेत्ती = मैत्री, मित्रता, क्षमा/साम्य।
मोक्ख = मोक्ष, मुक्ति।
मोण = मौन।
राअ = राग; जिससे प्राणि आसक्त होता है।
राइय(अ) = रात्रिक; रात्रि के अन्त का प्रतिक्रमण।
रिट्ठनेमि = अरिष्टनेमि; बाईसवें तीर्थंकर।
लेसा = लेश्या; जीव जिसके द्वारा स्वयं को पुण्य-पाप में लिप्त करता है; कषाय के उदय से अनुरंजित योगों की प्रवृत्ति।
लोगस्स = 'लोगस्स' शब्द से आरंभ होनेवाला सूत्र; लोक में; लोक को।
वंदण = वन्दन।
वंभचेर = ब्रह्मचर्य।
वइक्कम = व्यतिक्रम; अतिक्रम और अतिचार के बीच की स्थिति।
वट्टमाण = वर्तमान।
वड्ढमाण = वर्धमान।
वत्थु = वस्तु।
वयण = वचन।
बायर = बादर, स्थूल।
विउस्सग्ग = व्युत्सर्ग, कायोत्सर्ग, देहाध्यास, देह-संबन्धी मिथ्या प्रतीति का विसर्जन।

विराहणा=विराधना, हिंसा।

विसल्लीकरण=विशल्यीकरण; शल्यमुक्त होना; अन्तःकरण, या अवचेतन में जो शल्य चुभ गयी है, और जो मन को निरन्तर क्लेश दे रही है, उसे अमनस्कता (उन्मनी भाव) से उखाड़ फेंकना।

विसुद्धो=विशुद्ध।

विसोहीकरण=विशोधीकरण; शुद्धिकरण; कर्म-मलिन आत्मा को शुद्ध/प्रांजल करना।

वोसिरामि=मैं छोड़ता हूँ; मैं व्युत्सर्ग करता हूँ; मैं ममत्व का त्याग करता हूँ।

शिथिलीकरण=ऐसी देहदशा जिसमें शरीर का आकुंचन, प्रसारण, या अन्य हलन-चलन न हो; स्नायविक व्यापार का पूर्णतः शान्त किया जाना, या होना; रिलेक्सेशन।

संका=शंका।

संलेहणा=सल्लेखना; जिसके द्वारा शरीर और कषाय को कृश किया जाता है।

संवच्छरिअ=सांवत्सरिक, या वार्षिक प्रतिक्रमण।

सक्कत्थव=शक्रस्तव; इन्द्र द्वारा की जानेवाली तीर्थंकर-स्तुति; अपरनाम 'नमोत्थुणं'।

सक्खी=साक्षि।

सज्झाय=स्वाध्याय।

सत्थ=शास्त्र; जिसके द्वारा शासित किया जाता है।

सद्द=शब्द।

समा=समत्व, साम्य, रागद्वेष-रहित मनोदशा।

समाहि=समाधि, समत्व, आन्तरिक संतुलन।

समिइ=समिति; जिसके द्वारा साधक सम्यक् प्रवृत्ति करता है।

सल्ल=शल्य, किसी दोष की चुभन।

सव्व=सर्व, सब, समस्त।

सामाइय=सामायिक; सामयिक, समयबद्ध बैठना।

सामायिक=रागद्वेष-रहित हो कर समत्व में प्रवेश; सर्वसावद्य योग का त्याग; जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, संयोग-वियोग, शत्रु-मित्र, सुख-दुःख में हर्ष-विषाद-रहित समान रहना।

सावग=श्रावक।

सावज्ज=सावद्य, अवद्य, पापयुक्त।

साहु=साधु।

सुक्क=शुक्ल; एक ध्यानभेद; संक्लेश-रहित परिणाम; रागद्वेष/मोहरहित होना, समस्त प्राणियों में समत्व रखना आगामी भोगों की आकांक्षा न करना इत्यादि शुक्ल लेश्या के लक्षण हैं।

सुत्तं=सूत्र।

सुद=श्रुत।

सुय=श्रुत।

सुहुम=सूक्ष्म।

□□

जाप करने के बाद आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय तथा संस्थान विचय, इन चार प्रकार के धर्म्य-ध्यानों का विचार करना चाहिये। गृहस्थ के प्रारम्भ के तीन ध्यान होते हैं, संस्थानविचय नहीं होता; परन्तु मुनिराजों के चारों धर्म्य-ध्यान होते हैं। सूक्ष्म, कालान्तरित तथा दूरवर्ती पदार्थों का चिन्तन आज्ञाविचय धर्म्यध्यान के माध्यम से होता है। चतुर्गति के दुःखों तथा उनसे बचने के उपायों का चिन्तन, उपायविचय धर्म्यध्यान में होता है। किस कर्म के उदय में जीव का कैसा भाव होता है, किस कर्म का बन्ध, उदय तथा सत्त्व किस गुणस्थान तक रहता है, ऐसा चिन्तन करना विपाकविचय धर्म्यध्यान है। और लोक, सुमेरुपर्वत नन्दीश्वर द्वीप तथा अकृत्रिम चैत्यालयों आदि के संस्थान-आकृति आदि का विचार करना संस्थानविचय धर्म्यध्यान है।

सामायिक के काल में शीत, उष्ण, वर्षा तथा डाँस, मच्छर आदि की बाधा होती है तो उसे समताभाव से सहन करना चाहिये। परिणामों की स्थिरता के लिए सामायिक पाठ, तथा बारह भावना आदि का पाठ भी करना चाहिये।

सामायिक पूर्ण होने पर जिस दिशा में मुख है उसी दिशा में खड़े होकर नौ बार णमोकार मन्त्र पढ़ कर तथा भूमिस्पर्श-पूर्वक नमस्कार करना चाहिये। शारीरिक अस्वस्थता, या वृद्धावस्थाजन्य अशक्ति के होने पर प्रारम्भिक और अन्तिम कायोत्सर्ग की क्रियाएँ अपवाद रूप से बैठे-बैठे भी की जा सकती हैं। सामायिक के समय मन, वचन, काय की चंचलता को रोकना चाहिये तथा बड़े उत्साह से सब विधि का पालन करते हुए आदरपूर्वक करना चाहिये।

बारह आवर्त, चार शिरोनति और दो निषद्याओं के विषय में ऐसा भी उल्लेख मिलता है: 'जिस प्रकार मुनियों के सामायिक और स्तव नामक कृति कर्म साथ-साथ होते हैं उसी प्रकार श्रावक के भी दोनों कृति कर्म साथ-साथ होते हैं। सामायिक कृति कर्म में सामायिक दण्डक और स्तवकृति कर्म में थोस्सामि दण्डक पढ़ा जाता है। बारह आवर्तो और चार प्रणामों की संख्या का विवरण देते हुए अन्यत्र यह भी लिखा है कि सामायिक दण्डक के प्रारम्भ और अन्त में तीन-तीन आवर्त करता हुआ एक प्रणाम करता है। इस प्रकार सामायिक दण्डक के ६ आवर्त और २ प्रणाम होते हैं। यही विधि स्तव दण्डक के प्रारम्भ और अन्त में करता है, इसलिए इसमें भी ६ आवर्त और २ प्रणाम होते हैं। दोनों को मिला कर १२ आवर्त और ४ प्रणाम होते हैं। सामायिक कृति कर्म और स्तव कृति कर्म के प्रारम्भ में बैठकर नमस्कार किया जाता है, इसलिए दोनों कृति कर्मों की दो निषद्याएँ (कटिभाग को सम रख कर पद्मासन आदि आसनों से बैठना) होती हैं।

□□

सामायिक : समता-संयम का अभ्यास

सामायिक में कुछ 'करना' और कुछ 'होना' दोनों हैं। 'होना' अंतरंग की वस्तु है, व्यक्तिगत घटना है, इसलिए स्वभाव बन जाती है। करने में औपचारिकता होती है, बल-प्रयोग करना होता है; मन, इन्द्रियों आदि पर ज़बर्दस्ती करनी पड़ती है, उन्हें विषयों से मोड़ना अथवा उनमें रस लेने, उनकी ओर दौड़ने और उनकी चाह करने से रोकना होता है; अतः 'होने' में स्वाभाविकता है इसमें ज़ोर, या दबाव के लिए अवकाश नहीं है। इसी को आप्तकाम, कृतकृत्य, अथवा गीता के शब्दों में 'स्थितप्रज्ञ' की भूमिका कहा गया है।

—कन्हैयालाल सरावगी

सामायिक को परिभाषित करते हुए आगम में कहा गया है कि – **समता सर्वभूतेषु संयमः शुभभावना। आर्त्त रौद्र परित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम् ।।**

(सभी जीवों के प्रति समभाव रखना, मन, वचन, काय को संयमित रखना, आर्त्त और रौद्र ध्यानों का त्याग करना और शुभ भावना में लीन रहना सामायिक व्रत है)। प्रतिक्रमण भी इसी को कहते हैं। ऐसा भी देखा जाता है कि दिगम्बर जैन इसे 'सामायिक' कहते हैं और श्वेताम्बर 'प्रतिक्रमण' ('पडिकम्मण') कहते हैं। वैदिक विचारधारा में यह 'सन्ध्या' के नाम से जानी जाती है। सामायिक अथवा प्रतिक्रमण में पूर्व में किये गये दोषों का पुनरवलोकन, आलोचना, निन्दा, प्रायश्चित्त और भविष्य के लिए समत्व-सत्संकल्प किये जाते हैं। श्रावक के लिए छह कर्म आवश्यक बताये गये हैं, जिनमें से एक सामायिक भी है। सामायिक के बिना साधु, या श्रावक की चर्या पूरी नहीं होती। सामायिक के छह अंग निम्न प्रकार हैं–

प्रतिक्रमण – प्रतिक्रमण में पूर्व-में-किये हुए दोषों का पुनरवलोकन और भविष्य के लिए योग्य प्रतिज्ञा या संकल्प होता है। इसमें अपने दोषों को प्रगट किया जाता है और गुणों का आच्छादन किया जाता है। साधारणतः देव और गुरु के सामने अपने दोषों को प्रगट किया जाता है, पर इनका संयोग न होने पर उन्हें संकल्प में ला कर अथवा स्वयं को साक्षी बना कर प्रगट करने का विधान भी है।

प्रत्याख्यान – इसे गर्हा नाम से भी कहा जाता है। काया, मन और वचन से हुए अथवा अनुमोदित सभी दोषों के प्रति ग्लानि लाना प्रत्याख्यान है।

सामायिक – इसे समत्व भी कहा जाता है। लोक-प्रचलित अर्थ में सामायिक में सभी छह अंग समाये होते हैं, पर एक अंग के रूप में इसका उद्देश्य भेद-विज्ञान (स्व-पर विवेक) के द्वारा जीव को जगत् (पुद्गल) से भिन्न देखते हुए सभी चैतन्य अथवा जीव-मात्र में समता अर्थात् जैविक विभुत्व के दर्शन करना होता है।

स्तवन – देव-मूर्ति के सामने अथवा परिस्थिति के अनुसार अपने मानस-पटल पर एक आदर्श देव, शास्त्र या गुरु को स्थापित कर उनके सामने उनके गुणों का आदर वृद्धि से चिन्तन और ध्यान करते हुए उन गुणों को अपने में उतारने, अथवा लाने का उद्यम करना।

वन्दना – साधारणत: बोलचाल और व्यवहार में स्तवन और वन्दन का समान अर्थ में प्रयोग होता है, पर दोनों में यहाँ थोड़ा भेद है। इसमें अपने इष्ट से दोषों को दूर कर गुणों को अपने में प्रतिष्ठित करने और आध्यात्मिक उपलब्धि के लिए प्रार्थना की जाती है।

कायोत्सर्ग – संसार और उससे संबन्धित व्यक्तियों (माता, पिता, पुत्र, स्त्री, मित्र आदि), स्वत्व (धन, धान्य, संपत्ति आदि परिग्रह) इत्यादि में क्रमश: मोह कम करते हुए अन्त में देह से भी, जिसे भ्रमवश साध्य मान लिया गया है, ममत्व हटा कर आत्मचिन्तन और ध्यान में लीन होना।

सामायिक के निश्चय और व्यवहार दो रूप हैं। तत्त्वदर्शी सम्यक् चरित्र वाले साधुओं के सहज ही निश्चय सामायिक होती है, इसके लिए उन्हें प्रयास नहीं करना पड़ता। सामायिक को स्थिर करने के लिए नये साधक अथवा श्रावकों के द्वारा व्यवहार सामायिक की जाती है। इसके चार भेद हैं–

(१) **श्रुत सामायिक** – आध्यात्मिक ग्रंथों का अध्ययन और मनन करना (स्वाध्याय)।
(२) **सम्यक्त्व सामायिक** – मिथ्या श्रद्धान से हट कर सम्यक् श्रद्धान में लगना।
(३) **देशविरत सामायिक** – श्रावकों के अणुव्रत रूप आचार को स्वीकार कर अपनाना।
(४) **सर्वविरत सामायिक** – महाव्रतों का निरतिचार पालन करना।

सामायिक के लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव चारों की शुद्धि आवश्यक है। सामायिक के ५ अतिचार हैं, जिनसे वचना चाहिये; ये हैं–(१) मनोदुष्प्रणिधान (मन से बुरा चिन्तन करना), (२) वचन दुष्प्रणिधान (वाणी से खोटे, कर्कश, मर्मवेधी बातें बोलना), (३) काय दुष्प्रणिधान (शरीर से बुरे आचरण करना), (४) अस्मृति (सामायिक कर रहा हूँ इसे भूल जाना), और (५) अनवस्थितता (अव्यवस्थित अथवा अशास्त्रीय रीति से सामायिक करना)।

सामायिक एक आचार (सदाचार) की पद्धति और मानसिक परिणति है। इसे समय, स्थान, या प्रकार में नहीं बाँधा जा सकता, पर आरम्भिक अवधारणा अथवा अभ्यास के लिए इसे प्रात: मध्याह्न और संध्या तीनों कालों में करने का विधान है। इसके लिए प्रति समय कम-से-कम दो घड़ी (४८ मिनिटों) का समय होना चाहिये। उपरोक्त छह कार्य (प्रतिक्रमण आदि) यदि जल्दी निबट जाएँ तो शेष समय जप, स्वाध्याय अथवा ध्यान में बिताना चाहिये। देवालय, उपाश्रय, एकान्त स्थान (जन-संचार अथवा दुश्चरित्र लोगों के आवागमन आदि से शून्य स्थान)

अथवा घर का कोई एकान्त स्थान, जहाँ बालकों, स्त्रियों आदि का कोलाहल न हो, आदि स्थान सामायिक के लिए उपयुक्त होते हैं।

आलोचना भी सामायिक का एक अंग है। यद्यपि प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान में भी आलोचना की जाती है, फिर भी उसका महत्त्व इसलिए अधिक है कि इससे अपने दोषों को देखने और उनसे छूटने की आदत बनती है और दूसरों के दोष देखने की टेव विराम पाती है। आत्मालोचन करने वाले व्यक्ति को हर दोषी चेहरा अपना ही प्रतिबिम्ब दीखने लगता है, अतः पर अथवा कहें दोषी के प्रति घृणा न हो कर दोषों के प्रति होने लगती है। अपनी आलोचना निरापद होने और दोषों को दूर करने में सहायक होती है और परायी आलोचना में दोषों के प्रति बहुमान और जनाक्रोश का भय होता है।

सामायिक जीवन की एक महत्त्वपूर्ण शैली है। इसमें कुछ करना और कुछ होना दोनों होते हैं। करणीय की छह और चार रीतियों का ऊपर दिग्दर्शन कर चुके हैं। होना अंतरग की वस्तु है, व्यक्तिगत मामला है इसलिए स्वभाव बन जाता है। करने में औपचारिकता होती है, बल-प्रयोग करना होता है; मन, इन्द्रियों आदि पर जबर्दस्ती करनी पड़ती है, उन्हें विषयों से मोड़ना अथवा उनमें रस लेने, उनकी ओर दौड़ने और उनकी चाह करने से रोकना होता है। उन्हें यम-नियमों के घेरे में डालना पड़ता है और लोकलाज, दण्ड, प्रायश्चित्त आदि का भय अथवा भावी सुभोग, सुयोग, सुयोनि, स्वर्ग आदि का आकर्षण अथवा लालसा पैदा करनी होती है। होने में स्वाभाविकता है, इसमें जोर, या दबाव को जगह नहीं होती। इसी को आप्तकाम, कृतकृत्य अथवा गीता के शब्दों में स्थितप्रज्ञ की भूमिका कहते हैं।

घोड़े को साधने के लिए नाना प्रकार के साधन, उपकरण आदि जुटाने और उपाय करने पड़ते हैं और सध जाने पर जैसे वह इशारे मात्र से इच्छित कार्य करने लगता है, वैसे ही साधन की आरम्भिक भूमिका-रूप उपरोक्त प्रतिक्रमण आदि [illegible] स्वभाव बन जाते हैं तब उनके लिए कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। वह हृदय [illegible] अन्तरतम गहराइयों में 'सब जीवों में मेरे समताभाव जग्यो है' का [illegible] लगता है। बाहर में उसका जीवन यद्यपि पूर्ववत् ही दीखता है, पर [illegible] बिलकुल पलट गया होता है। स्तुति-निन्दा, सत्कार-दुत्कार, रोग-आरोग्य, [illegible] शत्रु-मित्र, जीवन-मरण, सिद्धि-असिद्धि, घर-मसान आदि सब [illegible] बन जाते हैं।

मन की चंचलता जब तक नियन्त्रण के क्रम में रहती है, [illegible] तरह समाहित नहीं हो जाता, तब तक उसके बहक जाने [illegible] नहीं किया जा सकता। मन में कुछ ऐसी भावनाएँ छिपी रहती हैं [illegible] पा कर सहसा उभर आती हैं और मनुष्य को कहीं-से-कहीं [illegible]

यही सामायिक है

हम जो चाहते थे वह नहीं हुआ और नहीं हो पा रहा है और हमें लगता है कि वह हो भी नहीं पायेगा। और जो हम नहीं चाहते थे वह अतीत में घटित होता रहा, अभी भी घटित होता जा रहा है, और शायद आगे भी घटित होता ही जाएगा; अतः हम क्रुद्ध हैं: दूसरों से, अपने-आप-से भी। इस क्रोध की कोई अभिव्यक्ति नहीं हो पा रही है तो धीरे-धीरे यह जगत् और जीवन के प्रति अवसाद की भावस्थिति में परिवर्तित लेता जा रहा है।

—डॉ. भानीराम

महावीर ने एक ऐसी बात कही है जो वर्तमान मनोविज्ञान से सम्बन्धित तथा समर्थित है—'अर्हत् अतीत के अर्थ का संधान नहीं करता और अर्हत् अनागत के अर्थ का संधान भी नहीं करता। वह वर्तमान को देखता है और उसी के अर्थ का संधान करता है।'

अगर हम अनुभूति-के-दर्पण में देखें तो अतीत काल नहीं है, काल की स्मृति है। अनागत भी काल नहीं है, काल का विचार है, अनुमान है, आशंका है। काल तो वर्तमान है और वर्तमान एक क्षण है। इस क्षण-बिन्दु पर जो स्थित है वह 'समय' पर स्थित है और जो 'समय' पर स्थित है उसी की आन्तरिक स्थिति को सामायिक कहा जा सकता है।

सारे विश्व में मनोरोगों की अभूतपूर्व वृद्धि हो रही है। इनका अस्तित्व सदा था, लेकिन इस अनुपात में नहीं। प्रायः मनो-स्नायविक रोगों को हम दो प्रमुख वर्गों में बांट सकते है—अवसाद (डिप्रेशन)-जनित रोग तथा आशंका (एंग्जाइटी)-जनित रोग। मानसिक तनाव इस युग में इतना क्यों बढ़ रहा है तथा मानवीय मन इतना अधिक संवेदनशील क्यों होता जा रहा है, यह अपने-आप में अनुसंधान का विषय है, लेकिन इसका उपचार जागतिक स्तर पर अपेक्षित है।

अवसाद एक प्रकार का दमित आक्रोश है। वह सामान्य उदासी नहीं है, वैराग्य नहीं है, अरुचि या अरति नहीं है। महावीर के शब्दों में वह रौद्रध्यान है। हम जो चाहते थे वह नहीं हुआ और नहीं हो पा रहा है और हमें लगता है कि हो भी नहीं पायेगा। और जो हम नहीं चाहते थे वह अतीत में घटित होता रहा, अभी भी घटित होता ही जा रहा है, और शायद आगे भी घटित होता ही जाएगा; अतः हम क्रुद्ध हैं, दूसरों से, अपने-आप-से भी। इस क्रोध की कोई अभिव्यक्ति नहीं हो पा रही है तो धीरे-धीरे यह जगत् और जीवन के प्रति अवसाद की भावस्थिति में परिवर्तन लेता जा रहा है। यह अवसाद अपनी परम रुग्ण स्थिति में जीवन से घृणा और आत्महत्या की उत्प्रेरणा का स्रोत भी बन जाता है।

लेकिन संवेदना-की-आँख से देखें तो हमें जीवन से घृणा हो नहीं सकती। जिजीविषा हममें भरी है। हर आदमी में भरी है। हर प्राणी में भरी है। मृत्यु का भय हम में भरा है। हर प्राणी में भरा है, फिर भी लोग मन की उस वर्जित स्थिति तक कैसे पहुँच जाते हैं जहाँ आत्महत्या संभव बन जाती है? महावीर से हम पूछें तो उसका उत्तर बड़ा सरल और स्पष्ट है—'सारे प्राणी, भूत, जीव और सत्व सुख चाहते हैं। दुःख के प्रतिकूल हैं, मरण से भयभीत हैं' (सव्वे पाणा सुमाहया, दुक्खपड़िकूला, मरण भया...); लेकिन हम अपनी पसंद का जीवन चाहते हैं। जीवन से हमें प्रीति है, लेकिन जीवन पर अपनी पसंद की शर्त आरोपित है। आत्म-हत्या करने को इच्छुक व्यक्ति भी मरना नहीं चाहता, बल्कि जीना चाहता है, लेकिन अपनी पसंद का जीवन जीना चाहता है जो उसे किसी भी कारण से उपलब्ध नहीं हुआ तो वह जीवन का अन्त करने को उतारू हो गया। यह एक मानसिक विकार है, रुग्ण-मनःस्थिति है और इसके पीछे आक्रोश है, रौद्र भाव है, इतना रौद्र कि जो जीवन के प्रति हमारी सहज प्रीति का भी अतिक्रमण करने को तैयार है।

आशंका-जनित रोग स्वतन्त्र रूप से भी आते हैं। मानव में तथा हर प्राणी में आशंका एक सहज वृत्ति है; लेकिन अन्य सब प्राणियों में आशंका तात्कालिक कारणों को लेकर होती है तथा उनके समाहित होते ही वह स्वयं भी मिट जाती है। मानव ही एक ऐसा प्राणी है जो भूतकाल के बारे में विचार करता है, भविष्य की संभावना के बारे में सोचता है; अतः जहाँ अन्य प्राणियों में तथा आदिम मानव-जाति में आशंका प्रकृति-प्रदत्त जीवन की सुरक्षा का एक साधन रही है वहीं सभ्य और सुसंस्कृत विचारशील मानव में जीवन को रुग्ण और दुःखमय कर डालने का उपकरण बन गयी है। अवसाद रौद्रध्यान है, विगत के बारे में तो आशंका आर्त्त ध्यान है; अनागत के बारे में। और यह अनागत एक विचार है, अनुमान है, स्थिति नहीं है।

बहुधा आशंका भी एक प्रकार का मुखौटा होती है और उसके पीछे अवसाद उपस्थित रहता है। जैसे एक व्यक्ति को उच्च स्थान से भय है, खुली खिड़की के पास खड़े होने से भय है, पुल पर खड़े होने से भय है। यह भय उच्च स्थान, या खिड़की या पुल से नहीं अपितु अपने आपसे है और व्यक्ति अपने भीतर इस प्रकार की वर्जित उत्प्रेरणाओं से आक्रान्त है, जो उसके जीवन के लिए उसी के हाथों खतरा बनी हुई है। यहाँ बाहर से जो आशंका प्रतीत होती है वह भीतर से अवसाद ही है।

आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान एकदम पृथक्-पृथक् कर्म ही होते हैं, बल्कि अधि-कांशतः वे मिले-जुले होते हैं। प्रायः हर आशंका के पीछे अवसाद खड़ा रहता है और प्रायः अवसाद की स्थिति विविध आशंकाओं के रूप में व्यक्त होती रहती है; लेकिन इन सबका मूल कारण एक ही है। वह है अतीत के प्रति आक्रोश या अनागत के प्रति अनुमान-जनित भय। और जैसा कि महावीर स्पष्ट करते हैं, अतीत काल नहीं, स्मृति

है तथा अनागत भी काल नहीं, अनुमान है। रौद्रध्यान का केन्द्र अतीत के विषय में हमारी भावनाएँ हैं। जो बीत गया है हम उसी में जाते हैं। आर्त्तध्यान का केन्द्र अनागत के प्रति अनुमान है, विचार है और उस विचार-जनित भय है। जो अभी उपस्थित हुआ ही नहीं है उसके विचार में हम जीते हैं। यह हमारी पीड़ाओं का स्रोत है, सारे मनो-स्नायु रोगों का उद्गम है।

पश्चिम के एक मनोवैज्ञानिक का सुझाव है। लिव्ह इन डे-लाइट कम्पार्टमेंट्स। प्रतिदिन को एक रेल का डिब्बा समझ कर उसी तक अपने में सीमित रखते हुए जीओ। रेल के डिब्बे के पीछे भी बहुत सारे डिब्बे हैं और आगे भी बहुत हैं, लेकिन चूंकि हम एक समय एक ही डिब्बे में हों तो तुम्हारा सरोकार मात्र उसी से है। विगत का 'कल' हमारे लिए अब कोई कीमत नहीं रखता। अनागत का कल भी हमारे लिए निरर्थक है। अर्थपूर्ण है केवल 'आज', जिसमें हम हैं। इस आज को अतीत के 'कल' तथा अनागत के 'कल' से पृथक् कर देखो तो तुम्हारे सामने बहुत काम है करने को, बहुत समस्याएँ हैं समाधान खोजने को और बहुत घटनाएँ हैं समझने को।

इसी बात को हज़ारों वर्ष पूर्व ईसा मसीह कहते हैं – 'आज के दिन के लिए आज का ही काम बहुत है। उसमें कल की आफत क्यों जोड़ते हो? जो कल चला गया उसके बारे में हमारे पास करने को क्या है? और जो कल आने वाला है, क्या पता वह वैसा ही होगा जैसा कि अभी हमें अपनी आशंकाओं के दर्पण में दिखायी देता है? आज का दिन निश्चित है, सामने है। उसमें बहुत कुछ आनंदित या उदास होने को है और बहुत कुछ कार्य करने को उपस्थित है। इसे ठीक कर लो तो कल भी ठीक होगा; क्योंकि कल को भी अन्ततः तो 'आज' बन कर ही सामने आना है।

व्यावहारिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में यह बात बहुत उपयोगी है तथा विचारों के एक बृहद् चक्र-व्यूह से हमें मुक्त करने वाली है; लेकिन महावीर इसमें भी आर्त्त-ध्यान और रौद्रध्यान की स्थितियाँ देख रहे हैं जो सही है। 'आज' में भी बहुत-सा बीत गया है। वह 'कल' हो गया है। और बहुत-सा ऐसा है जो अभी आया ही नहीं है, अभी तक 'आज' बना ही नहीं है, वह भी भावी 'कल' ही है। हर दिन भी असंख्य क्षणों का समवाय है और बहुत क्षण प्रतिपल बीतते जा रहे हैं, बहुत क्षण अभी सामने नहीं आये हैं। सामने तो एक क्षण, और एक क्षण का भी एक लघुतम खण्ड है, वह 'समय' है। उसमें रौद्रध्यान को अवकाश नहीं है। उसमें आर्त्तध्यान को भी अवकाश नहीं है। उसमें विचार और स्मृति के लिए कुछ है ही नहीं। जो भी है वह 'जीना' है, सीधा जीवन है। वह प्रिय या अप्रिय कुछ भी नहीं है, वह मात्र 'है'। उस होने में ही हम अपनी सम्पूर्ण अखण्डता में होते हैं। यही 'सामायिक' है।

अगर अवसाद और आशंका-जनित मनोरोगों का कोई उपचार कहीं है तो महावीर के इस सामायिक-सूत्र में ही है।

□□
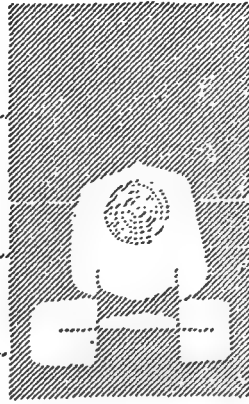
निम्ममो निरहंकारो निस्संगो चत्तगारवो।
समो य सव्वभूएसु तसेसु थावरेसु य ।।
लाभालाभे सुहे दुक्खे जीविए मरणे तहा।
समो निन्दापसंसासु तहा माणावमाणओ।।
गारवेसु कसाएसु दंडसल्लभएसु य।
नियत्तो हाससोगाओ अनियाणो अबन्धणो।।
अणिस्सिओ इहं लोए परलोए अणिस्सिओ।
वासी चन्दणकप्पो य असणे अणसणे तहा।।

साधु को ममत्व-रहित, निरहंकार, निर्लिप्त, नम्र, और प्राणिमात्र में (त्रस/स्थावर में) समभावयुक्त होना चाहिये। लाभ हो, या अलाभ; सुख हो, या दुःख; जीवन हो, या मरण; निन्दा हो, या प्रशंसा; मान हो, या अपमान सर्वत्र समभाव होना ही साधुत्व है। (सच्चा साधु) गौरव, कषाय, दंड, शल्य, भय, हास्य, और शोक से निवृत्त, निदान, और बन्धन से रहित होता है। यदि कोई विरोधी तेज कुल्हाड़े से काटता है, या कोई भक्त शीतल/सुगंधित चन्दन का लेप करता है, तो भी साधु को इन दोनों पर समभाव ही रखना होता है। (वह साधु कैसा, जो क्षण-क्षण में रागद्वेष की तरंगों में बह निकलता हो, जिसका न भूख पर नियन्त्रण हो, न भोजन पर संयम!!)। साधु तो अशन/अनशन दोनों स्थितियों में समभाव रखता है।

सामायिक : एक प्रयोगोन्मुख अनुशीलन

जैसे हाथी के पाँव में सबके पाँव आ जाते हैं, वैसे सामायिक में सारे मोक्ष-साधन सन्निहित है।

— डॉ. सोनेजी

भारतीय संस्कृति अध्यात्ममूलक है। पूर्व मनीषियों ने विविध प्रकार के आयोजनों द्वारा आत्मा को निर्मल करने का उद्यम किया है, और दूसरों को भी उनमें प्रवर्तन कराया है। इन विविध प्रकारों में सब-से-अधिक व्यापक, सर्वमान्य और सर्वोत्तम साधन स्मरण, चिन्तन, भावना, या ध्यान है। इसी साधन-विशेष (सामायिक) का वैज्ञानिक स्वरूप वीतराग-दर्शन, जैन दर्शन में प्रतिपादित किया गया है।

शब्द-व्युत्पत्ति की दृष्टि से सामायिक की व्याख्या हम इस प्रकार कर सकते हैं। सम + आय + इक् = राग-द्वेष-रहित परिणाम (आय) है प्रयोजन जिसका ऐसा जो अनुष्ठान है, वह सामायिक है। इस प्रकार समता-समाधि पाने के लक्ष्य से जो आत्म-परिणामों — को निर्मल और एकाग्र करने का उद्यम किया जाता है, उसे 'सामायिक' कह सकते हैं। यह सामायिक का निश्चय स्वरूप जानना। साधना की दृष्टि से सब जीवों में समताभाव रखना, संयम और शुभ भावना में रहते हुए आर्त्त और रौद्र ध्यान का त्याग करना, इसे सामायिक का अभ्यास समझना चाहिये।

मन-वचन-काय की शुद्धि-सहित योग्य एकान्त स्थान, मंदिर, या तीर्थ में चारों दिशाओं में तीन-तीन आवर्त और एक-एक प्रणाम करके खड़े-खड़े, अथवा पद्मासन, अर्द्ध-पद्मासन, या सुखासन से बैठ कर सामायिक करना चाहिये। मुख पूर्व या उत्तर दिशा में हो। आसन स्थिर हो और शरीर के स्नायु सहज शिथिल हों।

सामान्य साधक पहले अपने चित्त की निर्मलता के लिए स्तुति-पद बोल कर अपना उपयोग उसमें लगाये, अथवा कोई एक सामायिक पाठ शान्ति से पढ़े, अथवा अपने इष्ट मन्त्र का जाप करे। इस प्रकार से, जब २०-२५ मिनिट में अपने चित्त की शान्ति हो तब फिर स्थिरता के लिए हृदय-प्रदेश में, या भृकुटि-मध्य में वीतराग-परमात्मा, या सद्गुरु की प्रतिमा को स्थापित करके, मौन रहते हुए, उनके नाम, रूप, गुण और चरित्र के प्रसंगों का चिन्तवन करे। अपनी चित्तवृत्ति शुद्ध आलम्बन में लगी रहे, टिकी रहे इसलिए उसे मूर्ति के पाद-तल-से-लेकर-शिर-तक और फिर सिर-से-लेकर पांव के अँगूठे तक 'परिकम्मा' कराना। इस प्रकार कुछ समय तक ठीक रूप से चिन्तन हुआ तो कई अनुभव हो सकते हैं: (१) पूरा शरीर मानो एक आनन्द-स्पन्दनों के स्तर से जकड़ गया है; (२) विद्युत्-प्रवाह एक साथ सारे [illegible]

में बह रहा है; (३) विद्युत्-प्रवाह एक अवयव में प्रविष्ट होकर सारे शरीर में घूम कर उसी अवयव से निकल जाता है; (४) हम अपने ही निकट शरीर को अलग वस्तु की भाँति देख रहे हैं; (५) शरीर तो जमीन पर पड़ा है और हम ऊँचे-ऊँचे चढ़ रहे हैं, इत्यादि विविध अनुभव हो सकते हैं।

यदि और भी स्थिरता ध्यान में बनी रही तो पंच परमेष्ठी के जिस स्वरूप का ध्यान अब तक हम कर रहे थे वह 'करने-रूप चित्त-व्यापार' अटक जाता है। अब ध्यान 'कर' नहीं रहे है, 'हो' रहा है। आखिर की दशा में सब उस एकाकार चैतन्यसत्तामात्र में विलीन हो जाता है और तत्क्षण ही अपूर्व, अतीन्द्रिय आनन्द की अनुभूति होती है।

ऊपर कहे अनुसार और दूसरे शास्त्रों में भी वर्णित विविध अनुभव अपनी-अपनी समुच्चय योग्यता के अनुरूप कभी-कभी साधक को होते हैं। किसे, क्या, कितना, किस मात्रा में अनुभव होगा यह निश्चित नहीं कहा जा सकता। पूर्वभव की आराधना, चित्त की निर्मलता, गुरुगमसहित पदार्थ का निर्णय, अभ्यास की मात्रा, आत्यन्तिक मुमुक्षुता, और पंच परमेष्ठी के स्वरूप की अतिशय और पारमार्थिक भक्ति मुख्य नियामक कारण हैं। जिसमें एक बार भी परमार्थ अनुभूति का अंश प्रगट हो जाता है, उसका समस्त व्यक्तित्व आमूल बदल जाता है। उसके जीवन में परमार्थ प्राप्ति की ही मुख्यता हो जाती है।

आत्मतत्त्व के यथार्थ परिज्ञान एवं भावभासनपूर्वक जैसे-जैसे पापों से निवृत्ति होती जाती है और इन्द्रिय-संयम की वृद्धि होती जाती है, वैसे-वैसे सामायिक को धारण करने की क्षमता बढ़ती जाती है। पहले तीन गुणस्थानों में वह नहीं होता, चौथे में उसकी अल्पांश में झाँकी होती है, पाँचवें-छट्ठे में वह वृद्धिंगत होता है। चरणानुयोग की अपेक्षा सातवें में और करणानुयोगकी अपेक्षा बारहवें गुणस्थान में वह पूर्ण होता है।

समस्त पापों, और दोषों को मिटाने के लिए साधक के पास सामायिक-जैसा कोई अन्य साधन नहीं है। जैसे हाथी के पाँव में सब पाँव आ जाते हैं, वैसे सामायिक में सब मोक्ष-साधन सन्निहित होते हैं।

पाप-प्रवृत्ति को कम करके, अपनी बुद्धि को निर्मल बना कर, सत्पुरुष-सत्शास्त्र के माध्यम से तत्त्वज्ञान को पाना चाहिये। सब तत्त्वों में परम उपादेय ऐसे निज-आत्मतत्त्व का सुचारु रीति से निर्णय करके, उसी के पठन-पाठन, कथन-चिन्तन, मनन-स्मरण, भावभासन-एकत्व का अभ्यास करना चाहिये।

□□
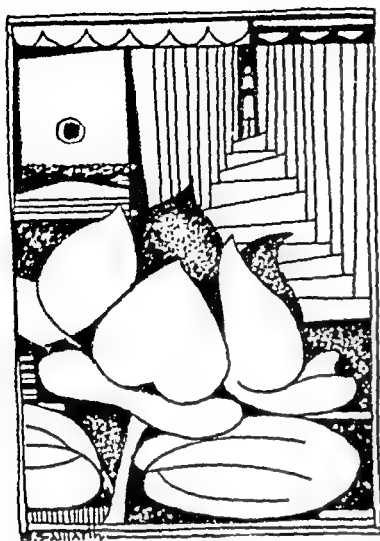
प्रतिक्रमण : आत्मशोधन की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया

उस प्रक्रिया में आत्मशोधक विचार करता है कि मैंने अपने दैनिक व्यवहार में, या दैनिक चर्या में यदि किन्हीं जीवों को, या किन्हीं लोगों को प्रमाद, या कषाय से कष्ट पहुँचाया हो, उनका अहित किया हो, उनके विषय में बुरा सोचा हो, तो वह मिथ्या हो ।

—डॉ. दरबारीलाल कोठिया

मनुष्य का जीवन बहुत ही मूल्यवान है और उसकी आयुसीमा सीमित है। सौ-डेढ़ सौ वर्ष से अधिक वह नहीं जीता । कितने ही मनुष्य पचास वर्ष भी पूरे नहीं कर पाते और उनकी मृत्यु हो जाती है । ऐसी स्थिति में उसे उचित है कि वह ऐसा जीवन बिताये कि उसे सैकड़ों-हजारों वर्षों तक लोग स्मरण रखें। मनुष्य अन्य प्राणियों की अपेक्षा ज्यादा समझदार है और वह अपने तथा विश्व के लोगों के लिए शाश्वत शान्ति एवं कल्याण के काम कर सकता है। गलतियाँ भी उससे हो सकती हैं; किन्तु उन्हें वह महसूस करे और प्रयत्न करे कि आगे गलतियाँ नहीं होंगी।

जैनधर्म, और उसका समग्र आचार-विचार मनुष्य को अच्छे-से-अच्छा बनाने की दिशा में प्रयत्नशील रहता है। अध्यात्म तो उसका लक्ष्य है ही, इस लोक को भी वह स्वच्छ, उच्च, अनुशासित और सुव्यवस्थित बनने का निरन्तर सन्देश देता है। जिसका इहलोक अच्छा नहीं, उसका परलोक अच्छा कैसे हो सकता है? हम गाड़ी में सफर करते हैं और पहले उसमें घुसने तथा बैठने की चेष्टा करते हैं। इस चेष्टा में कभी-कभी किसी दूसरे भाई को चोट, या आघात पहुँचता है तो वह कहता है कि 'दिखता नहीं है, अन्धे हो'। यदि हम तुरन्त उससे कहें कि 'क्षमा करें, जल्दी के कारण ऐसा हुआ', तो वह शान्त हो जाएगा। और हम चोट कर उलटा जवाब दें कि 'हम अन्धे नहीं हैं, तुम अन्धे हो' तो झगड़ा बढ़ेगा। वस्तुतः ऐसे अवसरों पर ही समझदारी की आवश्यकता होती है। समझ से काम लेने पर झगड़ा नहीं बढ़ता ।

चिरकाल से मनुष्य के ऊपर ऐसे संस्कार पड़े हुए होते हैं, जिनके कारण उसकी सोयी कषाय और प्रमाद जाग उठते हैं और उससे असीमित हानि कर डालते हैं।

इस कषाय और प्रमाद को विवेक एवं समझ द्वारा ही निरस्त किया जा सकता है। जिन्होंने कषाय और प्रमाद को निरस्त करके 'समभाव' और 'समझदारी' प्राप्त कर ली है, वे दूसरों को भी उन्हें निरस्त करने के लिए आगाह करते हैं। यों तो प्रायः सभी सोचते हैं कि हमसे ग़लतियाँ न हों; किन्तु कषाय और प्रमाद के आवेग में आने पर वे उन्हें कर डालते हैं, इसीलिए कहा जाता है कि 'जोश-के-साथ-होश' होना जरूरी है।

जैनधर्म में इसके लिए अनेक उपायों का निर्देश किया है। उनमें एक उपाय है : प्रतिक्रमण। यह आत्मशोधन की एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में आत्मशोधक विचार करता है कि 'मैंने अपने दैनिक व्यवहार में, या दैनिक चर्या में यदि किन्हीं जीवों को, या किन्हीं लोगों को प्रमाद, या कषाय से कष्ट पहुँचाया हो, उनका अहित किया हो, उनके विषय में बुरा सोचा हो तो वह 'मिथ्या' हो। यह मुझसे बहुत बड़ी भूल हुई है और मैं उसे स्वीकार करता हुआ उसकी गर्हा (घृणा) करता हूँ, निन्दा करता हूँ और उसे त्यागता हूँ। आचार्य अमितगति अपने लघु सामायिक पाठ में यही कहते हैं—

> राग द्वेषान्ममत्वाद्वा हा! मया विराधिताः ।
> क्षमन्तु जन्तवस्ते मे तेभ्यः क्षमाम्यहं पुनः ।।
> मनसावपुषावाचा कृतकारितसम्मतैः ।
> रत्नत्रयभवं दोषं गर्हे निन्दामि वर्जये ।।

(राग से, द्वेष से, मोह से मेरे द्वारा अनेक प्राणियों को कष्ट पहुँचाया गया है, इसका मुझे खेद है, मुझे वे क्षमा करें, मैं भी उन्हें क्षमा करता हूँ। यदि मैंने मन से, वचन से, काय से और कृत-कारित-अनुमोदना से अपने सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र में दोष लगाया हो तो मैं उसकी गर्हा करता हूँ, निन्दा करता हूँ और उसे छोड़ता हूँ।)

ये ही आचार्य 'वृहत् सामायिक पाठ' में और स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि 'हे परमात्मन्! यदि मैंने प्रमादवश इधर-उधर चलते समय एकेन्द्रिय आदि जीवों को आघात पहुँचाया हो, उन्हें मारा हो, मिटा दिया हो या पीड़ित किया हो तो वह मेरा दुष्कृत्य मिथ्या हो—छूट जाए—मुझे अपने उस कृत्य पर बहुत खेद है ।।५५।।'

'मैं निन्दा, आलोचना और ग्लानि के साथ उस मन, वचन, काय और कषाय से एवं संसार-परिभ्रमण के कारण हुए पाप को नाश करता हूँ। यह उसी प्रकार जिस प्रकार एक वैद्य निश्छल एवं निःस्वार्थभाव से सर्पादि द्वारा डसे मनुष्य को अपने मन्त्र मंत्रों से पूर्णतया निर्विष बना देता है।'

इस प्रतिक्रमण से मनुष्य को अपनी ग़लतियों का भान होता है और उन ग़लतियों पर उसे पछताना होता है। इससे उसका हृदय मलिन-से-निर्मल होगा

: उस निर्मल हृदय में स्वच्छ विचारों का अंकुर उगेगा तथा उसकी क्रिया भी ुरूप बनेगी। यद्यपि यह प्रतिक्रमण साधु पुरुषों – मुमुक्षु सन्तों के लिए विहित है ापि श्रावक भी उसका आचरण करें तो उनका भी भला होगा। वे समाज और ट्र के आदर्श नागरिक बन कर सारे विश्व को आकर्षित कर सकते हैं; साथ ही लोक और परलोक दोनों को अच्छा बना सकते हैं। अच्छा सोचेंगे, अच्छा बोलेंगे : अच्छा करेंगे तो क्यों नहीं यह विश्व हमारी तरफ आकर्षित होगा, और प्रभावित कर खुद भी उस मार्ग पर चलने लगेगा।

यह प्रतिक्रमण यों तो शास्त्रों में अनेक प्रकार का वर्णित है; किन्तु मुख्यतया ा प्रकार का है: १. दैवसिक, २. रात्रिक, ३. पाक्षिक, ४. मासिक, ५. चातुर्मासिक, वार्षिक, और ७. जीवनान्तिक।

१. **दैवसिक** – दिन-भर में किये दुष्कृत का सायं पश्चात्ताप करना दैवसिक तक्रमण है।

२. **रात्रिक** – रात में हुए दुष्कृत का प्रातः पश्चात्ताप करना रात्रिक प्रतिक्रमण है।

३. **पाक्षिक** – १५ दिन में लगे दोषों का हर पन्द्रहवें दिन पश्चात्ताप करना क्षिक प्रतिक्रमण है।

४. **मासिक** – प्रतिमास के अन्त में मास-भर के दोषों का पश्चात्ताप करना क्षिक प्रतिक्रमण है।

५. **चातुर्मासिक** – चौमासे में लगे दोषों का चातुर्मास के अन्त में पश्चात्ताप ना चातुर्मासिक प्रतिक्रमण है।

६. **वार्षिक** – साल-भर में हुए दुष्कृतों का साल के अन्त में पश्चात्ताप करना र्षिक प्रतिक्रमण है।

७. **जीवनान्तिक** – जीवन-समाप्ति पर अर्थात् सल्लेखना धारण करने पर वन-भर किये दोषों का पश्चात्ताप करना जीवनान्तिक प्रतिक्रमण है। इस प्रतिक्रमण उत्कृष्ट और आवश्यक कहा गया है, क्योंकि इहलौकिक शरीर छूटने पर परलोक जाना पड़ता है; अतः **सर्वनिराकृत्य विकल्पजालं संसारकान्तारनिपात हेतुम्** – ारूपी अटवी (निर्जन वन) में भटकाने वाले – फिराने वाले तमाम विकल्पों को इसी क में छोड़ देना सर्वथा उचित है। इससे मनुष्य हल्का और पाप-भार से मुक्त कर परलोक में सुख एवं शान्ति को प्राप्त करता है। प्रतिक्रमण का सबसे बड़ा लाभ यही है। यह सही है कि प्रतिक्रमण से गलतियों का त्याग नहीं होता, ु गलती करने वाले को अपनी गलती का अहसास हो जाता है। यह भी संभव कि वह अनेक बार गलती करता जाए और उसे स्वीकार भी करता जाए; ु गलती को स्वीकार करना ही एक बड़ा गुण है क्योंकि इस तरह वह धीरे-धी इनसे मुक्त हो जाएगा और महामानव बनेगा। ☐☐
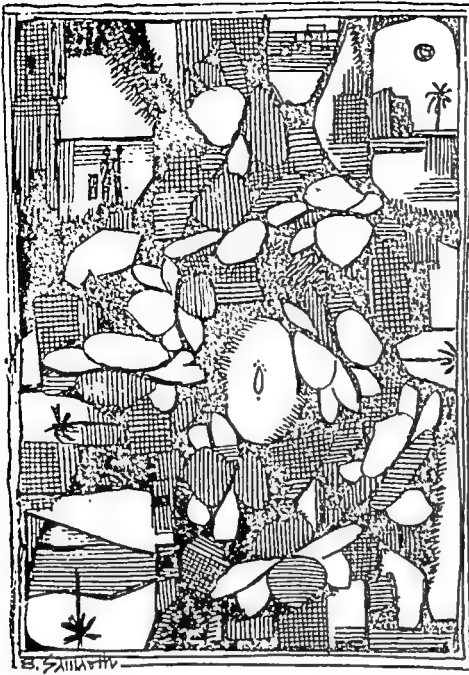
प्रतिक्रमण/सामायिक . संदर्भ ग्रन्थ/पुस्तक/विशेषांक

आवश्यक : (हरिभद्रीय वृत्ति); आगमोदय समिति, बम्बई; 1916।

आवश्यक क्रिया (पृ. 174–204) : दर्शन और चिन्तन खण्ड 1,2 : पं. सुखलाल; पं. सुखलाल सन्मान समिति, गुजरात विद्या सभा, भद्र, अहमदाबाद; 1957।

आवश्यक चूर्णि : जिनदास गणी महत्तर; रतलाम; 1928।

आवश्यक निर्युक्ति : आगमोदय समिति, बम्बई।

आवश्यक सूत्र : पुण्यविजय; महावीर जैन विद्यालय, बम्बई।

आलोचना पाठ (हिन्दी) : जौहरीलाल।

कायोत्सर्ग (गुजराती) : अमृतलाल कालीदास दोशी; जैन साहित्य विकास मंडल, 96-बी, इरला पारले, बम्बई-400 056; पृ. 90; रु. 10-00; 1983।

परमार्थ प्रतिक्रमणाधिकार (पृ. 212-18) : नियमसार (गाथा 77-112); कुन्दकुन्द भारती, पं. पन्नालाल साहित्याचार्य; श्रुत भण्डार व ग्रन्थ प्रकाशन समिति, फल्टन (महाराष्ट्र); 197

प्रतिक्रमण सूत्र : संशोधक : हीरालाल देवचन्द; प्रका. : सेठ पन्नालाल चुन्नीलालभाई, राय

पंच प्रतिक्रमण-सूत्र (अर्थ एवं विधि सहित) : श्री जैन साहित्य प्रकाशन समिति, श्री जैन श्वे. समिति, नं. 13, नारायन प्रसाद बाबू लेन, कलकत्ता-700 007; पृ. 275; रु. 5-00; 197

पंच प्रतिक्रमण सूत्र व नदस्मरण प्रबोध टीकानुसारी (शब्दार्थ, अर्थ-संकलन, सूत्र परिचय सहित, जैन साहित्य विकास मंडल, इरला, बम्बई-400 056; पृ. 742; 1979।

पंच प्रतिक्रमण (श्री बृहत्खरतर गच्छीय) : संपा.: पं. काशिनाथ जैन, अनु. टिप्पण : जिनचारित्रसूरि प्रका. : चम्पालाल गणि; 1929।

पंच प्रतिक्रमण सूत्र : पं. सुखलाल कृत हिन्दी अनुवाद और टिप्पणी सहित; श्री आत्मानन्द जैन प्रचारक मंडल, आगरा।

पंच प्रतिक्रमणादि सूत्रो : संपा. : प्रभुदास बेचरदास पारेख; श्री जैन श्रेयस्कर मंडल, मेहसाणा (गुजरात); 1947।

पंच प्रतिक्रमण सूत्र (श्री खरतरगच्छीय विधि सहित) : प्रका. : रामलाल लूणिया, अजमेर।

प्रतिक्रमण (पृ. 41-42) : सूत्र पाहुड प्रवचन : सहजानन्द (वर्णी); श्री सहजानन्द शास्त्रमाला, सदर मेरठ; 1978।

प्रतिक्रमण का लक्षण षटावश्यक का कथन (पृ. 56), सामायिक-विविध प्रकार (पृ. 67), प्रत्याख्यान (पृ. 606), कायोत्सर्ग (पृ. 621) : धर्मामृत (अनगार) : भारतीय ज्ञानपीठ, बी/45-47, कनॉट प्लेस, नई दिल्ली-110001; 1977।

प्रतिक्रमण/सामायिक (श्रावकाचार संग्रह भाग 1, 2, 3, 4) : संपा.–अनु. : पं. हीरालाल सिद्धान्तालंकार; श्री जीवराज जैन ग्रन्थमाला, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर; 9176।

प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना (पृ.157-176) : अभिनन्दन ग्रन्थ (श्री कानजीस्वामी हीरक जयन्ती) : श्री दि. जैन मुमुक्षु मंडल, बम्बई; 1964।

प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना; अतिचार : संपा. : पं. पन्नालाल जैन साहित्याचार्य; सौ. भँवरीदेवी पांड्या, सुजानगढ़ (राजस्थान), 1973।

प्रतिक्रमणनी पवित्रता (गुजराती) : पं. भद्रंकरविजय गणि; जैन साहित्य विकास मंडल, बम्बई; पृ. 62; रु. 1.50; 1977।

तिक्रमण विचार/सामायिक विचार (प्रथम खंड पृ. 72-75); सामायिक और कोटियाँ (द्वितीय खंड, पृ. 847) : श्रीमद् राजचंद्र ग्रन्थ, परमश्रुत प्रभावक मंडल, श्रीमद् राजचंद्र आश्रम, अगास (गुजरात)।

तिक्रमण (विशेषांक) : 'जिनसंदेश'-गुजराती, बम्बई), अगस्त, 1984।

तिक्रमण सविधि : (राई देवसी), संपा. : मुनि प्रभाकरसागर; श्री आनन्द ज्ञान मंदिर, सैलाना (म.प्र.)।

तिक्रमण सूत्र (राई देवसिय) : जैन भवन, पी-25, कलाकार स्ट्रीट, कलकत्ता-700007; पृ. 64, रु. 1-50।

तिक्रमण सूत्र : राई देवसी; नाहटा ब्रदर्स, कलकत्ता।

तिक्रमण सूत्र : राई देवसी; संशोधन : मुनि विनयसागर; रावतमल हरखचंद बोथरा, बीकानेर।

तिक्रमण सूत्र प्रबोध टीका : संशोधन : भद्रंकर विजय, कल्याणप्रभविजय; जैन साहित्य विकास मंडल, बम्बई; भाग-1, पृ. 832; रु. 20-00; 1975; भाग-2, पृ. 671, रु. 20-00; 1977; भाग-3, पृ. 972; रु. 20-00; 1978।

तिक्रमण सूत्र (मूल अर्थ, भावार्थ, विधि सहित) : श्री गणेश स्मृति ग्रन्थमाला (अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ) समता भवन, रामपुरिया मार्ग, बीकानेर, पृ. 84, रु. 1-50; 1982।

तिक्रमण, सामायिक (पृ. 287-299), महावीर : मेरी दृष्टि में : आचार्य रजनीश; मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, जवाहरनगर, दिल्ली-7; 1971।

प्रायश्चित्त समुच्चय (संस्कृत) : गुरुदास आचार्य।

प्रायश्चित्त समुच्चय टीका (संस्कृत) नंदि गुरु, 1855।

प्रायश्चित्त पाठ (संस्कृत) : अकलंक देव, 1851।

प्रतिक्रमण-सूत्र-व्याख्यान (गुजराती) . जैन साहित्य विकास मंडल, बम्बई।

प्रायश्चित्त-अन्तःपरीक्षण, अन्तर् परिष्कार (पृ. 911-69) : जैन आचार सिद्धान्त और स्वरूप : देवेन्द्र मुनि शास्त्री; श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, शास्त्री सर्कल, उदयपुर; 1982।

षडावश्यकाधिकार (पृ. 385-504) : मूलाचार : आचार्य वट्टकेर; भारतीय ज्ञानपीठ, नईदिल्ली; 1984

षट् कर्म (सामायिक, स्तव, वन्दना. प्रतिक्रमण आदि, पृ. 109-111) : योगसार प्राभृत : अमितगति, संपा. अनु. : पं. जुगलकिशोर मुख्तार'; भारतीय ज्ञानपीठ, नईदिल्ली; 1968।

श्रमण प्रतिक्रमण (संशोधित मूल पाठ. संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद, भावार्थ सहित) : संशोधन : आचार्य तुलसी; जैन विश्व भारती, लाडनूं-341 306; पृ. 77; रु. 5.00; 1984।

श्रमण-प्रतिक्रमण-सूत्र : श्री गणेश स्मृति ग्रन्थमाला, समता भवन बीकानेर; पृ. 191।

श्रमण-सूत्र (आवश्यक दिग्दर्शन मूल, अर्थ, भाष्य) : उपाध्याय अमरमुनि, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, पृ 488; रु. 10-00; 1966।

श्रावक प्रतिक्रमण सचित्र : आचार्य तुलसी; जैन विश्व भारती, लाडनूं; पृ. 52; रु. 1.00; 1983।

श्रावक प्रतिक्रमण (गुजराती) : संपा. : पं. मोहनलाल जैन; श्री सहजानन्द शास्त्रमाला, जबलपुर; 1954।

श्रावक प्रतिक्रमण (सचित्र, विधि सहित) : श्री जैन श्वे. तेरापंथी महासभा, कलकत्ता; 1963।

श्रावक प्रतिक्रमण सचित्र : संपा. : हनूतमल सुराना; आदर्श साहित्य संघ, सरदारशहर।

श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र : व्याख्या : विजयमुनि शास्त्री; श्री सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा; पृ. 160; रु. 1.50; 1976।

श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र-विवेचना : विवेचन-सपादन : मुनि रत्नसेनविजय; शारदा प्रकाशन—जवाहरचन्द पाटनी, नेहरू कॉलोनी, फालना (राज.); पृ. 172; रु. 5.00; 1984।

सामायिक पाठ (संस्कृत, काव्य) : पं. पन्नालाल जैन साहित्याचार्य; श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रंथमाला, वाराणसी; पृ. 24; 1966।

सामायिक का स्वरूप, समय, ध्येय, अतिचार (पृ. 230-35) : धर्मामृत (सागार); भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 1978।

सामायिक चैत्य वन्दन (सचित्र, सार्थ; गुजराती) : जैन साहित्य विकास मंडल, बम्बई।

श्री सामायिक प्रतिक्रमणादि सूत्र : प्रका. : हमीरमल चाँदमल, अजमेर।

सामायिक (देवसिराई) प्रतिक्रमण, सूत्र सार्थ, हिन्दी अनु. : माणिक्य मुनि; सेठ भवानीराम ऋषभदास, सिकन्दराबाद।

सामायिक, आलोचना से संबन्धित (पृ. 413-28) : वृहत् महावीर कीर्तन : संपा. : पं. मंगल सैन जैन; श्री दि. जैन वीर पुस्तकालय, श्री महावीरजी; 1975।

सामायिक पाठ, आलोचना पाठ (पृ. 1-16), वृहज्जिनवाणी संग्रह; संग्रह : पं. पन्नालाल बाकलीवाल, नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज किशनगढ़; 1966।

सामायिक-सूत्र (प्रवचन. मूल, अर्थ एवं विवेचन सहित) : उपाध्याय अमरमुनि; श्री सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा; पृ. 322; रु. 10-00; 1966।

सामायिक संगोष्ठी (विशेषांक; 'जिनवाणी', जयपुर, जुलाई, 1984)

आधार : जैन भवन पुस्तकालय, पी-25, कलाकार स्ट्रीट, कलकत्ता-700 007; दिल्ली-जिन-ग्रन्थ-रत्नावली; भारतीय ज्ञानपीठ बी/45-47, कनॉट प्लेस, नई दिल्ली-110 001; सरस्वती भण्डार के हस्तलिखित शास्त्रों का परिचय; श्री भट्टारक यशकीर्ति धर्मार्थ ट्रस्ट ऋषभदेव (राज.); राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की ग्रन्थसूची (भाग 1 से 5), साहित्य शोध विभाग, श्री दि. जैन आ. क्षेत्र, श्रीमहावीरजी; महावीर भवन, जयपुर; 'तीर्थंकर' सन्दर्भ ग्रन्थालय, 65, पत्रकार कॉलोनी, इन्दौर-452 001।

सामायिक मन को नियन्त्रित कर अशुभ कर्मों को क्षीण करना है–

सामाइय वय जुत्तो, जाव मणो होइ नियम संजुत्तो ।
छिन्नइ असुहं कम्मं, सामाइय जूत्तिया वारा ।।

सामायिक ज्ञान को आचरण में रूपान्तरित करने की क्रिया है, इसमें संदेह नहीं; यह बाह्य न हो कर आन्तरिक क्रिया है। जैनाचार्यों ने आचार-सम्बन्धी नियमों का विशद रूप में चित्रण किया है। जैन आचार दर्शन में छह आवश्यक कर्म माने गये हैं: (१) सामायिक, (२) स्तवन, (३) वन्दन, (४) प्रतिक्रमण, (५) कायोत्सर्ग, (६) प्रत्याख्यान। इन आचार-नियमों में सामायिक का स्थान प्रथम है। सामायिक में छह बातें महत्त्वपूर्ण होती हैं: (१) समता-भाव, (२) राग-द्वेष का त्याग, (३) आत्मा की स्थिरता, (४) सावद्य-योग-निवृत्ति, (५) संयम, तप आदि की एकता, (६) नित्यकर्म व शास्त्र। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने अपनी कृति 'नियमसार' में कहा है–

झाणणिलीणो साहू परिचागं कुणइ सव्वदोसाणं ।
तम्हा दु झाणमेव हि सव्वदिचारस्स पडिकमणं ।।९३

अर्थात् ध्यान सब प्रकार के अतिचार का प्रतिक्रमण है, ध्यान द्वारा सब प्रकार के दोषों का परित्याग किया जाता है। ध्यान में संयम और इन्द्रिय-निग्रह आवश्यक है, सामायिक में भी संयम और निग्रह का, त्याग-और-समत्व-का-भाव मूल आधार माना जाता है। ध्यान द्वारा चित्त, मन, इन्द्रियों का निग्रह किया जाता है, इसी प्रकार के ध्यान से आत्मा भी स्थिरीभूत होती है। 'ज्ञानार्णव' में संयमी योगी को प्रशस्य कहा गया है–

भवभ्रमणनिर्विण्णा भावशुद्धिं समाश्रिताः ।
सन्ति केचिच्च भूपृष्ठे योगिनः पुण्यचेष्टिताः ।।५/२
विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम् ।
यस्य चित्तं स्थिरीभूतं स हि ध्याता प्रशस्यते ।।५/३

जो व्यक्ति संसार-परिभ्रमण के दुःख से खिन्न हो कर राग-द्वेष रहित होते हुए अपने अन्तःकरण को अतिशय निर्मल रखते हैं ऐसे भी कुछ योगी यहाँ विद्यमान हैं, उनकी प्रशंसा करनी चाहिये। और जिसे ध्याता का चित्त इन्द्रिय विषय-भोगों से रिक्त हो कर शरीर के विषय में निर्ममत्व होता हुआ स्थिरता प्राप्त करता है वह ध्याता प्रशस्य है।

समत्व की प्राप्ति ही सामायिक है– 'समस्य आयः समायः तदेवसामायिकम्'। आत्मा की स्वभाव दशा भी सामायिक है और समत्व में रहने वाला ही परम श्रमण कहा जाता है– 'सममणो जो समणो'। 'सम' उपसर्ग-पूर्वक 'आय' धातु में 'इक्' प्रत्यय लगाने से सामायिक बना है, जिसका अर्थ हुआ आत्मस्वरूप में रमण करना। 'आय' से मतलब है अनर्थ का पूर्णरूप से नष्ट होना; यही 'समाय' है।

जो साधक त्रस और स्थावर सभी प्राणियों के प्रति समभाव रखता है उसी की सामायिक सच्ची सामायिक है—

जो समो सव्वभूएसु तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइयं, इइ केवलि भासिय ।।

—समणसुत्तं

आत्मा के साथ समत्व, या एकत्व, या एकीभूत होना समाय है; 'समाय' में होना सामायिक है। सामायिक की स्थिति में श्रमण और श्रावक दोनों समान भूमि पर आ खड़े होते हैं, दोनों आरम्भ-परिग्रह के त्यागी हो जाते हैं। हां, बाह्य रूप में कुछ भेद दिखायी पड़ता है आन्तरिक दृष्टि से वे समान होते हैं—

सामायिके सारम्भाः परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि ।
चेलोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिभावं ।।

—रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 102

'योगशास्त्र' (३-८२) में सामायिक व्रत को इस प्रकार परिभाषित किया है—

त्यक्तार्त रौद्र ध्यानस्य, त्यक्तसावद्यकर्मण: ।
मुहूर्तं समता या तां, विदु: सामायिक व्रतम् ।।

गृहस्थ, श्रावक का आर्त्त तथा रौद्र ध्यान और सावद्य तथा पापमय कर्मों का परित्याग कर एक मुहूर्त तक समभाव में आत्मचिन्तन या स्वाध्याय में बिताना ही सामायिक व्रत है।

समताभाव या समत्व का होना ही सामायिक है। सामायिक दो प्रकार की होती है : (१) श्रावक की सामायिक सागार सामायिक होती है, (२) साधु की सामायिक अनगार सामायिक होती है। सब पदार्थों, वस्तुओं, प्राणियों के साथ समभाव रखने वाला व्यक्ति ही सामायिक-जैसे परम पावन व्रत को धारण कर सकता है। सामायिक की शुद्धता मन की शुद्धता पर अवलम्बित है। सामायिक में सात बातों की शुद्धता पर विशेष ध्यान दिया जाता है—(१) मन, (२) वचन, (३) क्षेत्र, (४) काल, (५) आसन, (६) विनय, (७) काया।

सामायिक द्वारा ३२ दोषों से बचा जा सकता है; इनमें १० दोष मन के हैं, १० दोष वचन के हैं, और १२ काया के हैं। काया के दोषों पर अधिकार पाना जितना सरल है उतना ही मन-वचन के दोषों पर अधिकार पाना कठिन है।

सामायिक की प्रासंगिकता में कोई सन्देह नहीं। आज मनुष्य का जीवन अन्दर-बाहर दोनों रूपों में अशान्त है, तनावग्रस्त है, कुण्ठाग्रस्त है। चारों ओर का वातावरण विषाक्त है, प्रदूषित है। संघर्षमय जीवन जी रहा है आज का मनुष्य। हिंसा, कलह, द्वेष, घृणा, क्रोध, भ्रष्टाचार, लूट-मार, चोरी-डकैती, रिश्वत, भाई-भाई में झगड़ा, स्वामी-सेवक में झगड़ा, बड़ी ही भयानक स्थिति है आज हमारे समाज की। मन की तिजोरी में त्रास है, भय है, हिंसा है। समता, प्रेम, स्नेह,

सहानुभूति, करुणा की नदियाँ सूख गयी हैं, जीवन रेगिस्तान बन गया है। विसंगतियों के व्यूह में फँसा है आदमी, विषमता में साँस लेने से दम घुट रहा है। शुद्धता न वचन में, न व्यवहार में। एक-दूसरे की टाँग पकड़ कर खींच रहा है, उसे गिराने के हथकण्डे आजमा रहा है। सन्तोष और शान्ति का कहीं नाम नहीं।

अधम से अधमतर होता जा रहा है मनुष्य। साम्प्रदायिकता की भावना उत्तेजित कर निर्दोष लोगों का खून बहा रहा है, धर्म को निजी स्वार्थ के लिए प्रयोग कर रहा है। जीवन-मूल्यों का ह्रास हो रहा है और मनुष्य मौन साधे खड़ा है। शापेन हावर ने ठीक कहा है– 'दुनिया में बुराइयाँ इसलिए नहीं हैं कि बुरे आदमी ज्यादा बोलते हैं, बल्कि इसलिए है कि भले आदमी समय पर चुप रह जाते हैं।' गुरु नानक ने सज्जन लोगों, सात्त्विक वृत्ति वाले धर्मानुरागी गाँव वालों को कह दिया कि वे उजड़ जाएँ। यह शाप नहीं वरदान था, क्योंकि वे अच्छे शील वाले लोग दूसरे स्थान पर जा कर सद्गुणों का प्रचार करेंगे, इससे मानव-समाज में शील का, धर्म का, सदाचार का प्रसार होगा। उन्होंने उन लोगों को अपने गाँव में बसे रहने का वरदान दिया जो दुराचारी थे, हिंसक थे, अधर्मी थे। यह इसलिए ताकि इन बुरे लोगों के दूसरी जगह जाने पर बुराई न फैले, वह यहीं सीमित जगह में केन्द्रित रहे।

जैनधर्म के श्रमण आज भी वर्ष के आठ महीने भ्रमण करते हैं, चलते-फिरते रहते हैं और जैनधर्म का निरन्तर प्रचार करते रहते हैं। वर्षायोग, या चातुर्मास में (वर्षा के चार महीनों में) वह हिंसा रोकने के लिए, या हिंसा से बचने के लिए अधिक घूमते-फिरते नहीं। एक स्थान पर रह कर श्रावकों के आचार को शुद्धि की ओर ले जाने का प्रयत्न करते हैं। सामायिक भी आचार की शुद्धि की एक क्रिया है। इसके द्वारा जीवन-मूल्यों को पुनर्जीवित किया जा सकता है, उनके ह्रास को रोका जा सकता है। आज मानवता का, अहिंसा का, अपरिग्रह का नाम ग्रन्थों तक ही सीमित हो गया है। हम प्रत्येक कार्य स्वार्थबद्ध दृष्टि से करते हैं। समाज में नारी भी परिग्रह की सीमा में आ गयी है, वह कामुकता की मूर्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं। उसका पावन मातृत्व जैसे तिरोहित हो गया है, मनुष्य में ब्रह्मचर्य का नाम नहीं। सत्य जीवन से खाली है फिर मानवता कहाँ रही, जीवन-मूल्य कहाँ रहे? फिर मोक्ष की प्राप्ति कैसे होगी?

सामायिक द्वारा हम पाँच महाव्रतों या महाणुव्रतों का अनुपालन करते हैं तथा सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, और सम्यक् चारित्र के मार्ग पर चल कर मोक्षगामी बनते हैं। आज हम धन-संग्रह में ही परमानन्द, परमसुख समझते हैं– परन्तु स्वर्ण के असंख्य भण्डार भी, राज्य की वैभव-सम्पदा भी एक सामायिक से तुच्छ है। धन से सामायिक नहीं खरीदी जा सकती। महाराजा श्रेणिक धर्मानुरागी पूनिया की सामायिक अपार धन दे कर भी नहीं खरीद सका, कोई नहीं खरीद सका। भगवान

महावीर ने कहा था कि यदि कोई स्वर्ण के ढेरों से चांद-सूरज को भी छू ले तो भी सामायिक का मूल्य नहीं चुकाया जा सकता। स्वर्ण-दान से भी श्रेष्ठ है सामायिक-

दिवसे-दिवसे लक्खं, देइ सुवण्णस्स खंडियं एगो।
एगो पुण सामाइयं करेइ, न पहुप्पए तस्स॥

सामायिक अभिव्यक्ति नहीं, अनुभूति है; इसमें समभाव का प्राधान्य है, इसी समभाव को किसी आज का विषमभाव लील गया है। सामायिक करते समय हमें यह देखना चाहिये कि हमारा शत्रुभाव, ईर्ष्याभाव, परिग्रहभाव, क्रोधभाव, हिंसाभाव कितना कम हुआ है, काम-वासना, तृष्णा-लोभ में कितनी कमी आयी है। रूढ़ियों का अनुपालन करना सामायिक नहीं, सामायिक है रूढ़ियों को परिमार्जित करना, भावना को शुद्ध बनाना – भावों का परिष्कार करना। आचार्य अमितगति ने 'सामायिक द्वात्रिंशिका' में कहा है –

सत्त्वेषु मैत्रीं, गुणिषु प्रमोदं क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा परत्वम्।
माध्यस्थ भावं विपरीत वृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव॥

अर्थात् हे प्रभो! मेरी आत्मा सदा सभी प्राणियों के लिए मैत्री भाव रखे, गुणशील व्यक्ति को देख कर उसे आनन्द प्राप्त हो, दुःख-क्लेश में फँसे व्यक्तियों, प्राणियों के प्रति मेरे मन में कृपाभाव उत्पन्न हो, मैं किसी के प्रति द्वेषभाव न रखूं और न कोई मेरे प्रति द्वेषभाव रखे, मैं ऐसे लोगों के प्रति भी माध्यस्थ भाव बनाये रखूं। 'तत्त्वार्थसूत्र' में सामायिक को एक व्रत कहा है (७-२१), उमास्वामी की दृष्टि में 'तीनों संध्याओं में समस्त पापों, या पाप के कर्मों से विरत हो कर नियत स्थान पर नियत समय के लिए मन-वचन-काय के एकाग्र करने को सामायिक कहते हैं। जितने समय तक गृहस्थ सामायिक करता है उतने समय के लिए वह महाव्रती के समान हो जाता है।' उमास्वामी ने सामायिक को चारित्र भी माना है (९-१८) समस्त पापकर्मों का परित्याग करना सामायिक चारित्र है। 'छहढाला' में समताभाव रखने का, सामायिक करने का आदेश दिया गया है –

धर उर समताभाव, सदा सामायिक करिये,
पर्व चतुष्टय माहिं, पाप तज प्रोषध धरिये;
भोग और उपभोग नियम करि ममत निवारै,
मुनि को भोजन देय फेर, निज करहि अहारै। (४-१४)

सहानुभूति, करुणा की नदियाँ सूख गयी हैं, जीवन रेगिस्तान बन गया है। विसंगतियों के व्यूह में फँसा है आदमी. विषमता में साँस लेने से दम घुट रहा है। शुद्धता न वचन में, न व्यवहार में। एक-दूसरे की टाँग पकड़ कर खींच रहा है, उसे गिराने के हथकण्डे आजमा रहा है। सन्तोष और शान्ति का कहीं नाम नहीं।

अधम से अधमतर होता जा रहा है मनुष्य। साम्प्रदायिकता की भावना उत्तेजित कर निर्दोष लोगों का खून बहा रहा है, धर्म को निजी स्वार्थ के लिए प्रयोग कर रहा है। जीवन-मूल्यों का ह्रास हो रहा है और मनुष्य मौन साधे खड़ा है। शापेन हावर ने ठीक कहा है– 'दुनिया में बुराइयाँ इसलिए नहीं हैं कि बुरे आदमी ज्यादा बोलते हैं, वल्कि इसलिए है कि भले आदमी समय पर चुप रह जाते हैं।' गुरु नानक ने सज्जन लोगों, सात्त्विक वृत्ति वाले धर्मानुरागी गाँव वालों को कह दिया कि वे उजड़ जाएँ। यह शाप नहीं वरदान था, क्योंकि वे अच्छे शील वाले लोग दूसरे स्थान पर जा कर सद्गुणों का प्रचार करेंगे, इससे मानव-समाज में शील का, धर्म का, सदाचार का प्रसार होगा। उन्होंने उन लोगों को अपने गाँव में बसे रहने का वरदान दिया जो दुराचारी थे, हिंसक थे, अधर्मी थे। यह इसलिए ताकि इन बुरे लोगों के दूसरी जगह जाने पर बुराई न फैले, वह यहीं सीमित जगह में केन्द्रित रहे।

जैनधर्म के श्रमण आज भी वर्ष के आठ महीने भ्रमण करते हैं, चलते-फिरते रहते हैं और जैनधर्म का निरन्तर प्रचार करते रहते हैं। वर्षायोग, या चातुर्मास में (वर्षा के चार महीनों में) वह हिंसा रोकने के लिए, या हिंसा से बचने के लिए अधिक घूमते-फिरते नहीं। एक स्थान पर रह कर श्रावकों के आचार को शुद्धि की ओर ले जाने का प्रयत्न करते हैं। सामायिक भी आचार की शुद्धि की एक क्रिया है। इसके द्वारा जीवन-मूल्यों को पुनर्जीवित किया जा सकता है, उनके ह्रास को रोका जा सकता है। आज मानवता का, अहिंसा का, अपरिग्रह का नाम ग्रन्थों तक ही सीमित हो गया है। हम प्रत्येक कार्य स्वार्थवद्ध दृष्टि से करते हैं। समाज में नारी भी परिग्रह की सीमा में आ गयी है, वह कामुकता की मूर्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं। उसका पावन मातृत्व जैसे तिरोहित हो गया है, मनुष्य में ब्रह्मचर्य का नाम नहीं। सत्य जीवन से खाली है फिर मानवता कहाँ रही, जीवन-मूल्य कहाँ रहे? फिर मोक्ष की प्राप्ति कैसे होगी?

सामायिक द्वारा हम पाँच महाव्रतों या महाणुव्रतों का अनुपालन करते हैं तथा सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, और सम्यक् चारित्र के मार्ग पर चल कर मोक्षगामी बनते हैं। आज हम धन-संग्रह में ही परमानन्द, परमसुख समझते हैं– परन्तु स्वर्ण के असंख्य भण्डार भी, राज्य की वैभव-सम्पदा भी एक सामायिक से तुच्छ है। धन से सामायिक नहीं खरीदी जा सकती। महाराजा श्रेणिक धर्मानुरागी पूनिया की सामायिक अपार धन दे कर भी नहीं खरीद सका, कोई नहीं खरीद सका। भगवान्

परिज्ञान प्राप्त करना ही आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी होना है। समता को धारण कर मनुष्य स्वयं प्रसन्न होता है, दूसरों को भी प्रसन्न रखता है। 'आचारांग' में कहा गया है कि भगवान् महावीर आत्मशुद्धि के द्वारा संयत प्रवृत्ति को स्वयं ही प्राप्त करके शान्त, सरल बने और जीवन-पर्यन्त समतामय रहे –

सयमेव अभिसमागम्म आयत जोगमायसोहीए।
अभिणिव्वुडे अमाइल्ले आवकहं भगवं समितासी ॥

सामायिक में कुछ विशेष बातों की शुद्धता पर विशेष ध्यान दिया जाता है; जैसे (१) द्रव्यशुद्धता, सभी प्रकार के उपकरण शुद्ध हों, यहाँ तक कि तन-मन भी शुद्ध हों। मन में किसी प्रकार का राग-द्वेष न हो, क्रोध-आवेशजन्य आवेश न हो। सामायिक करने का स्थान, आसन आदि सभी पवित्र, शुद्ध हों। माला, ग्रन्थ तक शुद्ध हों। किसी प्रकार का आडम्बर, या कृत्रिमता न हो। न तनाव हो, न मानसिक संघर्ष हो। वास्तव में उपकरणों की शुद्धता वातावरण को शुद्ध कर मन को भी शुद्ध करने में सहायक होती है; (२) क्षेत्र की शुद्धता सामायिक के लिए अनिवार्य है। जहाँ जो कार्य-विशेष किया जाता है, उसकी अपनी महिमा-गरिमा होती है, उसके लिए वातावरण की अनुकूलता, सामग्री की शुद्धता आवश्यक है। एक स्थान की सामग्री दूसरे स्थान पर उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकती; (३) जैसे प्रत्येक प्रयोग के लिए अलग-अलग सामग्री और स्थान की अपेक्षा होती है उसी प्रकार सामायिक के लिए भी स्थान-विशेष की अपेक्षा होती है, न्यायालय की कार्रवाई पुस्तकालय में नहीं चलायी जा सकती, फिजिक्स के प्रयोग कैमिस्ट्री की प्रयोगशाला में नहीं किये जा सकते; (३) जैसे प्रत्येक कार्य करने का अपना नियत काल होता है, निश्चित समय होता है, उसी प्रकार सामायिक का निश्चित समय होता है, नियम-रूप में सामायिक की जाती है। सूर्योदय का, सूर्यास्त का समय निश्चित होता है। विशेष बीज बोने का विशेष समय एवं निश्चित काल होता है। भिन्न-भिन्न प्रकार के विषयों कोर्सों, ट्रेनिंगों को पूर्ण करने का, अध्ययन करने का समय निश्चित होता है। निश्चित काल और नियमित रूप में सामायिक करना 'काल-की-शुद्धता' कहलाता है; (४) काल की शुद्धता के समान 'भाव-की-शुद्धता' भी सामायिक की एक शुद्धता है। समत्व की साधना सामायिक है। हम समभाव धारण करें, समताभाव में लीन रहें, और द्वेष-घृणा से दूर रह कर सदा आत्मपरीक्षण-आत्मनिरीक्षण करते रहें।

सामायिक से समभाव का विकास होता है, पापवृत्तियों का विनाश होता है। सामायिक का धर्म समतामय है। जो सामायिक करता है उसमें शत्रु-मित्र का भाव नहीं रहता, ऐसी समदृष्टि का विकास करती है सामायिक –

सावद्ययोग विरतेरभ्यासो जायते ततः।
समभावविकासः स्यात्, तच्च सामायिकं व्रतम् ॥

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।।

—गीता—2, 48

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी [illegible]

—गीता, 6-32

हे धनंजय ! आसक्ति छोड़ कर, कर्म की सिद्धि हो, या असिद्धि, दोनों को समान ही मान कर योगस्थ हो कर कर्म करे। यहाँ योग को ही समता कहा गया है। हे अर्जुन ! सुख हो या दुःख, अपने समान औरों को भी होता है। जो व्यक्ति ऐसी आत्मौपम्य दृष्टि सर्वत्र रखे वह कर्मयोगी ही सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। भगवान् कृष्ण कहते हैं कि जिसे सुख-दुःख एक-से ही हैं, जो स्वस्थ है; अर्थात् अपने में ही स्थिर है; मिट्टी, पत्थर, सोना जिसे समान हैं, जो सदा धैर्ययुक्त है, जिसे मान-अपमान, मित्र-शत्रु समान हैं, जिसके सब उद्योग छूट गये हैं वह व्यक्ति गुणातीत है —

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ।।
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ।।

—गीता—14/24, 25

सामायिक समत्व एवं एकत्व की साधना है, अपने को जानने-पहिचानने की साधना है। सामायिक स्वरूप का अनुसन्धान है, जिसमें ज्ञानाचार का मणि-कांचन योग है। समत्व के संस्कारों का बीजारोपण करने का अनुष्ठान है यह। इसे हमें कर्मकाण्ड के आवरण में लपेट कर धूमिल नहीं करना चाहिये, इसे जीना चाहिये, जीवन में उतारना चाहिये, मन्त्रों का जाप ही काफी नहीं, उनके अर्थ को भाव को जानना भी महत्त्वपूर्ण है। सामायिक समत्व का भाव ले कर वर्तमान में जीने की साधना है, एक आध्यात्मिक अनुष्ठान है। □

— वीर निर्वाण विचार सेवा, इन्दौर के सौजन्य से।

प्रतिक्रमण-का-अतिक्रमण

काश, अपनी आलोचना गाने वाला आदमी उसे सुनने का प्रयास भी करे। आदमी अक्सर 'आलोचना-पाठ' को 'रिकार्ड' की तरह ही गाता पाया गया है। पर, यह आलोचना गाता-भर है, करता नहीं है। जिस क्षण वह अपनी आलोचना करना सीख जाएगा, 'स्व' की ओर दृष्टिपात सीख जाएगा, 'स्व' को सम्बोधना सीख जाएगा, उस क्षण होगा सही प्रतिक्रमण, सही प्रत्याख्यान, सही सामायिक, सही स्तवन, सही वन्दन, और सही कायोत्सर्ग।

— सुरेश 'सरल'

बात अभी; १९ सितम्बर '८४; की बात है जिस दिन डॉ. नेमीचन्द जैन (हां, 'तीर्थंकर' के सम्पादक) जबलपुर-प्रवास पर थे, कहने लगे मुझसे — भाई प्रतिक्रमण पर लिखो, फिर स्वतः बतलाने बैठे — प्रतिक्रमण - का - अतिक्रमण कैसा होगा? मैं तब रुकता-सा बोल पाया था — विषय कठिन है, शायद न लिख पाऊँ। सच भी है, विषय की व्यापकता से बड़ी वस्तु थी मेरे लिए; उसकी गम्भीरता। गम्भीर विषय पर व्यंग्य लिख देना मेरे जैसे छोटाई पुरुष के लिए कठिन न होगा तो क्या होगा?

उसी दिन डॉ. साब ने पूज्य मुनि आचार्य विद्यासागरजी महाराज से प्रतिक्रमण और सामायिक पर महत्त्वपूर्ण चर्चा की। चर्चा के समय मैं पूरे समय उपस्थित था। घर आया तो लिखने का मूड बन गया। जैसे टॉर्च को नये-नये सैल मिल गये हों।

प्रतिक्रमण या सामायिक की परिभाषा यहां दे कर मैं पूज्य पंडितजी-लोगों का हक नहीं मारूँगा। यह सब उनका कार्य है। मानें। मैं जो यह लिख रहा हूँ; व्यंग्य-विधा को गले से लगा कर लिख रहा हूँ। सो हे भव्य श्रावक, दत्तचित्त हो कर सुनो!!

हम लोगों में सामायिक/स्वाध्याय/प्रतिक्रमण 'करने' का चलन है। जबकि कहा गया है कि सामायिक 'की' नहीं जाती; 'हो' जाती है। जो हो, परन्तु सामायिक के नाम से की जाने वाली क्रिया में मैं जो देख रहा हूँ रोज-ब-रोज; उसके वर्णन से आपकी सामायिक हो न हो, मनोरंजन आपका अवश्य हो जाएगा। कोई परोक्ष शिक्षा भी मिल सकती है।

की वन्दना करके मुनिराज आरा (विहार) आये। वे वहाँ शहर के बाहर एक उद्यान में ठहरे। आरा के सुप्रसिद्ध सेठ श्री देवकुमारजी को ज्ञात हुआ कि उद्यान में मुनिराज आये हैं। श्री देवकुमारजी अत्यन्त धार्मिक सेवा-परायण, परोपकारी, एवं दानधर्म में प्रसिद्ध व्यक्ति थे। वे तत्काल अपने कुटुम्ब-परिवार के साथ उद्यान में आये। सबने मुनिश्री सिद्धसागर महाराज की भक्तिपूर्वक वन्दना एवं पूजा की तथा उनसे नगर में आने की सविनय प्रार्थना भी की। महाराज ने उनकी प्रार्थना को स्वीकार किया। श्री देवकुमारजी बड़े समारोहपूर्वक मंगल वाद्य तथा गाजे-बाजे के साथ जुलूस में महाराज को शहर में लाये। नगर के श्रावक-श्राविकाओं ने उत्साहपूर्वक उनका अपूर्व स्वागत किया।

मुनिराज मन्दिर में रहे। उनके आगमन से नगर में सर्वत्र उत्साह, उल्लास, एवं धर्म का वातावरण निर्मित हुआ। मन्दिर में प्रतिदिन भीड़ होती थी। श्री देवकुमारजी तथा उनकी पत्नी की गुरुभक्ति अत्यन्त स्पृहणीय थी। वे अहर्निश मुनिराज की सेवा में तत्पर रहते तथा उन्हें आहार दे कर पुण्य का संचय करते थे। उसी प्रकार अन्य श्रावक-श्राविकाएँ भी उन्हें आहार दे कर उनकी योग्य वैयावृत्ति करते थे। कुछ दिन वहाँ रह कर महाराज वहाँ से चले; तभी सेठ चातुमारजी तथा श्रावक-मण्डली ने आग्रह पूर्वक महाराज से निवेदन किया कि, चातुर्मास का समय निकट आ गया है, अतः आप अपना चातुर्मास यहीं वितायें। महाराज ने स्वीकार किया। मन्दिर में नित्य भजन-पूजन आदि कार्यक्रम तथा महाराज के उपदेश होते थे। महाराज सरल भाषा में धर्म की प्रेरणा देते थे। महाराज के उपदेश सुन कर अनेक लोगों ने यथाशक्ति व्रत-नियम ग्रहण किये, तथा विविध प्रकार की भक्ति की। कुछ लोगों ने तो भक्ति से प्रेरित हो कर रुपये, सोना, चाँदी आदि महाराज के सामने चढ़ा दिये। महाराज श्रावकजनों को रुपया आदि चढ़ाने के लिए मना करते; किन्तु उनकी यह बात कोई नहीं मानता था। अन्त में उनके सामने धन की चढ़ोत्री का ढेर लग गया और लगभग तीन हज़ार रुपया एकत्रित हो गया। उसे देख कर महाराज को कुछ समझ में नहीं आया कि वे क्या करें? 'मुझे तो सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग है, फिर भी लोग मेरे सामने पैसों का ढेर लगा रहे हैं, यह तो एक प्रकार का उपसर्ग ही है'—ऐसा समझ कर महाराज आँखें बन्द कर निश्चल बैठ गये, तथा आहार के लिए भी नहीं निकले। तब लोग विचार करने लगे कि महाराज ऐसे क्यों बैठे हैं? उन्हें कुछ भी समझ में नहीं आया। तब लोगों ने नम्रतापूर्वक उनसे विनती की: 'महाराज, बताइये क्या हमसे कोई चूक हुई है? आप हमें क्षमा कीजिये।' तब महाराज ने उन्हें समझा कर कहा: 'देखो, मैं तो सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर दिगम्बर हुआ, और तुम लोग मेरे सामने रुपये-पैसे आदि परिग्रह का यह ढेर लगा रहे हो। मैं इसका क्या करूँ? पहले इन्हें उठाओ, इनका दानधर्म करो, अथवा इन्हें मन्दिरजी के भण्डार में अर्पित करो।'

(क्रमशः)

—अनुवाद : डॉ. हरीन्द्रभूषण जैन

पहले हम दोष (भूलें) करते हैं; फिर भगवान् से उन दोषों के लि
अपनी आलोचना करते हैं। यहाँ तक तो किया ठीक है; पर आलोचना के तुर
बाद हम पुन: दोष करने पिल पड़ते हैं। इसे क्या कहा जाए? तुर्रा यह कि शा
को पुन: घी का दिया जला कर हम भगवान् से कहने बैठ जाते हैं— 'मुनियो जि
अरज हमारी, हम दोष कियो अति भारी। तिनकी अब निवृत्ति काज; तुम शर
लही जिनराज ।।'— तब सामायिक/प्रतिक्रमण करने की हमारी मानवीय वृत्ति प
हँसी आ जाना स्वाभाविक है। प्रतिक्रमण में आपके आत्म-भाव का कितना-कितन
उपयोग हो पाया है; इसकी खबर किसी को नहीं है। आप अपने स्व के कित
क़रीब लौटे हैं, इस पर कभी विचार ही न कर पाये।

मनुष्य नाम का यह जीव है भी विचित्र। जब उसे कोई मुनि/पण्डित
संपादक अपने प्रवचन/भाषण/संपादकीय के माध्यम से स्मरण करता है: 'भाई,
अपराधी है, तूने अनेक कृत्य-कुकृत्य किये हैं, अनेकों का जी दुखाया है, केवल स्वा
साधा है', तब वह खासतौर से ये सम्बोधन खुद के लिए नहीं मानता; बड़ी बा
तो यह है कि अपने को अपराधी भी नहीं मानता। सोचता है ये बातें किसी अन्
श्रोता/पाठक से कही जा रही हैं। और प्रसन्न बना रहता है। यहाँ तक तो ठीक
है; इसके आगे भी यह आदमी बहरा ही पाया जाता है। शाम को वह घर प
फोटो के आगे 'आलोचना-पाठ' पढ़ता है और स्पष्ट रूप से अपने 'स्व' को सम्बोधता
है— 'हां! हा!! मैं दुठ अपराधी, या हा! हा!! मैं अदयाचारी, या हा! हा!!
परमाद बसाई, आदि/आदि' फिर भी अपनी आवाज़ सारे परिवार को सुना कर खु
नहीं सुनता। काश, अपनी आलोचना 'गाने वाला' आदमी उसे सुनने का प्रयास भी
करे। आदमी 'आलोचना-पाठ' को रिकॉर्ड की तरह ही गाता पाया गया है। कहें-
वह आलोचना गाता-भर है, करता नहीं है। जिस क्षण आदमी अपनी आलोचना
करना सीख जाएगा, 'स्व' की ओर देखना सीख जाएगा, 'स्व' को सम्बोधना सीख
जाएगा, उस क्षण होगा सही प्रतिक्रमण, सही प्रत्याख्यान, सही सामायिक, सही
स्तवन, सही वन्दन और सही कायोत्सर्ग। शेष जो किया जा रहा है वह 'परम्परा-
की-लकीर' के अतिरिक्त कुछ नहीं है। जो जन प्रतिक्रमण का सही स्वरूप जानते हैं
वे बहुत कम हैं, कहीं विद्यासागर हैं; कहीं विद्यानन्द हैं। आनन्द-भरे-छन्द हैं।

पुरुषों के अतिरिक्त महिलाओं को भी प्रतिक्रमण से सरोकार रखना चाहिये;
परन्तु हमारी कुछ बहिनें प्रतिक्रमण के नाम पर प्रतिक्रमण-का-अतिक्रमण कर रही
हैं। कहें प्रतिक्रमण-पर-आक्रमण कर रही हैं। एक श्रावकजी के घर का ज़िक्र है।
(किसी से कहिये मत) बहू पढ़ी-लिखी और शिष्ट थी; सास भी पढ़ी-लिखी थी,
पर बहू के हर मामले में थोड़ा कड़क थी। बात-बात में बहू की ग़लतियाँ निकालना,
अन्यों के समक्ष बहू की बुराई बताना और चाहे जब डाँट-डपट दिखाते रहना।
एक दिन दोनों में कुछ अधिक ही विवाद हो गया। सास ने जो-जो कहा, बहू ने

आसन कहाँ ? मेरी मुँहपत्ती कहाँ ? मेरा चरवला (रजोहरण) कहाँ ? संख्या में जितने रहते हैं वे दे दिये जाते हैं। कम होने पर फौरन सुनिये ? — कहाँ जाती है इतनी आमदनी ? संस्था के सदस्य क्या इन्हीं लोग खा गये ? (पर ध्यान रहे, इन सामायिकों में सदस्य को कभी दिया एक पैसा भी नहीं)। कभी-कभी तो यह गाली-गलौज से प्रारम्भ हो कर मार-पीट तक पहुँच जाती है। इधर साहब चिल्ला रहा है— देखिये साहब, प्रतिक्रमण का समय हो गया।

सम्पादकजी, इस तरह सब आसन, मुँहपत्तियाँ बँट जाती हैं, किन्तु इनमें सम्भव नोट कर आधी भी जमा नहीं होंगे। अब आप ही बताइये — यह प्रतिक्रमण है या प्रदर्शन ? फिर प्रतिक्रमण प्रारम्भ होने पर कोई स्त्रियों की ओर की अंगूठी देखता है, कोई कानों की लौंग, कोई अपने आभूषणों को मन-ही-मन तोलने लगता है, कोई अपने जेवर-प्रदर्शन पर इतराने लगता है। यद्यपि यह प्रदर्शन पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में ही ज्यादा होता है कारण आभूषणों से लदे रहने की गुंजाइश उन्हीं की रहती है; लेकिन इनकी स्थिति बड़ी दयनीय हो जाती है। एक तो भादों की गर्मी, ऊपर से पंखा-बिजली बन्द, तिस पर भीड़। प्रतिक्रमण कुछ समझ में आता नहीं। कभी कोई ऊँघता है, कभी कोई जागता है, सबका काम है मात्र 'काउस्सग्ग' करना या मुँहपत्ती पडिलेहन या वांदना देना। इनके बीच का समय खाली रहता है— सोने के लिए, बातचीत के लिए; किन्तु हाँ, बातचीत फुसफुसाहट में ही होती है। जब कभी जोर पकड़ लेती है तो साहब चिल्ला उठता है — बातें मत कीजिये साहब ! बस लोग सजग हो जाते हैं। इसी क्रिया को पुनः दोहराने के पूर्व कुछ देर के लिए।

तो क्या सम्पादकजी, प्रतिक्रमण सूत्रों के कानों में पड़ने मात्र से प्रतिक्रमण हो जाता है ? क्या इसके साथ मानसिक चिन्तन पश्चात्ताप आदि की आवश्यकता नहीं है ? यह क्रिया तो मात्र धान्य को फेंक कर तुष को सहेज कर रखने जैसी ही है। सूत्र पढ़ने से ही प्रतिक्रमण नहीं हो जाता। वह तो एक दिशा-निर्देश जैसा है। वह हमें चिन्तन के लिए प्रेरित करता है। उस दिन चाहिये चिन्तन-मनन। पर इस ओर किसी का भी ध्यान नहीं है। न मोटे श्रावकों का, न साधुओं का। ध्यान है मात्र क्रिया की ओर, विधि की ओर। जब तक चिन्तन-प्रणाली सुधर नहीं होगी प्रतिक्रमण इसी भाँति का एक प्रदर्शन ही बना रहेगा। मोटे श्रावक अपने रौब और दबदबे पर कृत-कृत्य हो जाते हैं छोटे श्रावक भेड़ की भाँति उनका अनुसरण कर। हमारी दशा तो उस काजी जैसी ही है जो कि —

मक्का गया, हज किया, बन के आया हाजी
आजमगढ़ में जब से लौटा, फिर पाजी-का-पाजी।

सम्पादकजी! प्रतिक्रमण सामूहिक हो सकता है यह मैं नहीं मानता। टॉनिक स्वास्थ्यवर्द्धक हो सकता है; किन्तु मरीज़ का रोग नहीं मिटा सकता। केवल यह बोल देने से 'मैंने जिन-जिन जीवों की विराधना की है वे सब मिच्छामि दुक्कडं'–मिच्छामि दुक्कडं नहीं हो जाता। मुझे यह सोचना होगा कि मैंने अपने मन से, वचन से, काया से किस जीव को कष्ट पहुँचाया, या पहुँचवाया है। जैसे रास्ते में मैंने किसी कुत्ते को कुचलते हुए देख कर भी उसे बचाने का प्रयास नहीं किया; या मैं खुद भोजन करता रहा; किन्तु द्वार पर आये भूखे भिखारी को भोजन नहीं दिया। कहने का तात्पर्य यह है कि मैंने जो ग़लतियाँ की हैं, करवायी हैं स्वनिरीक्षण करते हुए उनका प्रायश्चित्त करूँ, खेद करूँ। यह नहीं कि केवल प्रायश्चित्त सूत्रों को रटूँ-बोलूँ; कारण ग़लतियाँ सब की अलग-अलग होती हैं तो फिर समूह में उनका एक साथ प्रायश्चित्त कैसे हो सकता है? प्रतिक्रमण में हम रोज़ बोलते हैं 'सीसे साहम्मिए कुलगणे जेमे केई कसाया सव्वे तिविहेण खामेमि' किन्तु उपाश्रय से घर आते ही हमारा वही लड़ाई-झगड़ा वही मनोमालिन्य। तब बताइये–ऊपर के सूत्र को केवल बोलने-मात्र से कहाँ हुई हृदय-शुद्धि? कहाँ हुआ प्रायश्चित्त? तभी तो कह रहा हूँ आज का प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त नहीं प्रदर्शन है, जीवन का अंग नहीं, ओढ़ी या ओढ़ाई हुई चादर है। शास्त्रों में आता है–प्रायश्चित्त करते-करते 'अइमुत्ता मुनि' (अतिमुक्त) को केवलज्ञान हो गया; किन्तु आज का हमारा यह प्रतिक्रमण तो लड़ाई-झगड़े, मनोमालिन्य को भी मिटाने में समर्थ नहीं है। ऐसी स्थिति में यदि कहूँ कि प्रतिक्रमण करने की ये क्रियाएँ प्रदर्शन तो हैं ही साथ ही एक प्रहसन भी हैं तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। □

खुल जाते हैं सहज ही

हे जिनवर दीजे हमें, सम्यक् दर्शन ज्ञान।
चन्दन-सा चारित्र्य हो, तप हो सूर्य-समान।।
तप हो सूर्य-समान, कर्म के बनें पुजारी।
अपनी-ही-सी लगे, हमें यह दुनिया सारी।।
'जलज' उपासक बनें, शान्ति के सभी चराचर।
जीवन-में-ही-मुक्ति, मिले हमको हे जिनवर।।

हे जिनवर हम आपके, जपें आपका नाम।
भ्रांति-भ्रांत भव-पन्थ से, नहीं हमें कुछ काम।।
नहीं हमें कुछ काम, बढ़े नित भाव विचारा।
बढ़ती रहे सदैव, ज्ञान-गंगा की धारा।

'जलज' धर्ममय कर्म, बने समता का संगम।
मन से हटे कषाय, जीव का सुधरे आगम।।

करते हैं जो प्रेम से, नित सामायिक पाठ।
खुल जाते हैं सहज ही, हिय के बन्द कपाट।।
हिय के बन्द कपाट, सभी दिखते हैं अपने।
प्रमाद क्लेश नहीं, दिखते झूठे सपने।।
'जलज' मांगते क्षमा, किये जो पाप घनेरे।
इच्छाओं-से-मुक्त, करो हे स्वामी मेरे।।

'प्रतिक्रमण/सामायिक विशेषांक' के संपादन की प्रक्रिया लगभग जून १९८४ के प्रथम सप्ताह में शुरू हुई और अब जा कर नवम्बर १९८४ में वह समापन की ओर मुड़ी है। इस बीच जो पत्राचार हुआ, वह काफी व्यापक/महत्त्वपूर्ण है, किन्तु उन सबके उपयोगी होते हुए भी हम स्थानाभाव के कारण उन्हें संपूर्णतया नहीं दे पा रहे हैं; फिर भी तीन ऐसे पत्र हम सौंप रहे हैं, जो 'प्रतिक्रमण/सामायिक' के स्वरूप/महत्त्व/संरचना/विकास पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। वे हैं—मुनिश्री शीलचन्द्रविजय, डॉ. दरबारीलाल कोठिया तथा पं. दलसुखभाई मालवणिया के मननीय पत्र।

—संपादक

१. प्रयोजन : चित्तशुद्धि

'तीर्थंकर' का प्रतिक्रमण/सामायिक विशेषांक प्रस्तुत कर रहे हैं, यह बात बहुत रोचक एवं आनन्ददायक है। विशेषांक के लिए मेरा लेख अपेक्षित है; किन्तु मैं अभी योगोद्वहन-क्रिया में प्रवृत्त हूँ, अतः लेख नहीं भेज पा रहा हूँ; अन्यथा न मानें। प्रतिक्रमण एवं सामायिक के बारे में मेरे मन में जो धारणा है, वह संक्षेप में इस प्रकार है :

१. जैनधर्म में बतायी गयी प्रतिक्रमण/सामायिक की क्रिया निरपवाद तथ्यपूर्ण एवं फलदायी है। तथ्यपूर्ण इसलिए कि इसे करते समय हमें अपने-आप के सामने उपस्थित तथा उद्घाटित होने का अवसर मिलता है, और इसी माध्यम से हमें अपनी वास्तविक पहिचान हो पाती है।

और यह क्रिया फलदायी भी है—निःशंक। बात यह है कि सभी धर्मों में कोई-न-कोई प्रकार की नित्य, या/और नैमित्तिक क्रिया/उपासना-प्रणाली होती ही है; किन्तु उसकी फलदायित्व-की-क्षमता में वैविध्य हो सकता है। उदाहरणार्थ लीजिये ब्राह्मणों का नित्यकर्म : सन्ध्या-उपासना। कहा गया है कि 'अहरहः सन्ध्या-मुपासीत'। साथ में यह भी बताया गया कि सन्ध्यात्मक नित्यकर्म जो न करे, उसे प्रत्यवाय/दोष प्राप्त होता है, किन्तु नित्यकर्म करने वालों को कोई फलविशेष नहीं मिलता। शायद इसी विचित्रता से विस्मित होकर गुजरात के वेदान्ती कवि 'अखा' ने कह दिया कि—

नित्य-नैमित्तिक वे माथे पड्यां, जेम छोकेरा कांधे चड्या,
पाल्ये-पोष्ये पुण्य न थाय, पण पेटे पड्या ते नाख्या क्यां जाय ?
'अखो' कहे वस्तु पामवा गयो, तो गयो, पेटे पड्या ते दे सोगठी !

और अव सोच हमारी प्रतिक्रमणादि क्रियाओं के वारे में। हमारे यहां वताया गया है कि प्रतिक्रमण आवश्यक, अवश्य करने योग्य, धर्मानुष्ठान है। वह न करें तो दोष, और करें तो उसका फल भी मिलेगा अवश्य। निर्मल अध्यवसाय से की गयी शुभ क्रिया निष्फल नहीं होती। हाँ, फल में तारतम्य जरूर होगा; कभी पुण्यवन्ध, कभी पापक्षय, कभी कर्मनिर्जरा। उसका आधार है क्रिया करने वाले की चित्तपरिणति, अथवा चित्त-शुद्धि।

२. दूसरा विचार है इन सब धर्मक्रियाओं के प्रयोजन का। मेरे खयाल से हमारी क्रियाओं का प्रयोजन है चित्त-शुद्धि। समत्व-की-साधना। एक वात कह दूं कि आज क्रिया कर ली और कल चित्त-शुद्धि सध गयी—ऐसा कभी किसी को नहीं हो सकता; बल्कि क्रिया करते-करते भी चित्त में अशुद्धियाँ छायी रहेंगी, या वढ़ेंगी—ऐसा भी हो सकता है। वस्तुतः क्रियाएँ चित्तशुद्धि साधने का अभ्यासमात्र है। ज्यों-ज्यों हमारा क्रियाभ्यास वढ़ेगा, परिणति निर्मल होती चलेगी, और चित्तशुद्धि बढ़ती जाएगी। 'करत करत अभ्यास तें, जड़मति होत सुजान'। भगवान् पतञ्जलि भी यही कहते हैं कि—'अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः'/'यमनियमादिपरिपालनमभ्यासः 'गीता' में भी यही कहा गया है कि 'अभ्यासेन च कौन्तेय! वैराग्येण च गृह्यते'।

तो चित्तशुद्धि हुआ क्रियाओं का प्रयोजन, और जैसे-जसे क्रिया का अभ्यास बढ़ता जाएगा, वसे-वैसे चित्तशुद्धि भी वढ़ती रहेगी, ऐसा मेरा खयाल है। और यही वजह है कि मैं, शायद प्रारम्भ में कुछ दिन या कुछ समय, क्रिया करते समय चित्त स्थिर, या शुद्ध न रहे तो भी, क्रिया का अभ्यास चालू रखने के पक्ष में हूँ, छोड़ देने के नहीं।

आजकल एक 'मॅनिया' शुरू हुआ है कि, यदि क्रिया करते समय चित्त में स्थैर्य व शुद्धि न रहे, चित्त इधर-उधर घूमता-भटकता रहे, तो क्रिया/सामायिक न करना बेहतर है। ऐसी क्रिया करना तो निरा दम्भ होगा, आत्मवञ्चना होगी।

मैं सोचता हूँ, यह बहुत ग़लत वात/तर्क/विचार है। पलायनवाद है। अपनी विमुख़ता को ढँकने का वाग्जाल है। ऐसे लोग अक्सर ज्ञानवादी, शुष्क ज्ञानवादी, होते हैं। मैं उनसे कहना चाहूँगा कि ज्ञान की महिमा मैं सम्पूर्णतया स्वीकार करता हूँ। मैं यह भी मानता हूँ कि वग़ैर ज्ञान की क्रिया को हमारा शास्त्र प्रमाणित नहीं करता। क्रिया ज्ञान एवं विवेकपूर्वक ही होनी ज़रूरी है; किन्तु साथ-ही-साथ मात्र ज्ञान ही इष्ट है, क्रिया अनिवार्य नहीं; प्रतिक्रमण, या सामायिक नहीं भी करें और सोफे पर बैठे-बैठे कुछ धार्मिक ग्रन्थ पढ़ लेंगे तो काम वन जाएगा, ऐसे मन्तव्यों, विचारों को मैं सहमति नहीं दे सकता। वम्बई जैसे वड़े शहरों में तो आज फैशन चल पड़ी है कि कोई मासिक ५००/१००० रुपये ट्यूशन-फी लेने वाला, तत्त्वज्ञानी गृहस्थ पण्डित, हाई सोसायटी के घरानों में धर्माभ्यास कराने के लिए जाए, और

यहां लिखाये कि सामायिक के लिए कोई उपकरण विशेष और क्रिया-विधि-विशेष आवश्यक नहीं, किन्तु आप कुर्सी, सोफा या गद्दी पर बैठे हों और समतामय चित्त को थोड़े क्षणों/मिनिटों के लिए भी, निस्तब्धता/शान्ति का अनुभव हो, तो समझना 'सामायिक' हो गयी।

यह सब अध्यात्म के घर की बात नहीं। अध्यात्म तो अपेक्षा रखता है ज्ञान एवं क्रिया दोनों की शुद्धि की। उपाध्याय श्री यशोविजयजी ने अपने ग्रन्थ 'अध्यात्मसार' में स्पष्ट कहा कि—

ज्ञानं शुद्धं क्रिया शुद्धेत्यंशौ द्वाविह सङ्गतौ।
चक्रे महारथस्येव, पक्षाविव पतत्रिणः ॥

३. अब रहा प्रश्न यह कि हमारी आज की सामायिक/प्रतिक्रमणादि क्रियाओं का जो ढांचा/संविधान आज अस्तित्व में है, उसमें कुछ परिवर्तन या संक्षिप्ती करण, आज के युग-सन्दर्भ में उचित है, या नहीं?

मैं परिवर्तन, या संक्षेप के पक्ष में नहीं हूँ। जो परम्परा है, वह बड़ी बुद्धिमानी से रची गयी है और बड़े वैज्ञानिक ढंग से उसका प्रवर्तमान क्रम तथा विस्तार बनाया गया है।

आपने बड़े-बड़े साधक-महात्माओं से बातचीतें की हैं, तो उसमें प्रस्तुत विषय पर शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक/तार्किक विचारधारा उजागर हुई होगी ही, ऐसी आशा रखता हूँ। इस पत्र में से आपको जिस अंश का जैसा उपयोग अपेक्षित हो, करें।

—मुनि शीलचन्द्रविजय; अहमदाबाद; १९-७-८४

२. यह मात्र संयोग नहीं है

आपका प्रयत्न 'तीर्थंकर' को उदार और जैनों के सभी सम्प्रदायों के लिए पठनीय बनाने का रहा है; किन्तु दुर्भाग्य से परम्परा में हम ऐसे सिकुड़े हुए हैं कि हम न सही सोच पाते हैं और न सही कर पाते हैं। हमें प्रसन्नता है कि 'तीर्थंकर' बुद्धिजीवियों को विचार की पर्याप्त सामग्री दे रहा है। इसका अगला अंक आप संयुक्तांक के रूप में 'प्रतिक्रमण/सामायिक' पर निकाल रहे हैं, उत्तम है। अभी तक मुनिजन ही प्रतिक्रमण को जानते व करते हैं, अब इस अंक के प्रकाशन होने पर श्रावक भी उसे जानने लगेंगे और उसे करने का प्रयत्न कर सकेंगे।

मुनियों के षडावश्यक श्रावकों के षडावश्यकों से भिन्न हैं; वे हैं—सामायिक, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, और कायोत्सर्ग। श्रावकों के षट् आवश्यक हैं—देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान; किन्तु प्राचीन समय में मुनियों और श्रावकों के षडावश्यक एक ही थे, जो मुनियों के हैं। षडावश्यकों में सामायिक प्रथम आवश्यक है। जैसे अहिंसाव्रत सर्वाधिक महत्त्व और प्रतिष्ठा है, [illegible]

आगे के व्रत उसी पर आधारित हैं; इसी प्रकार दिगम्बरों में सामायिक पर सर्वाधिक वल दिया गया है। उसी पर आगे के आवश्यक आधारित हैं। इसीसे सामायिक लोकप्रिय है।

इसकी वजह मात्र संयोग नहीं है, अपितु इनकी प्रथम आवश्यकता और महत्ता है। प्रतिक्रमण सावधिक है—दैवसिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक और वार्षिक; किन्तु सामायिक प्रतिदिन तीन वार अथवा चार वार आवश्यक है; इसलिए उसे महत्त्व मिला है।

'सामायिक पाठ' अमितगति द्वारा लघु और वृहत् दोनों रूपों में रचा गया है। प्राचीन अन्य आचार्यों के सामायिक पाठ भी होने चाहिये, क्योंकि यह एक लोकप्रिय विषय रहा है; पर इस समय उनकी जानकारी नहीं दी जा सकती। वह अनुसन्धेय है। हाँ, डॉ. पं. पन्नालालजी साहित्याचार्य द्वारा भी संस्कृत में एक सामायिक पाठ (वाराणसी, १९६६ ई.) रचा गया था, जिसे हमने छापा था। हिन्दी-अनुवादों में मुझे पं. हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्री का अनुवाद अच्छा लगा। सारी पुस्तकों/सारे ग्रन्थों के नाम आप पं. रतनलालजी कटारिया, केकड़ी (अजमेर) को लिख कर ज्ञात करें। **—दरबारीलाल कोठिया; वाराणसी/१३ जुलाई १९८४**

३. प्रतिक्रमण : अपनी भाषा में करें

जान कर आनन्द हुआ कि आप 'प्रतिक्रमण' के विषय में विशेषांक प्रकाशित करने वाले हैं। सर्वप्रथम प्रतिक्रमण का हिन्दी-अनुवाद पं. सुखलालजी ने किया था। ई. १९२१ में। वह ग्रन्थ अभी उपलब्ध नहीं है; किन्तु उसकी 'प्रस्तावना' 'दर्शन और चिन्तन' (द्वितीय खण्ड, आवश्यक क्रिया, पृ. १७४-२०४) में छपी है। वह ग्रन्थ उपलब्ध हो सकता है। क़रीव ७०० पृष्ठों का यह ग्रन्थ केवल ७ रुपये मूल्य, में मिलता है। आपके पास न हो तो कृपया लिखें भेज दूंगा। (ग्रन्थ मिला है काफी उपयोगी है—संपादक)।

'प्रतिक्रमण' के विषय को वास्तविक दृष्टि से श्वेताम्वर ही लिख सकते हैं; दिगम्बरों में यह नामशेष हो गया है। पूज्य विद्यानन्दजी ने दिगम्बर प्रतिक्रमण की पुस्तक का संपादन और अनुवाद पं. वेचरदासजी से करवाया था छपा, या नहीं नहीं जानता। साधुओं के पते देना मेरे लिए मुश्किल है; किन्तु जो अच्छा लिख देंगे उनमें पू. मुनिश्री अमरेन्द्रविजयजी (संभवतः विपश्यना विद्यापीठ, इगतपुरी में होंगे) हैं। मुनिश्री शीलचन्द्रविजयजी ने छोटी-सी पुस्तिका प्रकाशित की है। उन्हें लिखने के लिए अवश्य प्रेरित करें। उनका पता 'मुनिश्री शीलचन्द्रविजयजी, पांजरा पोल, जैन उपाश्रय, अहमदावाद' है (इसी अंक में पत्र-रूप में उनके विचार प्रकाशित हैं)। मुनिश्री भद्रगुप्तविजयजी भी अच्छे लेखक हैं—उनका पता मालूम नहीं है (उनका

(शेष पृष्ठ १९२ पर)

'स्व' में प्रत्यावर्तन'

स्व. श्री अमृतलाल कालीदास दोशी का धर्म के लिए एक स्वच्छ/सहज/व्यवस्थित समझ और रुचि बनाने की दृष्टि से स्मरणीय योगदान है। समीक्ष्य ग्रन्थ उनकी इसी सजगता और पुरुषार्थ की एक मार्मिक परिणति है। 'पंच प्रतिक्रमण सूत्र/प्रबोध टीकानुसारी' मूलतः गुजराती भाषा में ३ भागों में क्रमशः १९४८, १९४९, और १९५० में प्रकाशित हुआ। प्रस्तुत ग्रन्थ उन तीन भागों का एक समवेत/संक्षिप्त रूपान्तर है, जिसे लोकोपयोगिता की दृष्टि से काफी होशियारी/अप्रमत्तभावेन संकलित/संपादित किया गया है। सूत्र-संपादन में जिस सरणि का अनुसरण किया गया है, वह इस प्रकार है : मूल नाम, प्रचलित नाम, मूल पाठ, छन्द-नाम-निर्देश, शब्दार्थ (मूल और लाक्षणिक); हिन्दी में अर्थ-संकलना, सूत्र-परिचय, तथा कहीं-कहीं सूत्र के प्रच्छन्न अर्थों तथा उनकी गूढ़ताओं को स्पष्ट करने के लिए संक्षिप्त प्रश्नोत्तरियाँ। ग्रन्थ में व्यवहार-दृष्टि से सामायिक लेने, चैत्यवन्दन करने, प्रतिक्रमण करने, पौषध करने, तथा पच्चक्खाण-पारणा करने की विधियाँ भी दे दी गयी हैं। यदि इस ग्रन्थ को 'प्रतिक्रमण सूत्र प्रबोध' (गुजराती) के तीनों भागों के साथ उनकी सहायता से पढ़ा जाए तो पाठकों/अध्येताओं को अधिक लाभ मिल सकता है। हिन्दी-रूपान्तर की भी तीन आवृत्तियाँ; क्रमशः १९५५, १९५७, तथा १९७९ में हो चुकी हैं।

ग्रन्थ के आरम्भ में गणिवर्य श्रीभद्रंकरविजयजी तथा श्रीधुरंधरविजयजी कृत 'प्रतिक्रमणनी पवित्रता' का जो हिन्दी-अनुवाद दिया गया है, वह प्रतिक्रमण की महत्ता, उसके स्वरूप, लक्ष्य, और उसकी उपादेयता पर परिपूर्ण प्रकाश डालता है; तथा पाठक में प्रतिक्रमण को लेकर आवश्यक/यथार्थ समझ को जन्म देता है। ग्रन्थ में सूत्र (सुत्त), स्तुति (थुई), स्वाध्याय (सज्झाय), नवस्मरण (स्तोत्र) आदि भी दिये गये हैं, जिनसे पाठक सहज ही परिचित/अनुगृहीत हुआ है। प्रसन्नता का विषय है कि समीक्ष्य ग्रन्थ में अत्यन्त पूर्वग्रहमुक्त मन के साथ प्रतिक्रमण-सम्बन्धी समस्त सामग्री को सम्मिलित कर लिया गया है। 'उपयोगी विषयों का संग्रह' के अन्तर्गत

---

१ श्रीपंच प्रतिक्रमण तथा नवस्मरण प्रबोध टीकानुसारी (शब्दार्थ, अर्थसंकलना, सूत्र-परिचय); जैन साहित्य विकास मण्डल, इरला ब्रिज, स्वामी विवेकानन्द मार्ग, विले पारले (पश्चिम), बम्बई-४०० ०५६; मूल्य—नहीं दिया है; पृष्ठ ५२ + ७४२ = ७९४; क्राउन-१६/१९७९.

बोल, सूचनाएँ, हेतु, तथा विधियाँ आकलित हैं। ग्रन्थ के उपान्त में प्रभुस्तुति, चैत्यवन्दन स्तवन, स्तुतियाँ, सज्झाय आदि भी विस्तार से दे दिये गये हैं। अन्त में श्रावक के १४ दैनिक नियम तथा १७ प्रमार्जनाएँ दी गयी हैं। कुल में, इस विषय पर प्रकाशित ग्रन्थों में यह अद्वितीय, दिग्दर्शक, मननीय, और इसीलिए संकलनीय है। प्रकाशन जैन साहित्य विकास मण्डल की सुप्रतिष्ठित परम्परा के अनुरूप है।

धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन[२]

संसार के धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन का क्षेत्र जहाँ एक ओर व्यापक, गहन, और खूब खुला हुआ है, वहीं दूसरी ओर वह काफी रोचक और दिलचस्प भी है। समीक्ष्य किताब इस क्षेत्र का एक प्रेरक प्रकाशन है, जो इस तरह की मध्यम दर्जे की किताबों में शीर्षस्थान रख सकता है। किताब में विश्व के जीवित धर्मों के महत्त्वपूर्ण पहलुओं और उनकी विशिष्टताओं का अच्छा परिचय दिया गया है – तथा उनमें परस्पर पायी जाने वाली सहमतियों/असहमतियों पर भी रोशनी डालने का प्रयत्न किया गया है। कई भारतीय विश्वविद्यालयों ने धर्मों के तुलनात्मक/समीक्षात्मक अध्ययन की सामयिक पहल की है, जो सर्वधर्मसमभाव और सम्प्रदायातीत निर्मलता की दिशा में एक अत्यन्त सूझबूझपूर्ण क़दम है; प्रस्तुत अध्ययन इसी शृंखला की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। यद्यपि संपूर्ण अध्ययन विकासपरक और सिद्धान्तोन्मुख दोनों है, तदपि कई स्थानों पर लेखक की जानकारी के अनद्यतन होने से विसंगतियाँ रह गयी हैं। अध्याय ४ में जैन तथा बौद्ध धर्मों को हिन्दूधर्म की शाखा मान कर लेखक ने इतिहास/पुरातत्त्व/दर्शन की अनदेखी की है; उसने इन्हें प्रतिक्रियाजनित भी माना है। हमें विश्वास है पुस्तक के आगामी संस्करण में लेखक पृष्ठ ७० के उन अंशों को या तो बिलकुल निकाल देगा, या अद्यतन सूचनाएँ प्राप्त कर उनका पुनर्लेखन करेगा। पुस्तक का सर्वोत्तम अंश वह है, जहाँ लेखक ने एक सार्वभौम धर्म (सार्वभौम भाषा 'एस्परेन्तो' की तरह) की संभावनाओं को खोजने की कोशिश की है। पुस्तक में कुल ग्यारह अध्याय हैं, जिनमें से प्रथम में तुलनात्मक धर्मविद्या के स्वरूप और लक्ष्य; अध्याय २ से ९ तक क्रमशः हिन्दू, बौद्ध, जैन, पारसी, यहूदी, ईसाई, इस्लाम तथा सिक्ख धर्मों पर विचार, अध्याय १० में इन धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन/मूल्यांकन, तथा अध्याय ११ में एक सार्वभौम धर्म की संभावनाओं पर खुल कर चर्चा हुई है। कुल मिला कर पुस्तक मनन-योग्य है, किन्तु अधुनातन तथ्यों की छाया में इसके संस्कार की अनिवार्यता से मुकरना मुश्किल है। सज्जा आकर्षक, छपाई निर्दोष, मूल्य उचित और समीचीन।

– नेमीचन्द जैन

---

२. *कम्पेरेटिव्ह रिलीजन्स (अंग्रेजी); केदारनाथ तिवारी; मोतीलाल बनारसीदास, ४१-यू.ए., बंगलो रोड, दिल्ली-११०-००७; मूल्य–अट्ठाइस रुपये; पृष्ठ २२५; डिमाई-८/१९८३.*

जैन कला में प्रतीक : प्रकार और गुणवत्ता[3]

कला और साहित्य में सांकेतिकता का प्रचलन प्राचीन काल से रहा है। संकेत कभी संक्षेप के लिए प्रयुक्त होते रहे हैं, तो कभी अर्थ-वैशिष्ट्य के लिए। संकेत जब व्यापक या सार्वभौम रूप ग्रहण कर लेते हैं, तब उन्हें प्रतीक का सम्बोधन प्राप्त हो जाता है।

प्रतीकों का संसार अनोखा है। उनकी अपनी एक भाषा है। जहां सहस्र शब्द असमर्थ होते हैं, वहां एक प्रतीक अपनी अर्थ-व्यंजना के आलोक से चमत्कृत कर देता है।

पवनकुमार जैन लिखित 'जैन कला में प्रतीक' एक ऐसी ही कृति है, जिसमें जैन धर्म, सिद्धान्त, साहित्य, जैन मूर्तिकला, स्थापत्य तथा चित्रकला में निहित प्रतीकों की विवेचना की गयी है। साथ ही लोककला में समाहित प्रतीकों को भी रेखांकित किया गया है। इतना ही नहीं अपितु ऐतिहासिक कालक्रम के अनुरूप उनके विकास पर भी प्रकाश डाला गया है।

समन्तभद्राचार्य के अनुसार जो सांसारिक दुःखों से मुक्त कराकर प्राणी को आत्मिक सुख धारण कराता हो वह 'धर्म' है। जैनधर्म में मन्दिर ऐसा स्मारक नहीं जो किसी के अन्तिम संस्कार के स्थान पर अथवा अस्थि-अवशेषों पर निर्मित किया जाता है। मन्दिर को एक अतदाकार स्थापना, या प्रतीक माना गया है, जो समवसरण का प्रतीक है। समवसरण तीर्थंकर की धर्म-सभा के लिए दिव्य कला-शिल्प से निर्मित एक विशाल प्रेक्षागृह होता है। मूर्ति के रूप में सर्वप्रथम अंकन तीर्थंकर का ही हुआ और उसी का तदाकार प्रतीक प्रत्येक मन्दिर में मूलनायक के स्थान पर अनिवार्य है। हजारों वर्ष पूर्व हुए तीर्थंकर आदि महापुरुषों का दर्शन अब सम्भव नहीं; किन्तु मूर्तियों के रूप में उनकी स्थापना करके इसे सम्भव किया जा सकता है। इस स्थापना को तदाकार स्थापना कहते हैं।

शतरंज के मोहरे हाथी, घोड़ों आदि के आकार के न हो कर भी हाथी-घोड़े आदि कहे जाते हैं, ऐसी स्थापना अतदाकार स्थापना है। इस प्रकार प्रतीक दो प्रकार के हो सकते हैं: तदाकार और अतदाकार। भावात्मक प्रतीक प्रायः अतदाकार होते हैं।

विविध जैन आगमों में चित्रकला-विषयक वर्णन पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं। जैन चित्रकला आरम्भिक काल में भित्ति-चित्रों के रूप में और उत्तरकालीन ताड़पत्रों, काष्ठ-पट्टिकाओं, वस्त्रों आदि पर चित्रित की गयी है। 'प्रश्न व्याकरण सूत्र' में चित्रों की तीन श्रेणियाँ उल्लिखित हैं—सचित्त (मानव, पशु-पक्षी), अचित्त (नदी, पहाड़, आकाश), तथा मिश्र (संयुक्त)।

३. *जैन कला में प्रतीक; पवनकुमार जैन; जैनेन्द्र साहित्य सदन, ललितपुर-२८४४०४; मूल्य—पन्द्रह रुपये; पृष्ठ ५१; डिमाई-८/१९८३.*

विचार तथा प्रतीक का घनिष्ठ सम्बन्ध है। शब्द प्रतीक का सरलतम एवं संक्षिप्त रूप है। 'मन्त्र' शब्द की प्रतीकात्मकता स्पष्ट है।

जैन लोकविद्या के अनुसार लोक की विशद परिकल्पना की गयी है। मन्दिर मानस्तम्भ, अष्टापद, मेरु, नंदीश्वर द्वीप ये सभी प्रतीक हैं।

जैन मन्दिरों में उत्तरवर्ती काल में अष्टमंगल द्रव्यों की स्थापना भी होने लगी जो प्रतीकात्मक हैं–(१) श्रीवत्स, (२) स्वस्तिक, (३) अर्धोन्मीलित कमल-कलिका, (४) मत्स्य-युगल, (५) जलपात्र, (६) समर्पित रत्नराशि, (७) भद्रासन और (८) त्रिरत्न।

चातक द्वारा केवल स्वाति नक्षत्र का जल पीना, हंस द्वारा मोती चुगे जाना, चकवा-चकवी का रात में बिछुड़ जाना आदि कवि-समय प्रतीकों की श्रेणी में आते हैं। जैन कलाकारों ने इन साहित्यगत प्रतीकों का कलागत प्रतीकों के क्षेत्र में समावेश कर कला-जगत् को समृद्धतर बनाया।

जैन मन्दिरों में पूजा के लिए अनेक धातुनिर्मित यन्त्र और तान्त्रिक रेखांकन भी प्रचलित हैं। जैन व्यवहार में चार द्रव्यों का वर्णन मिलता है। श्वेताम्बरों के अनुसार ये सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र्य और सम्यक्तप हैं। दिगम्बर आम्नाय के अनुसार चैत्य (जिनमूर्ति), चैत्यालय (जिनमूर्ति-सहित स्थल), श्रुत (शास्त्र) और धर्मचक्र हैं। एक रेखाकृति के रूप में इनकी पाषाण, धातु, वस्त्र या कागज पर प्रस्तुति (श्वेताम्बर रेखाकृति) सिद्धचक्र कहलाती है।

जैन कला में स्वप्नों का अंकन भी प्रचलित है। मंगल स्वप्नों का चित्रांकन 'कल्पसूत्र' पांडुलिपि में चित्रित है। खजुराहो के शान्तिनाथ मन्दिर तथा अन्य मन्दिरों के द्वारों पर भी स्वप्न प्रतीक विद्यमान हैं।

उक्त स्थिति से यह प्रकट होता है कि भारतीय कला में मांगलिक प्रतीकों की परम्परा पुरातन है। जैन कला में प्रतीकों का व्यवहार संख्या और गुणवत्ता में कदाचित् सर्वाधिक है। 'प्रतीक' हमारी पूजा के आधार तो हैं ही, साथ ही वे ऐतिहासिक अन्वेषण में भी सहायक होते हैं। देखा जाए तो 'धर्म' स्वयं 'प्रतीक' है श्रेष्ठ आचरण का, महत्तम आकांक्षाओं का तथा आदर्शों की उपलब्धि का।

विषय के तारतम्य तथा भाषा के सहज प्रवाह ने पुस्तक को पठनीय बना दिया है।

—रामविलास शर्मा

संक्षिप्त समीक्षाएँ

चैत्यवन्दन सूत्र विवेचना; श्रीमद्विजय प्रद्योतनसूरीश्वर; शारदा प्रकाशन द्वारा/ श्री पार्श्वनाथ उम्मेद जैन शिक्षण संघ, फालना (राजस्थान); मूल्य – छह रुपये; पृष्ठ-१९२; क्राउन-१६/१९८२.

चेइयवन्दन (चैत्यवन्दन) परमात्म-भक्ति का उत्कृष्ट अवलम्बन; कर्मरोग की अमोघ औषधि; 'जगचिन्तामणि सूत्र' इसका अन्य नाम; अर्हंत परमात्मा के गुण-स्तवन, संकीर्तन, स्मरण, और ध्यान का परम पुनीत अपूर्व निमित्त; चैत्यवन्दन का अधिकारी वह जो विधि का जानकार हो, निष्काम चित्त हो, सम्यग्दृष्टि हो, तथा जिसके भक्ति का आरोग्यवान हो; पुस्तक के दो खण्ड : १. चैत्यवन्दन सूत्र की व्याख्या/विवेचना, २. दर्शन, पूजन, विधि; कुल मिला कर 'चैत्यवन्दन' को लेकर उपयुक्त समस्त निर्देशन करने में कुशलतम एक समर्थ कृति।

सुनीति-शतक: आचार्यश्री विद्यासागर; जीवनलाल संतोषकुमार जैन, केलाबाड़ी, दुर्ग; मूल्य—नहीं, पृष्ठ-४४, क्राउन-१६/१९८३.

अनेक प्रेरक/मार्मिक आध्यात्मिक शतकों के पारंगत रचयिता; मुनि-मनीषी कवि; प्रस्तुत कृति १०० सुनीति-सूक्तों का एक मननीय संकलन; कई क्रान्तिकारी सूत्र भी – यथा : ३, १०, ४४; छोटे-छोटे सटीक दृष्टान्तों, सुनियोजित रूपकों, और मर्मस्पर्शिनी उपमाओं द्वारा जीवन/धर्म/अध्यात्म का गहन आलोड़न करने वाली अद्वितीय कृति; प्रायः सभी सुनीति-वाक्य जीवन को नयी दिशा/करवट देने में समर्थ; छापे की भूलें अनगिन।

बारस अणुवेक्खा; मूल—आचार्य कुन्दकुन्द; संस्कृतच्छाया/भाषाटीका—नाथूराम प्रेमी, मनोहरलाल गुप्त; श्री सद्श्रुत सेवा-साधना केन्द्र, अहमदाबाद; मूल्य—दो रुपये; पृष्ठ-४८; क्राउन-१६/१९८४.

दिसम्बर १९१० में प्रथम बार हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई द्वारा मुद्रित; अब लगभग पौन शताब्दी बाद पुनः प्रकाशित; द्वादशानुप्रेक्षा का (बारह भावनाओं) (अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म, बोधि-दुर्लभ) सरलतम विवेचन; 'समयसार'/प्रवचनसार' के प्रणेता आचार्य कुन्दकुन्द की बहुमूल्य कृतियों में से एक; अन्त में भूधरकृत बारह भावनाएँ संकलित; संपूर्ण मननीय।

चातुर्मास निर्देशिका १९८४; अखिल भारतवर्षीय स्थानकवासी जैन श्रमण-श्रमणीवृन्द के वर्षावासों की विस्तृत समाजोपयोगी जानकारी; 'तरुण जैन' साप्ताहिक का निःशुल्क उपहार; चातुर्मास सूची प्रकाशन समिति, त्रिपोलिया, [illegible]. पृष्ठ-२२०; क्राउन-१६/१९८४.

एक जनोपयोगी प्रकाशन; विगत तीन वर्षों से प्रकाशित; अकारादि क्रम से अधिक वैज्ञानिक सूचना-संयोजन अपेक्षित; छापे की भूलें अनेक।

प्राप्ति-स्वीकार

धूर्ताख्यान; मूल-हरिभद्रसूरि; सार-लेखन—कस्तूरमल बाँठिया; बाँठिया फाउंडेशन ५१/१६, शक्कर पट्टी, कानपुर-१; मूल्य-डेढ़ रुपया; पृष्ठ ४०; ('नवनीत'/ १९५८ में प्रकाशित प्राकृत-रचित ४८५ गाथाओं का सुबोध गद्य-संक्षेप)।

जम्बूद्वीप; रतनलाल डोशी; श्री स्थानकवासी जैन धार्मिक शिक्षण शिविर, जोधपुर (राजस्थान); मूल्य—नहीं; पृष्ठ २५; (मानचित्र, परिचय, तथा अन्य अनेक विषय)।

भावपंचक; जवाहरलाल सिद्धान्तशास्त्री; श्री दिग. जैन महिला समाज; नई आबादी; मन्दसौर (मध्यप्रदेश); मूल्य—नहीं; पृष्ठ ७२); गुणस्थानों एवं मार्गणा-स्थानों में सामान्य तथा विशेष भावों एवं उनके संयोगी भावों का सुबोध विवेचन)।

विश्ववन्द्य महावीर; सुभद्र मुनि; शान्तिकुमार जैन एवं सन्न चैरिटेबल ट्रस्ट, ९४३/६, छोटा छीपीवाड़, चावड़ी बाजार, दिल्ली; मूल्य—नहीं; पृष्ठ ११२; (महावीर-जीवन के माध्यम से आत्मावलोकन का सफल/सार्थक प्रयास)।

समण धम्मसुत्त (१-४ खण्ड); अनुवादक—पं. नरेन्द्रकुमार जयवंतसा भिसीकर; जीवराज जैन ग्रंथमाला, सोलापूर (महाराष्ट्र); मूल्य—चौदह रुपये; कुल पृष्ठ ३२४; (भगवान् महावीर के पच्चीस सौवें निर्वाणोत्सव के अवसर पर १९७५ में आकलित सर्वसंप्रदायसम्मत ग्रन्थ समणसुत्तं का सफल मराठी-अनुवाद)।

जैन शतक/छत्तीसी-संग्रह; संपादक—पं. महेन्द्रकुमार अजमेरा; पं. लादूराम अजमेरा, महेन्द्र भवन, मदनगंज-किशनगढ़ (राजस्थान); मूल्य नहीं; पृष्ठ ६४) (भूधर कविकृत जैनशतक के अलावा इष्ट छत्तीसी/बुधजन; कर्म छत्तीसी/बनारसीदास, परमात्म छत्तीसी/भैया भगवतीदास, वैराग्य छत्तीसी/द्यानतराय, तथा सूक्ति-छत्तीसी का सुन्दर/उपयोगी संकलन)।

जीवन-उत्थान का राजमार्ग; मोतीलाल सुराना; नैतिक जीवन ग्रन्थमाला, १७/३, न्यू पलासिया, इन्दौर; मूल्य—डेढ़ रुपया; पृष्ठ ६८; (बोधकथाकार की चौंतीस प्रेरक बोधकथाओं का सुबोध/संप्रदायातीत संग्रह)।

समयानुसार अमृत कलशावलि; अनुवादक-नन्दकिशोर जैन; ज्ञानकीर्ति प्रकाशन, १२६, न्यू मार्केट नक्खा, लखनऊ, उत्तरप्रदेश; मूल्य—दस रुपये; पृष्ठ ८०; (समयसार कलश का सुगम/सरस पद्यानुवाद, मूल्य किंचित् अधिक)।

सुधा-सिन्धु; साध्वी प्रभावतीजी; श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, शास्त्री सर्कल, उदयपुर; राजस्थान; मूल्य—तीन रुपये; पृष्ठ ७६; (चरित-काव्य, सिन्धु और सुधा के पुरुषार्थ/भाग्य, आरोह/अवरोह का काव्यमय प्रेरक लेखाजोखा)।

पुरुषार्थ का फल; सब वही; (चन्द्रसेन-चन्द्रावती के जीवन से सम्बन्धित पुराकथा पर आधारित एक उपदेशप्रद/प्रेरक चरित-काव्य)।

साहस का सम्बल; सब वही; (श्रीसेन और हरिसेन भाइयों की कथा-माध्यम से पारमार्थिक मूल्यों की स्थापना/पुनरुज्जीवन का सफल/सामयिक प्रयत्न; सरल/सुबोध काव्य-रचना)।

'तीर्थंकर' के माध्यम से घर-घर में ज्ञान-शिविर

आप मनोवैज्ञानिक शैली से इतनी नयी खोज करके ज्ञानदान दे रहे हैं। यह अपने-आप में बहुत पुण्यकार्य है। लाखों में ज्ञान को भोजन कराया है। आप 'तीर्थंकर' में नयी खोज-बीन कर दे रहे हैं, जिससे हजारों लाभ उठाकर अपना कल्याण कर लेंगे। यदि कुछ लोग भी कल्याण कर लेंगे, तो भी आपका यह परिश्रम सार्थक होगा, ऐसा मैं समझता हूँ और बहुत-बहुत आशीर्वाद देता हूँ कि आप अपने जीवन में नवीन-नवीन चीजें खोजकर समाज के सामने रखेंगे। जैसे शिविर लगाये जाते हैं और उनमें लोग इकट्ठा होकर ज्ञान प्राप्त करते हैं, आपने तो 'तीर्थंकर' के माध्यम से घर-घर में शिविर लगा दिया है।

हमने कभी नहीं सोचा था कि आप इतने मगन होकर एकाग्र भाव से मग्न ध्येय को सामने रखकर 'तीर्थंकर' का संपादन कर रहे हैं। हर अंक में नयी-नयी बातों को जोड़ते हैं। इतना ध्यान रखिये कि हमें तीर्थंकरों के सिद्धान्तों को छोड़ना नहीं है। उन्हें आधुनिक भाषा और शैली में रखे बिना हमारे धर्म का प्रचार नहीं होगा। धार्मिक तत्त्वों/तथ्यों को आधुनिक भाषा और शैली में रखना जरूरी है। आप 'तीर्थंकर' के माध्यम से इस दिशा में निरन्तर बढ़ें, यही शुभाशीष है।

—एलाचार्य विद्यानन्द मुनि, बम्बई

साक्षात्कर (बातचीत) : अपनी विशेषताएँ

'तीर्थंकर' का हर अंक कुछ नवीनता और विशेषता लिये हुए होता है। 'तीर्थंकर' के माध्यम से अनेक साक्षात्कार (इण्टर-व्यूज) पढ़ने को मिलते रहे हैं। साक्षात्कार लेने वाले और देने वाले दोनों के ही अनुभव, सुझाव और विचार पढ़ने को मिले हैं। अगस्त ८८ के अंक में श्री रमेशचन्द्र जैन (पी.एन. जैन दिल्ली) का साक्षात्कार (बातचीत) पढ़ने को मिला। लगा कि इसमें इतना [illegible] कहा जा सकता है। प्रश्नकर्ता और उत्तरदाता दोनों ने ही अपनी भूमिका पूर्ण निर्वाह किया है। एक सामाजिक कार्यकर्ता का इससे अधिक स्पष्ट सत्य और अनुभवपूर्ण उत्तर और क्या हो सकते हैं। इस साक्षात्कार से दूसरे कार्यकर्ताओं का मार्ग प्रशस्त होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

—सतीश जैन, नई दिल्ली

धर्म और राजनीति : महत्वपूर्ण विश्लेषण

एक

'तीर्थंकर' (सितम्बर, ८८) में 'धर्म और राजनीति' डॉ. प्रद्युम्नकुमार जैन ने इस लेख में जो विचार प्रकट किये हैं, उनको पढ़ कर मैं बहुत प्रसन्न हुआ। भारत में ईसा की तरह ईसा के ५०० वर्ष पूर्व महावीर और बुद्ध भी राजनीति-निरपेक्ष रहे। उन्होंने धर्म का काम इतना ही रखा कि वह व्यक्तियों में मानवीय और अति-मानवीय जीवन-मूल्यों की सर्जना करे। धर्म को राजनीति से सर्वथा अलग रखने की व्यवस्था की गई, जिससे धर्म-संस्था को लोकसत्ता का चस्का न लगे और वह अपने लोकोत्तर जीवन-मूल्यों से विमुख न हो जाए।

भारत की राजनीति पर धर्म-संस्थाओं की जकड़बंदी कभी मजबूत नहीं रही। भारत में धार्मिक और राजनैतिक संस्थाएँ स्वाधीन रही हैं। इस काल में गांधीजी ने राजनैतिक विकृति को धार्मिक तकनीक से सुधारने की पहल की। उनके दिशाबोध से ही भारत में धर्मनिरपेक्ष लोकतन्त्र का सूत्रपात हुआ। सशस्त्र विरोध की बजाय

निःशस्त्र निरोध अधिक लोकतान्त्रिक है। एक ही समय में धर्म और राजनीति–दोनों आयाम जी सकता है। ऐसी ही स्थिति में जीवन का परम कल्याण सुरक्षित है। इस तरह से जो विश्लेषण किया गया है, वह अति महत्त्व का है।

--लालचंद कोठारी, गुलबर्गा

दो

डॉ. प्रद्युम्नकुमार जैन के लेख 'धर्म और राजनीति' को पढ़ कर बड़ा आनन्द आया। विश्व भर के धार्मिक इतिहास का राजनैतिक गठजोड़ के सन्दर्भों में प्रस्तुतीकरण का उनका प्रयास वस्तुतः उनके श्रम और लगन का परिचायक है। एक सामान्य पाठक की आँख से इसे पढ़ गया तो लगा लेख में 'बहुत कुछ' है। पर, एक दार्शनिक की आँख से इसे जब पढ़ा तो अनुभव किया– पूरे लेख में 'धर्म' और 'राजनीति' इन दो शब्दों के शब्दार्थों के यथार्थ-बोध में उपजे भ्रम ने इस विस्तृत लेख की सर्जना की है। यदि डॉ. जैन ने 'धर्म' और 'राजनीति' दोनों के तत्त्वार्थ (तात्विक अर्थ) को समझा होता, तो इस लेख का स्वरूप बदल जाता और बदल जातीं वे सारी धारणाएँ, जिनके आधार पर उन्होंने 'गाँधी' और 'मार्क्स' की की कार्य-पद्धति की समीक्षा की है।

–डॉ. एम. जी. पटैरिया, चुरारा (झांसी)

जीवन प्रभावित करने वाला

सितम्बर, ८४ का संपादकीय पढ़ा; पूरा 'तीर्थंकर' पढ़ा। सभी बराबर पढ़ते हैं। प्रशंसा के लिए शब्द नहीं हैं। यदि कुछ भी प्रभाव जीवन पर होता है, तो उसका श्रेय आपको जाता है। आप सदैव मार्गदर्शन करते रहें, यही प्रार्थना है।

–श्रीमती राजदुलारी जैन, कानपुर

उपलब्धि

'तीर्थंकर' में धर्म की सार्वभौमता का दर्शन होता है। यह उपलब्धि है।

–निरंजन जमींदार, इन्दौर

नये आजीवन सदस्य रु. २०१

७३७. श्री रमेश पाल जैन
५३३३/१२, शान्ति भवन
लहनासिंग मार्केट के सामने
चन्द्रवाल रोड
पो. दिल्ली-११० ००७

७३८. श्री एम. ज्ञानचन्द बोहरा
२३, निनियाप्पा नायकेन स्ट्रीट
पो. बॉ. नं. २३४७
पो. मद्रास-६०० ००३

७३९. श्री नन्हेंलाल बाबूलाल जैन
बड़े फुहारा के पास
जवाहरगंज
पो. जबलपुर-४८२ ००२ (म.प्र.)

७४०. श्री उत्तमचन्द अभयकुमार जैन
४२-बी, कछियाना, लार्डगंज
पो. जबलपुर-४८२ ००२ (म.प्र.)

७४१. आचार्यश्री विद्यासागर शोध संस्थान
वर्णी गुरुकुल भवन
पिसनहारी की मढ़िया
पो. जबलपुर-४८२ ००२ (म.प्र.)

७४२. श्री श्रीमन्धर 'शिरीष'
द्वारा : डॉ. शीतलचन्द्र सागर
५१३, राइट टाउन
पो. जबलपुर-४८२ ००२ (म.प्र.)

७४३. श्री नरेशचन्द्र जैन
जैनसन इण्डस्ट्रीज़
मदन महल
पो. जबलपुर-४८२ ००२ (म.प्र.)

७४४. श्री सुभाष गोठिया
आई/८२, एल. आई. जी. कॉलोनी
पो. इन्दौर-४५२ ००८ (म.प्र.)

७४५. श्री टाया जैन छात्रवृत्ति फण्ड ट्रस्ट
टाया भवन
५०, अशोकनगर
पो. उदयपुर-३१३ ००१ (म.प्र.)

(शेष पृष्ठ १८१ पर)

—एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी २२ अप्रैल, ८५ को जीवन-यात्रा के ६० वर्ष पूर्ण करके ६१ वें वर्ष में प्रवेश कर रहे हैं। इन्दौर को यह सौभाग्य प्राप्त हो रहा है कि अखिल भारतीय पैमाने पर इस षष्टिपूर्ति आयोजन को गरिमा के साथ संयोजित करे।

इस संदर्भ में प्रस्तावित कार्यक्रमों की विस्तृत रूपरेखा के अन्तर्गत शाकाहार प्रदर्शनी, 'आचार और आहार'-संगोष्ठी, एलाचार्यश्री के जीवन-वृत्त पर [illegible], 'भारतीय संस्कृति को जैनाचार्यों का योगदान'-संगोष्ठी, जैन कवि-सम्मेलन, विद्यानन्द-नवनीत, विद्यानन्द स्वाध्याय-निन्धुमंथन, श्रावकाचार-विशेषांक, रत्नकरण्ड श्रावकाचार का अल्पमोली लोकप्रिय संस्करण, जैन संगीत सभा महत्त्वपूर्ण आयोजन हैं।

'श्रावकाचार-वर्ष' संपूर्ण देश में एलाचार्य श्री विद्यानन्दजी की षष्टिपूर्ति के उपलक्ष्य में २२, अप्रैल ८४ से २१ अप्रैल, ८५ तक सांवत्सारिक अवधि में मनाये जाने का प्रस्ताव भी है, जो सर्वाधिक लोक मंगलकारी आयोजन हो सकता है। श्रावकाचार-वर्ष में ऐसा प्रयत्न किया जा सकता है, जिससे गिरते हुए श्रावकाचार को सँभाला जाए और उसे नवीनतम वैज्ञानिक संदर्भों में समायोजित किया जाए।

—पिसनहारी मढ़िया, जबलपुर (म.प्र.) में स्थित श्री वर्णी गुरुकुल भवन में 'आचार्य श्री विद्यासागर शोध संस्थान' की स्थापना की गयी है। जिसके उद्देश्यों के अन्तर्गत जैन विज्ञान एवं आधुनिक विज्ञान के सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन एवं शोध-कार्य; जैन विज्ञान, गणित, भूगोल आदि विषयों से संबद्ध शोध-कार्य के लिए आधुनिकतम उपकरणों, यन्त्रों से सुसज्जित प्रयोगशाला तैयार करना; अहिंसा, अनेकान्त तथा अपरिग्रह विचार-प्रणाली और दर्शन का सूक्ष्म अध्ययन एवं शोध तथा वर्तमान सामयिक संदर्भों में उनकी उप-

योगिता के महत्त्व को प्रकाशित करना; समय-समय पर जैन विद्या पर अंतर्राष्ट्रीय, राष्ट्रीय, प्रान्तीय एवं स्थानीय संगोष्ठियों, भाषण, समारोह आदि विभिन्न कार्यक्रम आयोजित करना भी है।

शोध संस्थान की वित्तीय व्यवस्था के लिए २५ लाख रुपयों का ध्रौव्य फण्ड जमा करने की योजना है।

आचार्य श्री विद्यासागरजी की प्रेरणा और आशीर्वाद से इस शोध संस्थान की स्थापना की गयी है।

—'जैन बोधक' (मराठी साप्ताहिक) के शतक महोत्सव के अन्तर्गत 'संपादक-संगोष्ठी' तीन मूर्ति, पोदनपुर (बोरीवली-बम्बई) में १० नवम्बर, ८४ को एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी के सान्निध्य में आयोजित की गयी है। इस अवसर पर 'जैन बोधक' द्विशतक का प्रथम अंक भी प्रकाशित किया जा रहा है।

ज्ञातव्य है, एलाचार्यश्री का मंगल विहार ११ नवम्बर को हो रहा है।

—सुप्रसिद्ध उद्योगपति और समाजसेवी श्री लालचन्द हीराचन्दजी ने २१ अक्टूबर, ८४ को अपने जीवन के गौरवपूर्ण ८० वर्ष पूर्ण किये हैं। इस अवसर पर एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी के सान्निध्य में तीन मूर्ति, पोदनपुर (बम्बई) में एक समारोह आयोजित किया गया, जिसमें श्री लालचन्द हीराचन्दजी के समृद्ध एवं गरिमामय जीवन के प्रति मंगलकामनाएँ व्यक्त की गयीं। समारोह की अध्यक्षता की महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री श्री वसंतदादा पाटिल ने और मुख्य अतिथि थे सांसद श्री [illegible]।

—'श्री प्रदीपकुमार [illegible] पुरस्कार' (रु. ५१००) [illegible]

संस्कृति एवं कला' की किसी भी विधा पर लिखे गये ग्रन्थ पर प्रदान किया जाएगा। ग्रन्थ भेजने की अन्तिम तिथि ३० नवम्बर, ८४ है। पता है : श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ, समता भवन, रामपुरिया मार्ग, बीकानेर (राज.) ३३४ ००१।

—जैन दिवाकर श्री चौथमलजी के प्रशिष्य श्री अशोक मुनि की पुण्य स्मृति में एक स्मारिका प्रकाशित की जा रही है, जिसके कार्यकारी संपादक हैं श्री हस्तीमल झेलावत।

—डॉ. (पं.) पन्नालालजी जैन साहित्याचार्य (सागर) अभिनन्दन समारोह समिति गठित की गयी है, जिसके अध्यक्ष हैं श्री महेन्द्रकुमार मलैया (सागर), और महामन्त्री श्री हुकमचन्द सांधेलीय (पाटन)। अभिनन्दन ग्रन्थ के लिए गठित संपादक-मण्डल के संयोजक हैं डॉ. भागचन्द 'भागेन्दु' (दमोह)।

—दि. जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी के जैन विद्या संस्थान ने दिसम्बर, ८४ में जैन शोध-संस्थाओं के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन क्षेत्र पर आयोजित करने का निश्चय किया है, जिससे समाज में पृथक्-पृथक् रूप से हो रहे शोध-कार्यों की एक-दूसरे को जानकारी हो सके, शोध के क्षेत्रों के आयाम को विस्तृत कर उसको समन्वित और संगठित किया जा सके।

—अनेकान्त शोधपीठ, बाहुबली (कोल्हापुर) ने भी भारतवर्ष में जैन शोधकार्य के सर्वेक्षण की योजना बनायी है।

—बेलगाँव (कर्नाटक) जिले के कोंथली कुप्पानवाडी क्षेत्र में शान्तिगिरी न्यास द्वारा आचार्यरत्न श्री देशभूषण आरोग्यधाम नामक अस्पताल की स्थापना की जा रही है।

—श्री दि. जैन आचार्य संस्कृत महाविद्यालय, जयपुर के शताब्दी समारोह के अन्तर्गत २१ से २७ जनवरी, ८५ तक मनाये जाने वाले समारोह में स्नातक सम्मेलन का भी आयोजन किया जा रहा है, जिसमें विद्यालय के ऐसे सभी छात्र आमन्त्रित हैं।

—चारुकीर्ति भट्टारक स्वामी, श्रवणबेलगोला नैरोबी (कीनिया) में 'धर्म और शान्ति' पर संपन्न छठे विश्व सम्मेलन में सम्मिलित होकर स्वदेश आ गये हैं। नैरोबी और लन्दन में भी उनके प्रवचन रखे गये थे।

—भा. दि. जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी के तत्त्वावधान में तीर्थक्षेत्रों की सुरक्षा तथा उनके सर्वांगीण विकास के लिए बनायी गयी तीर्थ सर्वेक्षण योजना का शुभारंभ श्री दि. जैन अतिशय क्षेत्र पैठण (औरंगाबाद) में गत १५ सितम्बर, ८४ को साहू श्रेयान्सप्रसादजी जैन की अध्यक्षता में संपन्न हुआ।

—सिद्धक्षेत्र पावागिरि, ऊन (म.प्र.) की प्रबन्धकारिणी ने क्षेत्र की स्थापना के ५० वर्ष पूर्ण होने पर जून, ८५ के प्रथम सप्ताह में अर्द्ध शताब्दी समारोह आयोजित करने का निश्चय किया है।

—विपुलाचल पर्वत राजगीर पर बने भगवान् महावीर प्रथम देशना स्मारक की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा हेतु एक सभा गत २२ सितम्बर, ८४ को श्री महावीर कीर्ति सरस्वती भवन, राजगीर में साहू श्री श्रेयांसप्रसाद जैन की अध्यक्षता में हुई, जिसमें यह निर्णय लिया गया कि राजगीर में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा २१ से २५ फरवरी, ८५ के मध्य श्रेष्ठ मुहूर्त में की जाए। साहू श्री अशोककुमार जैन को स्वागताध्यक्ष मनोनीत किया गया। कार्यकारिणी समिति की आगामी बैठक पटना में की जाएगी।

—श्री अ. भा. जैन विद्वत् परिषद्, जयपुर एवं श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ, जोधपुर के संयुक्त तत्वावधान में आचार्यश्री

हस्तीमलजी के सान्निध्य में गत १२, १३, १४ अक्टूबर, ८४ को जोधपुर में आयोजित 'श्रावक धर्म एवं वर्तमान सामाजिक स्थिति' विषयक संगोष्ठी संपन्न हुई।

—नवनिर्माणाधीन दि. जैन तीर्थ गोम्मटगिरि, इंदौर पर १ से ८ नवम्बर, ८४ तक अष्टाह्निका पर्व पर श्री इन्द्रध्वज महा मण्डल विधान एवं विश्व शान्ति महायज्ञ का आयोजन श्री माणकचन्द पालीवाल (गोधा) के परिवार की ओर से किया गया है।

सर सरूपचंद हुकमचंद पारमार्थिक ट्रस्ट की ओर से एक लाख रुपयों की लागत से 'त्यागी निवास' का शिलान्यास और साहू जैन ट्रस्ट की ओर से रेस्ट हाउस (विश्रांति भवन) के निर्माण के शुभारम्भ की योजना है।

—सन् १९८३-८४ का चौथा अणुव्रत पुरस्कार नैतिकता सदाचार और अहिंसा के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य के लिए श्री शिवाजी भावे को देने की घोषणा जोधपुर में आचार्यश्री तुलसी के ७२वें जन्मोत्सव पर की गयी। ज्ञातव्य है, श्री शिवाजी भावे स्व. आचार्यश्री विनोबा के अनुज हैं।

(पृष्ठ १७८ का शेष)

७४६. श्री एस. एल. अजमेरा
४-जी-१, जवाहर नगर
पो. जयपुर-३०२ ००४ (राज.)

७४७. श्रीमती चन्दनबेन पी. शाह
डायरेक्टर,
दि एस.आई.एफ. मिल्स प्रा. लि.
४९, कॉलेज रोड
पो. मद्रास-६०० ००६

७४८. श्री रवीन्द्रकुमार जैन
द्वारा : सन्मति एजेन्सीज़
भारत पेट्रोलियम कारपोरेशन लि.
शेरी, फूलवंकर नाट्यगृह के सामने
पो. जालना-४३१ २०३ (महा.)

७४९. श्री जमुनालाल भरतिया
विहारी रोड
पो. सीकर-३३२ ००१ (राज.)

७५०. श्री गणि कलाप्रभसागर
द्वारा : मेघ संस्कृति भवन
लालजी पुनशी वाडी
देरासर लेन, घाटकोपर (पूर्व)
पो. बम्बई-४०० ०७७

७५१. श्री एम. एच. सिपाड़ा
१८, एच. आई. जी.
शंकरनगर
पो. रायपुर-४९२ ००१ (राज.)

७५२. श्री सुमेरचन्द जैन
द्वारा : सुरेन्द्र जनरल स्टोर्स
बाजार जहाँगीराबाद
पो. भोपाल-४६२ ००८ (म.प्र.)

७५३. श्री उजंशी अम्बालाल शाह
जूनी मंडी (पुलिस चौकी के सामने)
पो. खंभात ३८८ ६२० (गुजरात)

७५४. श्री रतनलाल सुराना
शोभना
पो. बोलपुर, जि. बीरभुम (प. बंगाल)

७५५. श्री किशनलाल बोथरा
स्पन कास्टिंग एंड इंजीनियरिंग प्रा. लि.,
२०, मल्लिक स्ट्रीट
पो. कलकत्ता ७०० ००७

७५६. श्री रतनलाल लुणिया
द्वारा . लखमीचंद अमरचंद लूणिया
१३, नूरमल लोहिया लेन
पो. कलकत्ता ७०० ००७

७५७. श्री सुनीलकुमार जैन
द्वारा : जैन बन्धु
२-बी/१२, पंजाबी बाग
पो. नई दिल्ली-११००२६

७५८. श्री विजयकुमार जैन
आश्रम की कुलिया
कमानिया गेट
पो. जबलपुर-४८२००२ (म.प्र.)

जैन साहित्य में कृष्ण

जैन वाङमय में शलाका पुरुष श्रीकृष्ण वासुदेव का, कथानक और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से, विशेष महत्त्व है। प्रस्तुत कृति में, जैन साहित्य में कृष्ण-कथा, कृष्ण का स्वरूप, व्यक्तित्व, तीर्थंकर नेमिनाथ और कृष्ण का पारस्परिक सम्बन्ध तथा कृष्ण के महान् कार्यों का संक्षिप्त विवेचन तो है ही, साथ में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी में लिखी गई प्राचीन जैन कवियों की अब तक उपलब्ध रचनाओं का भी कालक्रम से उल्लेख हुआ है।

कृतिकार हैं—डॉ. महावीर प्रसाद कोटिया; मूल्य १२/-

मूलाचार (पूर्वार्ध)

(संस्कृत एवं हिन्दी टीकानुवाद के साथ पहली बार प्रकाशित)

आचार्य वट्टकेर द्वारा प्रणीत प्राकृत ग्रन्थ "मूलाचार" जैन आचार-विधा पर सर्वाधिक प्राचीन कृति है। भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा यह प्राकृत मूल एवं श्री वसुनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती विरचित संस्कृत टीका तथा पं. (डॉ.) पन्नालाल जैन साहित्याचार्य के संपादकत्व में आर्यिकारत्न ज्ञानमती माताजी द्वारा हिन्दी-अनुवाद के साथ प्रकाशित।

भारतीय ज्ञानपीठ

बी/45-47, कनॉट प्लेस,

नई दिल्ली-110 001

'तीर्थंकर' के दुर्लभ और संकलनीय विशेषांक

		रुपये
१.	मुनिश्री विद्यानन्द (अप्रैल, ७४)	१०.००
२.	श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरीश्वर (जून-जुलाई, ७५)	१०.००
	(दोनों विशेषांक सजिल्द में सुलभ)	२५.००
३.	मुनिश्री चौथमल जन्म-शताब्दि (नव.-दिस., ७७)	१०.००
४.	आचार्यश्री विद्यासागर (नव.-दिस., ७८)	१०.००
५.	साध्वीश्री विचक्षणश्री (फर.-मार्च, ८२)	१५.००
६.	पं. नाथूलाल शास्त्री (जून, ७८)	१०.००
७.	गोम्मटेश्वर (महामस्ताभिषेक, फर., ८१)	१०.००
८.	जैन पत्र-पत्रिकाएँ (अग.-सित., ७७)	२०.००
९.	वीर निर्वाण-चयनिका (दिस., ७६)	१०.००
१०.	णमोकार मन्त्र-खण्ड-१ (नव.-दिस., ८०)	१०.००
११.	णमोकार मन्त्र-खण्ड-२ (जनवरी, ८१)	१०.००
	(णमोकार के दोनों विशेषांक सजिल्द में भी सुलभ)	२५.००
१२.	भक्तामर स्तोत्र (जनवरी, ८२)	२१.००
१३.	जैन भूगोल (अगस्त, ८२)	५.००
१४.	श्रीमहावीर-तीर्थ (नवम्बर, ८२)	१०.००
१५.	जैन ध्यान/जैन योग (अप्रैल, ८३)	१५.००
१६.	समाज-सेवा (नव.-दिस., ८३)	१५.००
१७.	प्रतिक्रमण/सामायिक (अक्टू.-नव., ८४)	२०.००
×	विशेषांकों के संपूर्ण सेट का रियायती मूल्य	१८५.००

× रजिस्ट्री चार्ज एक विशेषांक पर रु. ३-००, अतिरिक्त विशेषांक पर रु. १.००

× वी.पी.पी. नहीं की जाएगी। अग्रिम मूल्य मनीऑर्डर/बैंक ड्राफ्ट से ही भेजिये ।

संपर्क : **प्रबन्ध संपादक, 'तीर्थंकर'** ६५, पत्रकार कालोनी

कनाड़िया रोड, इन्दौर-४५२ ००१ (म. प्र.)

हीरा भैया प्रकाशन, इन्दौर

१.	भीली-हिन्दी-कोश —डॉ. नेमीचन्द जैन	१५-००
२.	जिन खोजा तिन पाइयां —भैयालाल जैन	३-००
३.	भीली : भाषा, साहित्य और संस्कृति —डॉ. नेमीचन्द जैन	७-००
४.	[illegible] (संस्कृत महावीराष्टक) काव्यानुवाद : —भवानीप्रसाद मिश्र	१-००
५.	सोना और धूल (कविताओं का संकलन) —नेमीचन्द पटोरिया	१-५०
६.	भीली [illegible]-गीत —महीपाल भूरिया	१५-०
७.	दरवाजे पर अनहद राग (बोध कविताओं का संकलन) —दिनकर सोनवलकर	५-००
८.	शब्द से आगे (काव्य-संकलन) —श्रीकान्त जोशी	५-००
९.	अपना होते सन्दर्भ (कहानी-संग्रह) —सूर्यकान्त नागर	६-००
१०.	जलता हुआ मकान (कहानी संग्रह) —श्याम व्यास	५-००
११.	प्राकृत सीखें —डॉ. प्रेमसुमन जैन	३-००
१२.	आत्मीय संगीत (कविता-संग्रह) —दिनकर सोनवलकर	५-००
१३.	ज़हर (ललित निबन्ध-संकलन) —डॉ. नेमीचन्द जैन	२-००
१४.	अमृत (ललित निबन्ध-संकलन) —डॉ. नेमीचन्द जैन	२-००
१५.	अपना बालक (मू. वकलभाई मेहता, अनु. काशिनाथ त्रिवेदी)	४-००
१६.	पैगम्बर मुहम्मद —डॉ. नेमीचन्द जैन	२-००
१७.	मंगलाचरण —मानवमुनि (प्र., द्वि., तृ. संस्करण)	२-००
१८.	अन्तर्बोध —डॉ. नरेन्द्रकुमार सेठी	३-००
१९.	भीली देवता-गीत —महीपाल भूरिया	१८-००
२०.	पंडज्जी —सुरेश 'सरल'	४-००
२१.	मन में जलते हुए अनगिनत सूर्य—(मराठी दलित कविता) —दिनकर सोनवलकर	२-००
२२.	भक्तामर स्तोत्र (राजस्थानी-अनुवाद) —विपिन जारोली	३-००
२३	जीवन : आदर्श : अनुभव —मानवमुनि	३-००
२४.	मृत्युंजय णमोकार —मुनि अमरेन्द्रविजय	३-००

अल्पमोली जैनधर्म-परिचय-माला

२५.	भारतीय संस्कृति को जैन अवदान (प्रथम पुष्प)—डॉ. नेमीचन्द जैन	१-००
२६.	जैन आचार-संहिता और मानव-कल्याण (द्वितीय पुष्प)—डॉ. प्रेमसुमन जैन	१-००

हीरा भैया प्रकाशन

६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाडिया रोड, इन्दौर-४५२ ००१ (म. प्र.)

(पत्र-से-लेख : पृष्ठ १७० का शेषांश)

चातुर्मास इस वर्ष मद्रास में हुआ है, वे 'अरिहन्त' जोधपुर के विद्वान्/ओजस्वी संपादक हैं)। युवाचार्य महाप्रज्ञ भी अच्छा लिखेंगे, उनका चातुर्मास जोधपुर में है (बातचीत इसी अंक में प्रकाशित है)। गुणवन्त शाह बम्बई को भी आमन्त्रण दें। मेरे खयाल में पं. सुखलालजी की पूर्वलिखित 'प्रस्तावना' यदि पूरी छाप देंगे तो 'आवश्यक/प्रतिक्रमण' के स्वरूप और इतिहास आदि का ज्ञान हो जाएगा। आपके प्रश्नों का उत्तर उसमें से मिल जाएगा। इसके बाद बम्बई से जैन साहित्य विकास मण्डल, इर्ला ब्रिज, विले पार्ले से 'प्रतिक्रमण ग्रन्थ' नाम से तीन भागों में पुस्तक प्रकाशित हुई है (दे. सन्दर्भ-सूची)। वह एक विचार की बात है। स्थानकवासी, तपागच्छ, और खरतरगच्छ के प्रतिक्रमण करने की विधि में भेद हो गया है; अतएव आपके लिए ये प्रतिक्रमण एकत्र कर भिजवा दूंगा।

मूल 'आवश्यक सूत्र' उपलब्ध है। उसकी कई टीकाएँ छपी हैं। उसी का दूसरा नाम 'प्रतिक्रमण सूत्र' हो गया है। उसमें कुछ वृद्धि करके समय-समय में उसमें अनेक स्वाध्याय जोड़े गये। ऊपर आज किया जाने वाला/प्रचलित प्रतिक्रमण है।

मैं अब कुछ भी नया लिखने का साहस करता नहीं, अतएव मैंने आपको पं. श्री सुखलालजी की 'प्रस्तावना' सूचित कर दी है। उसमें से कुछ जोड़ने की स्थिति में नहीं हूँ।

जब मैंने लिखना शुरू किया था, तब एक लेख लिखा था कि प्रतिक्रमण अपनी भाषा में करना चाहिये। लोग बिना समझे प्राकृत पाठों का पारायण कर जाते हैं, इत्यादि। यह बात १९३२ की है।

—दलसुखभाई मालवणिया, अहमदाबाद/२६-६-१९८४

(पृष्ठ ५८ का शेष)

होगी। बच्चों का अपने-अपने घर पहुँच जाना सामायिक में स्थिर हो जाना है; आत्मा के स्वभाव में लीन हो जाना है। जैसे-जैसे साधक आत्मा में लीन होता जाएगा, लोक की आसक्तियाँ कम होती जाएँगी; और फिर एक दिन आत्मा के अलावा सारा जग रेत-के-घरौंदे के अतिरिक्त कुछ नहीं रह जाएगा। उसी दिन सच्चा प्रतिक्रमण एवं सच्ची सामायिक होगी। तब तक तो इनका अभ्यास किया जा रहा है। यह आत्मालोचन का विषय है कि हम विचार करें — हमारा कितना समय रेत पर घरौंदे बनाते बीत गया/बीत रहा है? हमें अपने सच्चे घर की पहिचान कब होगी? कब उसकी छाया में हम पहुँच सकेंगे?

प्रतिक्रमण, वस्तुतः, उस भटके हुए राही की मनोदशा का परिचायक है, जिसे बहुत दूर निकल आने पर ज्ञात हुआ कि उसके गन्तव्य की दिशा सर्वथा दूसरी थी। वह भटक कर इस ओर निकल आया है कि जब उसे लौटना ही पड़ेगा। इस अनजान मार्ग से मुँह फेरे बिना जानी हुई बस्ती में नहीं पहुँचा जा सकेगा। 'लौटना' बड़ी कष्टदायक प्रक्रिया है; क्योंकि उसमें नये मार्ग को देखने का आकर्षण नहीं है, और जिसे देखा है, अनुभव किया है उसे छोड़ने का अवसाद भी जुड़ा हुआ है; किन्तु यदि कोई बड़ी वस्तु, कीमती वस्तु, अपनी वस्तु पीछे छूट गयी हो और उसके सुरक्षित मिलने का आश्वासन सामने हो, तो फिर पीछे लौटना आनन्द-दायक हो जाता है। प्रतिक्रमण में यही होता है; होना चाहिये; क्योंकि प्रतिक्रमण आत्मा के दरवाजे तक पहुँचने का मार्ग है और सामायिक है उसके भीतर छिपे खज़ाने का स्वामी बन जाने का प्रमाणपत्र। □□

यह विशेषांक

उस शृंखला की अन्तिम कड़ी नहीं है, जो प्रतिक्रमण/सामायिक के सांगोपांग विवेचन के लिए संकल्पित है, अपितु उसका प्रशस्त आरम्भ है

इसीलिए, इसके बाद
आप पायेंगे

प्रतिक्रमण : शेषांक - १ : दिसम्बर ८४

जिसमें प्रतिक्रमण के कन्नड़, प्राकृत, और भारतीय भाषाओं के अधिकृत पाठ होंगे और होगा तमाम प्राप्य सामग्री का तुलनात्मक अध्ययन-विवेचन

और इसके बाद
आपके हाथों में होगा

सामायिक : शेषांक - २ : जनवरी ८५

जिसमें सामायिक के प्राकृत, संस्कृत, तथा हिन्दी-पाठों के साथ उनका तुलनात्मक समीक्षण भी होगा

तीनों अंकों का डाक-व्यय-सहित मूल्य है तीस रुपये; तथा अलग-अलग क्रमशः २० रु., ५ रु., ५ रु.

प्राप्ति-संपर्क :

प्रबन्ध संपादक 'तीर्थंकर', ६५, पत्रकार कालोनी,
कनाड़िया मार्ग, इन्दौर - ४५२ ००१; म. प्र.

ांक-१ : प्रतिक्रमण
म्बर १९८४
१४, अंक ८
सिर २०४१
तीर्थंकर
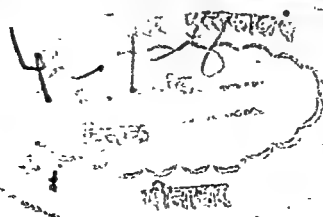
सत्त विह पडिक्कमणं

'पडिक्कमणं - दिवसिय, रादिय, पक्खिय, चाउम्मासिय, संवच्छरिय इरियावहिय उत्तमट्ठाणियाणि चेदि सत्त पडिक्कमणाणि। सव्वादिचारिय इतिविहाहारचायिय पडिक्कमणाणि उत्तमट्ठाण पडिक्कमण-पडिक्कमणम्मि णिवदंति। अट्ठाबीसमूलगुणादिचार विसय सव्व पडिक्कमणाणि इरिया-वहय पडिक्कमणम्मि णिवदंति; अवगय अदिचार विसयत्तो। तम्हा सत्त चेव पडिक्कमणाणि।'—आचार्य वीरसेन, जयधवला, १; पृष्ठ : ५७।

(दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक, ईर्यापथिक और औत्तमार्थिक इस प्रकार प्रतिक्रमण सात प्रकार का है। सर्वातिचारिक त्रिविधाहार-त्यागिक (अन्न=भातदालादि, खाद्य=मोदकादि, और लेह्य=चाट कर खाने की वस्तु) नाम के प्रतिक्रमण की जीवनपर्यंत की गयी प्रतिज्ञा को 'उत्तमार्थ' प्रतिक्रमण कहते हैं। अट्ठाईस मूलगुणों के अतिचारविषयक समस्त प्रतिक्रमण ईर्यापथ प्रतिक्रमण में अन्तर्भूत होते हैं, क्योंकि ईर्यापथ प्रतिक्रमण अपगत अतिचारों को विषय करता है। इसलिए प्रतिक्रमण सात ही होते हैं।)

विचार-मासिक

सद्विचार की वर्णमाला में सदाचार का प्रवर्तन

प्रतिक्रमण : शेषांक–१

वर्ष १४; अंक ८; दिसम्बर

मार्गशीर्ष वि. सं. २०४१, वी. नि.

संपादन : डॉ. नेमीचन्द जैन

प्रबन्ध संपादक : प्रेमचन्द जैन

आकल्पन : संतोष जड़िया

हीरा भैया प्रकाशन

६५, पत्रकार कॉलोनी कनाड़िया मार्ग,

इन्दौर-४५२ ००१, मध्यप्रदेश

दूरभाष : ५८०४

वार्षिक शुल्क : पच्चीस रुपये

प्रस्तुत अंक : पाँच रुपये

आजीवन : दो सौ एक रुपये

विदेशों में वार्षिक : सौ रुपये

नईदुनिया प्रिंटरी, इन्दौर-४५२ ००९ द्वारा हीरा भैया प्रकाशन, इन्दौर के लिए मुद्रित

क्या / कहाँ

जाले से बाहर

हम जो कर रहे हैं, जो करते हैं, या जो भी हमारे द्वारा रोज़-ब-रोज होता है, होता रहता है, क्या हम कभी ऐसे क्षण ढूंढ़ पाते हैं, जब उनका एक तटस्थ लेखाजोखा लें, या उनकी वस्तुनिष्ठ समीक्षा करें? करते जाना अनियन्त्रित / बेलगाम, और यह न देखना कि जो कृत (किया) या कारित (कराया हुआ) है, उसकी गुणात्मकता क्या है, संभवत: एक बेहद जोखिम – भरा रास्ता है। हम दिन-के-अन्त तक (शाम) और रात-के-अन्त तक (सुबह) इतना सारा कुछ जाने-अनजाने कर चुकते हैं और इस करने-में थक कर इतने चकनाचूर हो जाते हैं कि हमें वक्त ही नहीं मिलता कि हम अपने 'कृत – कारित – कीरन्त' का निष्पक्ष लेखाजोखा लें; अपना हिसाब मिलायें। देखिये न, जो हमें नहीं करना चाहिये, वह हम लगातार कर रहे हैं और जो हमें अप्रमत्त नित्य करना चाहिये उसे निरन्तर विस्मृति-के-समुद्र में छोड़ रहे हैं। प्रतिक्रमण हमारी इस दूषित वृत्ति पर प्रश्नचिह्न लगाता है और हमें ख़बरदार करता है कि हम प्रतिपल अपने आचरण की स्पष्ट समीक्षा करें और उसे, जहाँ से वह निर्धारित आचरण-मानकों से गिरा / विचलित हुआ हो, वहाँ से सँभालें, वहाँ से उसकी मरम्मत आरंभ करें।
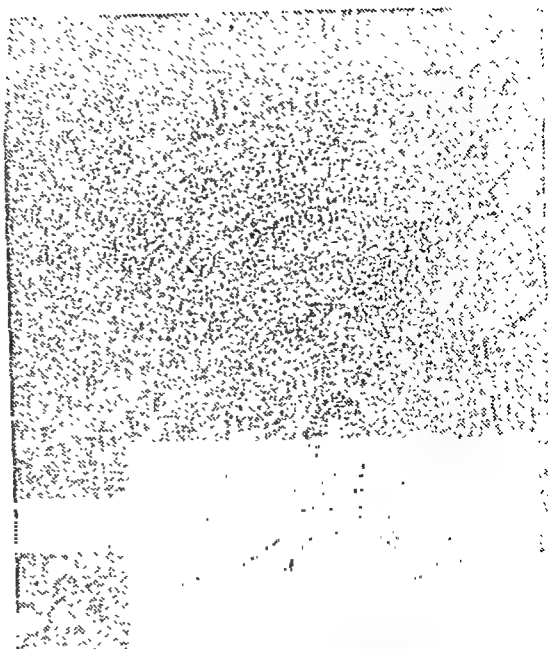
मकड़ी जाला बुनती है; बुनती है इसे वह दूसरों को फाँसने के लिए, अपने आहार की व्यवस्था के लिए, किन्तु बदक़िस्मती से वह खुद उसमें निरन्तर फँसती जाती है। हम भी जाने-अनजाने दिन-ब-दिन अपने मकड़जाल बुनते हैं; निश्चय ही वे बड़े मनोहारी / आकर्षक होते हैं; किन्तु त्रासदी यह है कि हम उनमें लगातार फँसते जाते हैं। होता असल में यह है कि जो जाल हम दूसरों को फाँसने के लिए फैलाते हैं, अनजाने में वे बूमरैंग / भस्मासुर सिद्ध होते हैं और हम पर ही हमला कर बैठते हैं; अन्तत: जब होश आता है तब हम पछताते और सिर धुनते

हैं, किन्तु तब तक चिड़ियाँ सारा खेत चुग चुकी होती हैं, वक्त गुज़र चुका होता है तथा रक्षा का कोई उपाय बच नही रहता है।

ये जाल कई तरह के होते हैं। सामाजिक दृष्टि से हम रातदिन कई विषमताओं को जन्म दे लेते हैं। कई सामाजिक बुराइयाँ ऐसी हैं, जिनके कारण न सिर्फ हमें वरन् दूसरों को भी भारी नुकसान पहुँचता है। अपनी झूठी प्रतिष्ठा/साख को बचाये रखने के लिए भी हम कई फरेब/छल करते हैं। कई बार हमारे एक ही वक्तव्य के एक साथ अनेक संस्करण होते हैं; इस तरह हम अपने अन्तर्विरोधी आचरण से घर-में, घर-से-बाहर कई ला-इलाज़ विकृतियाँ फैलाते हैं और झूठी शान तथा मिथ्या दंभ को ले कर निरन्तर उलझते जाते हैं। जो हम कभी होते नहीं हैं, या हो नहीं सकते, वैसे दीख पड़ने में रस लेने लगते हैं। इस/ऐसे आचरण से हमें तो कोई लाभ होता नहीं है, दूसरों को नुकसान अलबत अवश्य पहुँच जाता है। दहेज़/अशिक्षा/अन्धविश्वास/उत्सव-महोत्सव कुछ ऐसे इलाके हैं, जहाँ हम सामाजिक उलझनों के जाल दिन-रात बुनते रहते हैं, जिनमें देर-अबेर स्वयं तो फँसते ही हैं, दूसरों के लिए भी गहन खाई-खंदक बनाते जाते हैं।

आर्थिक लाभ की मृगमरीचिका में फँस कर भी हम कई जाल बुन डालते हैं और अन्ततः बुरी तरह कराहते हुए अपने दुर्लभ मनुष्य-जन्म को बुरी तरह ध्वस्त/बर्बाद कर डालते हैं। यदि हम व्यापारी होते हैं तो कम तौल कर, कम नाप कर, मिलावट/अपमिश्रण से, झूठे दस्तावेज़, व्यभिचार, दुराचरण, भ्रष्टाचार, विश्वासघात द्वारा लोगों की आँखों में धूल झोंकते हैं, और तत्क्षण यह समझते हैं कि फायदे में हैं, किन्तु जब पूरी बैलेंसशीट/अन्दर का हिसाब सामने आता है, तब लगता है कि हमारे इस दोगले आचरण से न तो हमें कोई लाभ मिला है और न दूसरों का कोई हित सध सका है, बल्कि ऐसा कुछ हुआ है जिससे अखिल मानवता के मस्तक पर कलंक का टीका लग गया है।

हमारी अपनी सदी में ही ऐसी कई हृदय-विदारक घटनाएँ घटित हुई हैं, होती रही हैं, हो रही हैं जिनसे हमारे इस कथन की पुष्टि होती है; यानी जब हम अपने आर्थिक लाभ के लिए दूसरों का ऐसा नुकसान करते हैं, जिसकी कभी कोई पूर्ति संभव नहीं होती तब हम जाल में स्वयं तो फँसते ही हैं साथ में कई निरीह प्राणियों के लिए भी जानलेवा साबित होते हैं। चाहिये हमें कि प्रतिक्रमण द्वारा प्रतिपल यह देखें कि हमारे आचरण का ऐसा कौन-सा हिस्सा है जो खुद के, अन्यों के लिए घातक सिद्ध हुआ है और उसे किस तरह मिथ्या/निर्बीज किया जा सकता है। प्रतिक्रमण-द्वारा हम स्वयं पर तो चौकसी रखते ही हैं, सावधान रहने पर उस माल को भी बरामद कर लेते हैं जिसे अन्दर/बाहर के दैत्य-दस्यु (हिंसा, असत्य, चोरी, अपरिग्रह, अब्रह्म आदि) अपहरण कर चुके थे।

धार्मिक दृष्टि से यदि हम अपने रोजमर्रा के आचरण की जाँच-परख करें तो पायेंगे कि हम धर्म के साधारण नियमों को जानते तो हैं; किन्तु मानते प्रायः

नहीं हैं। कई बार कुछ इस तरह भी होता है कि न तो हम व्रत-नियमों को जानते ही हैं, और न ही उन्हें मानते हैं वरन् मानने का पाखण्ड करते हैं; यानी हम उन संत-साधुओं / मुनि-महर्षियों के पास जाते हैं, जो हमारे धर्म के सर्वोपरि प्रतिनिधि होते हैं; या उन धर्मस्थलों की यात्राएँ करते हैं, जो धार्मिक महत्त्व के होते हैं, किन्तु इनमें से कोई एक भी हमें भीतर से छू-बदल नहीं पाता। हम कई अच्छे ग्रन्थों को पढ़ते हैं, कई प्रार्थनाओं / पदों / भजनों को घोखते हैं, किन्तु हो कुछ ऐसा जाता है हमारा मन कि हम उनकी मूल प्राण / प्रभाव-धारा से अनछुए / अस्पृष्ट रह जाते हैं। प्रतिक्रमण हमारी उस रुद्ध संवेदनशीलता के बंद द्वार खोलने की प्रक्रिया है; उन विचलनों / स्खलनों को जो हमारी प्रतिदिन की ज़िन्दगी के अनिवार्य हिस्से बन गये हैं, और जो चेहरे से अच्छे-भले दिखायी देते हैं (होते नहीं हैं); प्रतिक्रमण की कसौटी पर जाँच-परख में आ जाते हैं, उनकी कलई खुल जाती है। वस्तुतः प्रतिक्रमण की संपूर्ण प्रक्रिया इतनी तेज़ाबी और इतनी प्रखर है कि उससे बच पाना लगभग असंभव ही होता है।

जैसे हम आईना देखते हैं और उसमें-से असलियत के दर्शन करते हैं, ठीक वैसे ही प्रतिक्रमण के प्रौंछन (झाड़न) से हम अपने मनोदर्पण को स्वच्छ बनाते हैं और उसमें पूरी सजगता से अपने आचरण की असलियत को देखने / जानने की कोशिश करते हैं; पता लगाते हैं कि हमारे मूल चेहरे से परिवर्तित चेहरे का कितना साम्य और कितना वैषम्य इस बीच ठहरा / बहा है। संपूर्ण प्रक्रिया महत्त्व की इसलिए है कि इससे एक ऐसा मनोमन्थन हो जाता है जिससे मनुष्य / साधक जड़मूल से बदलने लगता है / बदलता जाता है। यह आईना सबके पास है; किन्तु उस ओर न तो हमारी कोशिश ही कभी होती है और न ही वह रास्ता इतना सम्मोहक / आकर्षक ही है। मनुष्य का स्वभाव है कि वह उस ओर दौड़ता है, जिस ओर से उसकी तृष्णा तृप्त होती है (वैसे तृष्णा कभी तृप्त नहीं होती)। प्रतिक्रमण तृष्णाओं का कवच है। वह उस ध्रुवबिन्दु पर लौटा लाने में समर्थ है, जहाँ से हम किसी भी ओर क़दम उठा सकते हैं। वस्तुतः हमारा जो क़दम पहले आदर्शों की दिशा में उठा था, किन्तु किन्हीं बाधाओं के कारण जो रुद्ध / दूषित हो गया था, प्रतिक्रमण वस्तुतः उस उठे हुए क़दम को मूलबिन्दु पर वापिस लाने की अनुभवसिद्ध प्रक्रिया है।

मानसिक दृष्टि से भी हमें अक्सर मरम्मत की ज़रूरत होती है। होता यह है प्रायः कि हम किसी साधना-मार्ग को स्वीकार तो कर लेते हैं, किन्तु किन्हीं कारणों से तत्क्षण अपने पुरुषार्थ को पूरी तरह से परख नहीं पाते हैं, या साधना के निमित्त जिस तरह के वातावरण की आवश्यकता होनी चाहिये (उसे फलवती बनाने के लिए) वैसी फज़ा मिल नहीं पाती है, अतः हम किन्हीं शिथिलताओं / मलिनताओं के शिकार हो जाते हैं – प्रतिक्रमण हमें इन उलझनों / मलिनताओं / विचलनों को समझने / उनसे निबटने / उनके समाधान ढूँढ़ने के उपयुक्त अवसर प्रदान करता है ताकि हम

अधिक शक्तिशाली / प्रखर / अचूक बन सकें और अपने गन्तव्य तक तेजी से डग भर सकें।

मन की खिड़कियों से हो कर जो दूषण हमारे आचार में रेंग आते हैं, वे असल में स्थूल विचलनों से कहीं अधिक घातक होते हैं। स्थूल शिथिलताओं / दोषों का तो कोई हल निकल आता है; किन्तु जो विकृतियाँ भीतर नीड़ बना कर बैठ / पैठ जाती है उन्हें पहिचानने और उखाड़ फेंकने में बड़ी कठिनाई होती है। इनमें से कई सारे विचलन / स्खलन इतने छद्मवेशी होते हैं कि हमें अपने हितैषी-जैसे लगते हैं, किन्तु अन्ततः वे विचलन ही हैं; इन्हें ठीक-से पहिचान कर इनसे निवटना प्रतिक्रमण तथा उसके परवर्ती सोपानों से ही संभव होता है। मन के भीतर जो महीन गाँठें घर बना लेती हैं, उनकी घातकता को भी समझना चाहिये और प्रतिक्रमण की प्रक्रिया द्वारा उन्हें जड़मूल से नष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिये। मन-की-मकड़ी जो जाला बुनती है, वह जहाँ एक ओर भयानक और सर्व-भक्षी होता है, वहीं दूसरी ओर वह इतना जटिल / सुदृढ़ होता है कि उसे तोड़ना संभव ही नहीं होता है।

यह नहीं है कि जो व्यक्ति क्रमशः श्रमण हुआ है, या जो श्रावक-से-श्रमण होने की दिशा में क़दम उठाये हुए है इस व्यूहचक्र से शत-प्रतिशत बाहर आ गया है, वस्तुतः यह जाला इतना अद्भुत है कि कई बार तो यह ठीक-से दिखायी ही नहीं देता है, और होता है; कई बार दिखायी एक ही देता है, किन्तु इस एक के भीतर वह नाना जालों-का-समूह होता है। असल में यह जिस रूप में दिखायी देता है, उससे काफी अधिक प्रहारक और घातक होता है। दूसरी ओर जब हम इसकी घातकता से वाकिफ होने लगते हैं, तब हम जान पाते हैं कि इस जाल-समूह की ताक़त से हमारी ताक़त कई गुना बड़ी और अपराजिता है। यदि हम अपनी इस अपराजिता शक्ति को उघाड़ना शुरू कर सकें तो हमारी चेतना पर छाये / बिछे सारे जाले अस्तित्व-शेष हो सकते हैं। मुग़ालता किन्तु यह है कि हम ताक़त में कम हैं और जो जाला है वह अधिक जटिल / शक्तिशाली है। इस ग़लत-फहमी को यों हटाया जा सकता है कि हम अपने बल-वैभव को जानें (मात्र जानें ही नहीं अपितु उसे उत्तरोत्तर उघाड़ते जाएँ) ताकि जाले लगातार टूट जाएँ और हमारी असली सत्ता प्रकट / स्थापित होती जाए।

सवाल नये संदर्भों का भी है। उठ सकता है प्रश्न कि प्रतिक्रमण पर जो बहस की जा रही है, वह बहुत पुरानी है अतः उसे नये सिरे से परिष्कृत और समायोजित किया जाना चाहिये। इसे पलट कर यों भी कहा जा सकता है कि आज हम इतने अधिक आधुनिक हो गये हैं कि अब हमें किंचित् पुराना हो चलना चाहिये। इन दो बिन्दुओं के बीच कोई राह तो हमें निकाल ही लेनी होगी; किन्तु इतना अवश्य जान लेना होगा कि आध्यात्मिक मूल्य इतने शाश्वत होते हैं

(शेष आवरण-पृष्ठ ३ पर)

तस्स मिच्छा मे दुक्कडं

विगत अंक में हमने कुछ वायदे किये थे जिनमें से एक को छोड़ कर
शेष हम इस अंक में पूरे कर रहे हैं,
जो बाकी बचा है
उसे हम अगले साल कभी पूरा करेंगे।
हम चाहते थे कि प्रतिक्रमण-की-कन्नड़-प्रति का हिन्दी–अनुवाद
प्रकाश में लायें, किन्तु समयाभाव/अर्थाभाव के कारण वैसा संभव नहीं
हो सका है; यदि संभव हुआ, जैसा कि हम प्रयत्नशील हैं, तो हम इसे
'श्रावकाचार विशेषांक' (२२ अप्रैल १९८५) में देने का प्रयत्न करेंगे।

प्रतिक्रमण-की-प्रक्रिया एक ऐसी मनोज्ञ/कसी हुई प्रक्रिया है जिसे ले कर कहीं
कोई अन्तर्विरोध, या मतभेद शायद संभव नहीं है। यह मन को निष्कण्टक / विशुद्ध करने
की एक ऐसी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जो किसी साधक, या किसी ऐसे व्यक्ति
को जो साधना-की-डगर पर अपने पाँव जमाये हुए है, या जमाने के प्रयत्न में है
ठोस ज़मीन प्रदान करती है।

हम दोष करते हैं / हमसे भूलें होती हैं। हम विफल होते हैं, किन्तु चूंकि हम
मनुष्य हैं इसलिए हताश कभी नहीं होते;
इसीलिए
हम जो करना चाहते थे, किन्तु किन्हीं कारणों से हम जिसे शतप्रतिशत कर नहीं
पाये उसकी सारी अड़चनों / व्यवधानों / स्खलनों का हम
भलीभाँति पर्यवलोकन/पुनरीक्षण करते हैं, उसे उसकी परिपूर्ण परिदृश्यता में अन्तःकरण के
तेज प्रकाश में देखते हैं,
देख कर उसे मिथ्या / प्रभावहीन करते हैं, और आगे
की राह खोलते हैं; शायद खोलते नहीं हैं वे स्वयं खुल जाती हैं।

दिवसान्त हो, या निशान्त, या दोनों; हम अपने विचलनों / प्रमादों को
कूट-परीक्षण (क्रॉस एक्ज़ेमिनेशन) के लिए कठघरे में खड़ा करते हैं; और इस तरह कुछ
उन्हें बिदा करते हैं कि वे दुबारा न लौटें; किन्तु कुछ ज़िद्दी / निर्लज्ज दोष फिर-फिर
आ जाते हैं, जिन्हें हम सप्ताहान्त में, पक्षान्त में, चातुर्मासान्त में, या वर्षान्त में फिर-फिर
निकालने का प्रयत्न करते हैं। इस बीच, या समानान्तर कुछ नये अपराध-अतिथि हमारा
द्वार खटखटाते हैं, जिन्हें हम इस प्रक्रिया में कड़ी चेतावनी देते हैं और अपने
क़दम पूरी गति से
आत्मोन्नयन की दिशा में बढ़ा देते हैं।

हम नहीं सोच पा रहे हैं कि प्रतिक्रमण
की इस वैज्ञानिक प्रक्रिया में कोई संप्रदाय / गच्छ / या / पंथ कैसे आड़े आता है, या आ
सकता है; वस्तुतः आड़े अक्सर आता है हमारा पूर्वग्रह, जिसे हम आज तक ठीक से
जीत नहीं पाये हैं।
सही है कि जैनधर्म एक प्राचीनतम धर्म है, अतः उसकी साधना-प्रक्रियाओं को कई-कई

युगयुगान्तरों / परिवर्तनों / टकराहटों में से गुजरना पड़ा है
इन तमाम सम-विषम परिस्थितियों ने उन्हें माँजा हैं; किन्तु एक तथ्य अद्भुत
यह है कि उसके भीतर बैठी धड़कन सदैव एक-जैसी बनी रही है; परिधान बदले
हैं, किन्तु व्यक्ति नहीं बदला है; शैलीगत परिवर्तन हुआ है, किन्तु वस्तुगत परिवर्तन
कभी नहीं हुआ। प्रतिक्रमण-पाठ (पाटी) के नाना संस्करण हुए किन्तु उसकी प्राणधारा
अक्षत बनी रही; वह यह कि साधक-का-परिमार्जन हो और वह एक स्वस्तिकर
आगामी कल के लिए कमर कसे। इतिहास की इस ज़मीन पर खड़े हो कर ही
हमें प्रतिक्रमण-के-स्वरूप / उसकी प्रक्रिया पर पूर्वग्रहमुक्त विचार करना चाहिये।

यहाँ हम तीन प्रतिक्रमण दे रहे हैं : श्रमण, क्षुल्लक*, श्रावक।
यह नहीं कह रहे हैं कि कौन प्रतिक्रमण किस संप्रदाय का है, किन्तु कह रहे हैं
कि तीनों का रंग एक है और तीनों क्रमशः साधक को अधिक बेहतर बनाने के
लिए कटिबद्ध हैं। वस्तुतः इन सबमें ऐसा कहीं / कुछ नहीं है जो अप्रासंगिक / व्यर्थ
हो, बल्कि वह सब है जो आज के जैनाचार को अधिक प्रखर / तेजोमय बना सकता है।
अनुवाद की संधियों में-से हमें इस सत्य को अवश्य जान लेना चाहिये। हम गिरे कितने,
हम उठ किस तरह सकते हैं — प्रतिक्रमण-की-स्केल तथा प्रक्रिया से हम इसकी नापजोख
भलीभाँति कर सकते हैं;
और इस तरह हम न्यूट्रेलाइज़ेशन की प्रक्रिया द्वारा अपनी मौलिकता-रेखा पर प्रतिगमन
कर सकते हैं।

हम उन सारे लोगों से जो आत्मोन्नयन में आस्था रखते हैं,
निवेदन करेंगे कि वे इस प्रक्रिया को पुनरुज्जीवित करें, इसमें नयी
जान डालें और हिंसा / कृत्रिमता / तनाव / मृगतृष्णा के इस जमाने में दुनिया को
मकड़जाल से बाहर आने का संदेश दें।
बतायें उन्हें कि हमारे पास वह सब है, जिसे हम तो अपने जीवन में व्यक्त / सम्मिलित
नहीं कर पा रहे हैं, किन्तु जो उपयोगी है और संपूर्ण लोकजीवन / व्यक्ति-जीवन को
एक स्वस्थ / स्वस्तिपरक ऊँचाई दे सकता है।

हो सकता है कुछ लोग सोच बैठें कि प्रस्तुत प्रतिक्रमण-पाठों से बेहतर / अधिक कसे हुए
पाठ और-और हो सकते हैं, तो ऐसे में उन्हें अपने मंगलनिष्ठ / रचनापरक प्रस्तावों के
साथ आगे आना चाहिये ताकि इस मामले में हम सर्वसम्मत हो सकें और मिलजुल कर
सामाजिक / आध्यात्मिक नये क्षितिज उघाड़ सकें।

मन को निर्ग्रन्थ करने / उसकी गहराइयों में प्रवास करने / समाज तथा निज को परिशुद्ध
करने का संभवतः प्रतिक्रमण से बड़ा और क्रान्तिकारी औज़ार आज हमारे पास नहीं है, अतः
हमें सारे मतभेद / वादविवाद भुला कर इस दिशा में अपने क़दम तेज़ करने चाहिये,
व्यक्ति-शुद्धि की इस महान् प्रक्रिया को लोकतल पर अधिकाधिक प्रचारित करना चाहिये।

हमें विश्वास है 'तीर्थंकर' की यह पहल कोई निश्चित आधार-भूमि
घड़ने में सफल हो सकेगी।

—संपादक।

---

* दिगम्बर श्रमणाचार की एक मध्यवर्तिनी कड़ी।

श्रमण-प्रतिक्रमण

इरियावहिय आलोयणा–

इच्छामि भंते ! इरियावहियं आलोचेदुं पुव्वुत्तरदक्खिणपच्छिम चउदिसु, विदिसासु विहरमाणेण जुगंतर दिट्ठिणा भव्वे ण दट्ठवा । पमाद दोसेण दवदव चरियाए पाण-भूद-जीव-सत्ताणं एदेसिं उवघादो कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा, समणुमणिदो वा तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥१॥

इच्छामि भंते ! अट्ठमियमालोचेदुं अट्ठण्हं दिवसाणं अट्ठण्हं राईणं अब्भंतरादो पंचविहो आयारो - णाणायारो दंसणायारो तवायारो वीरियायारो चरित्तायारो चेदि ॥१॥

इच्छामि भंते ! पक्खियमालोचेदुं पण्णदसण्हं दिवसाणं पण्णदसण्हं राईणं अब्भंतरादो पंचविहो आयारो-णाणायारो दंशणायारो तवायारो वीरियायारो चरित्तायारो चेदि ॥२॥

इच्छामि भंते ! चदुम्मासियमालोचेदुं चउण्हं मासाणं अट्ठण्हं पक्खाणं वीसुत्तरसददिवसाणं वीसुत्तरसदराईणं अब्भंतरादो पंचविहो आयारो णाणायारो दंसणायारो तवायारो वीरियायारो चरित्तायारो चेदि ॥३॥

इच्छामि भंते ! संवच्छरियमालोचेदुं वारसण्हं मासाणं [illegible] पक्खाणं तिण्हं छावट्ठिसयदिवसाणं तिण्हं छावट्ठिसयराईणं [illegible] पंचविहो आयारो णाणायारो दंसणायारो तवायारो [illegible] चरित्तायारो चेदि ॥४॥

तत्थ णाणायारो अट्ठविहो - काले, विणए, [illegible], तहेव अणिण्हवणे विंजण-अत्थ-तदुभये चेदि तत्थ [illegible] अट्ठविहो परिहाविदो । से अक्खरहीणं वा, सरहीणं वा, [illegible] वा, अत्थहीणं वा, गंधहीणं वा, थएसु वा, थुदीसु [illegible]

---

† ये पाठ विशेष-विशेष पर्वतिथि पर ही [illegible] मासिक और सांवत्सरिक आलोचना के प्राचीन [illegible] हैं। जिस पर्व पर आलोचना करनी हो, उस पर्व [illegible] इनमें से केवल तत्संबंधी पाठ ही पढ़कर [illegible] अष्टमी को बोलना चाहिये।

अणुओगेसु वा, अणुओगदारेसु वा, अकाले सज्झाओ कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा समणुमणिदो, काले वा परिहाविदो, अत्थाकारिदं, मिच्छामेलिदं, आमेलिदं वामेलिदं, अण्णहादिण्णं अण्णहापडिच्छिदं, आवासएसु परिहीणदाए, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।।

दंसणायारो अट्ठविहो – 'णिस्संकिय, णिक्कंखिय, णिव्विदिगिंछो, अमूढदिट्ठी य, उवगूहणं, ठिदिकरणं बच्छल्लं, पहावणा चेदि । दंसणायारो अट्ठविहो परिहाविदो – संकाए, कंखाए, विदिगिच्छाए, अण्णदिट्ठिपसंसणाए, परपासंडपसंसणाए, अणायदणसेवणाए, अवच्छल्लदाए, अप्पहावणदाए, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।।

तवायारो वारसविहो – अब्भंतरो छव्विहो, वाहिरो छव्विहो चेदि । तत्थ वाहिरो अणसणं ओमोदरियं वित्तिपरिसंखा रसपरिच्चाओ सरीर-परिच्चाओ विवित्तसयणासणं चेदि । तत्थ अब्भंतरो पायच्छित्तं विणओ वेज्जावच्चं सज्झाओ झाणं विउस्सग्गो चेदि । अब्भंतरं बाहिरं वारसविहं तवोकम्मं ण कदं णिसण्णेण पडिक्कंतं, तस्स मिझ्च्छा मे दुक्कडं ।।

वीरियायारो पंचविहो परिहाविदो – वरवीरियपरक्कमेण, जहुत्त-माणेण, बलेण, बीरिएण, परक्कमेण णिगूहियं तवोकम्मं ण कदं णिसण्णेण पडिक्कंतं, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।।

चरित्तायारो तेरसविहो परिहाविदो – पंच महव्वदाणि, पंच समिदीओ तिगुत्तीओ चेदि । तत्थ पढमे महव्वदे, पाणादिवादादो विरमणं, से पुढविकाइया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा, अपकाइया[1] जीवा असंखेज्जा-संखेज्जा, तेऊकाइया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा, वाऊकाइया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा, वणप्फदिकाइया जीवा अणंताणंता - हरिदा वीया अंकुरा छिण्णा भिण्णा तेसिं उद्दावणं परिदावणं विराहणं उवघादो कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा समणुमणिदो, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।।

बेइंदिया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा कुक्खि-किमि-संख-खुल्लय-वराडय-अक्खरिट्ठ-गंडवाल-संवुक्क-सिप्पि-पुलवि आइया तेसिं उद्दावणं परिदावणं विराहणं उवघादो कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा समणु-मणिदो, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।।

---

१. 'अपकाइए वा ।'–प्रतिक्रमण–ग्रंथत्रयी, पृ.१०३

तेइंदिया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा-कुंथुद्देहिय-विछिय[1] गोंभिदगोव[2] जूग-मक्कुण-पिपीलियाइया, तेंसि, उद्दावणं परिदावणं विराहणं उवघादो कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा समणुमणिदो, तस्स मिच्छामे दुक्कणं ।।

चउरिंदिया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा दंस-मसय-मक्खिय-पयंग-कीड-भमर-महुयर-गोमक्खियाइया, तेंसि उद्दावणं परिदावणं विराहणं उवघादो कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा समणुमणिदो, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।।

पंचिंदिया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा अंडाइया पोदाइया जराइया रसाइया संसेदिमे सम्मुच्छिमे उब्भेदिमे उववादिमे अवि चउरासीदि जोणिपमुहसदसहस्सेसु एदेसिं उद्दावणं परिदावणं विराहणं उवघादो कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा समणुमणिदो, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।।

अहावरे विदिए महव्वदे मुसावादादो वेरमणं से कोहेण वा माणेण वा मायाए वा लोहेण वा राएण वा दोसेण वा मोहेण वा हस्सेण वा भएण वा पदोसेण वा पमादेण वा पेम्मेण वा पिवासेण वा लज्जेण वा गारवेण वा अणादरेण वा केणवि कारणेण जादेण वा सव्वो मुसाविदो भासिदो भासाविदो भासिज्जंतो वि समणुमणिदो, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।।

अहावरे तिदिए महव्वदे अदिण्णदाणादो वेरमणं से गामे वा णयरे वा खेडे वा कव्वडे वा मडंवे वा पट्टणे वा दोणमुहे वा घोसे वा आसमे वा सहाए वा संवाहे वा सण्णिवेसे वा तिणं वा कट्टं वा वियडिं वा मणिं वा एवमादियं अदत्तं गिण्हिदं गेॅण्हाविदं गेॅण्हिज्जंतं वा समणु-मणिदो, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।।

अहावरे चउत्थे महव्वदे मेहुणादो, वेरमणं से देविएसु वा माणुसिएसु वा तिरिक्खिएसु वा अचेदणिएसु वा मणुण्णामणुण्णेसु सद्देसु मणुण्णामणुण्णेसु रूवेसु[4], मणुण्णामणुण्णेसु गंधेसु, मणुण्णामणुण्णेसु रसेसु, मणुण्णामणुण्णेसु फासेसु, सोदिं[5]दियपरिणामे, चक्खिंदिय परिणामे, घाणि-

---

१. गोंभिदगोव–गोंभि, इन्द्रगोप। गोंभि=कानखजूरा। इन्द्रगोप=बीरबहूटी। उद्देहिय-दीमक-पा.-स.म., पृष्ठ१६१

२. विछिय - विच्छू। पंचास्तिकाय ११५ और तत्त्वार्थ [illegible] में भी विच्छू को तेइन्द्रिय त्रीन्द्रिय बताया है।

३. श्रमणाओं को यह पाठ इस प्रकार पढ़ना चाहिए–देवेसु वा माणुसेसु वा तिरि-क्खेसु वा अचेदणेसु वा · · ·

४. अन्य प्रतियों में रूवेसु पहले दिया है [illegible] (दुच्चे-द्वितीय–पा.स.म., पृष्ठ ४६८ [illegible]

५. अन्य प्रतियों में चक्खिंदिय पहले दिया है. [illegible]

दिया परिणामे, जिब्भिदिय परिणामे, फासिंदिय परिणामे, णोइंदिय परिणामे, अगुत्तेण, अगुत्तिदिएण णवविहं बंभचरियं ण रक्खिदं, ण रक्खाविदं, ण रक्खिज्जंतं बि समणुमणिदं, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।।

अहावरे पंचमे महव्वदे परिग्गहादो वेरमणं सो वि परिग्गहो दुविहो अब्भंतरो बाहिरो चेदि । तत्थ अब्भंतरो परिग्गहो-णाणावरणीयं, दंसणावरणीयं, वेदणीयं, मोहणीयं, आउगं, णामं, गोदं, अंतरायं चेदि । अट्ठविहो तत्थ वाहिरो परिग्गहो – उवयरण, भंड, फलह, पीढ, कमण्डलु, संथार, सेज्जा, उवसेज्जा, भत्त-पाणादि भेएण अणेयविहो एदेण परिग्गहेण अट्ठविहं कम्मरयं वद्धं, वद्धाविदं, वज्झंतं वि समणुमणिदो, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।।

अहावरे छट्ठे अणुव्वदे राइभोयणादो वेरमणं से असणं पाणं खादियं सादियं चेदि चउव्विहो आहारो, से तित्तो वा, कडुओ वा, कसाओ वा, अंबितो वा, महुरो वा, लवणो वा, अलवणो[1] वा, दुच्चिंतिदो, दुब्भासिदो, दुप्परिणामिदो, दुस्सुमिणिदो, रत्तीए भुत्तो, भुंजाविदो, भुंजिज्जंतो वा समणुमणिदो, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।।

पंचसमिदीओ–इरियासमिदी, भाषासमिदी, एसणासमिदी, आदाण-णिक्खेवणसमिदी, उच्चार, पस्सवणखेलसिंहाणयवियडिपइट्ठावणासमिदी चेदि । तत्थ इरियासमिदी पुव्वेत्तरदक्खिणपच्छिम चउदिसु विदिसासु विहरमाणेण जुगंतरदिट्ठिणा भव्वे ण दट्ठव्वा दवदव[2]चरियाए पमाद दोसेण पाण-भूद-जीव-सत्ताणं एदेसिं उवघादो कदो वा कारिदो वा, कीरंतो वा समणुमणिदो, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।।

तत्थ भासासमिदी कक्कसा कडुया परूसा णिट्ठुरा परकोविणी-मज्झंकसा अदिमाणिणी अणयंकरा छेदंकरा भूयाणवहंकरा चेदि दसविहा भासा भासिदा भासाविदा भासिज्जंतो वि समणुमणिदो, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।

तत्थ एसणासमिदी आहाकम्मेण वा पच्छाकम्मेण वा पुराकम्मेण वा उद्दिट्ठयदेण वा णिद्दिट्ठयदेण वा कीदयदेण वा साइया रसाइया सइंगाला सधूमिया अदिगिद्धीए अग्गीव छण्हं जीवणिकायाणं विराहण

१. नया मन्दिर धर्मपुरा, दिल्ली की प्रति, पृ. १२५ में यह पाठ है।
२. दवदव=शीघ्र, जल्दी; पा.म.म., पृ. ४५७.

काढूण अपरिसुद्धं भिक्खं अण्णं पाणं अहारादियं आहारिदं आहाराविदं आहारिज्जंतं पि समणुमणिदो, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥

तत्थ आदवणणिक्खेवणसमिदी चक्कलं वा फलहं वा पोत्थयं वा कमण्डलुं वा[1] वियडिं वा मणिं वा एवमादियं उवयरणं अप्पडिलेहिदूण गिण्हंत्तेण वा ठवंतेण वा पाण-भूद-जीव-सत्ताणं उवघादो कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा समणमणिदो, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥

तत्थ उच्चार-पस्सवण-खेल-सिंहाणय-बियडि-पदिट्ठावणिया समिदी रत्तीए वा वियाले वा अचक्खुविसए अत्थंडिले अब्भावयासे सणिद्धे सवीए सहरिए एवंविहेसु अप्पासुयट्ठाणेसु पदिट्ठावंतेण पाण-भूद-जीव-सत्ताणं उवघादो कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा समणुमणिदो, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥

तिण्णि[2] गुत्तीओ मणगुत्ति वचिगुत्ति कायगुत्ति चेदि । तत्थ मणगुत्ति-अट्टे झाणे रुद्दे झाणे इहलोयसण्णाए, परलोय सण्णाए आहारसण्णाए मेहुणसण्णाए परिग्गहसण्णाए एवं विहासु जा मणगुत्ति ण रक्खिदा, ण रक्खाविदा, ण रक्खिज्जंतं पि समणुयणिदो, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥

तत्थ वचिगुत्ति – इत्थिकहाए, अत्थकहाए, भत्तकहाए, रायकहाए, चोरकहाए, वेरकहाए, परपासंड कहाए एवं विहासु जा वचिगुत्ति ण रक्खिदा, ण रक्खाविदा, ण रक्खिज्जंतं पि समणुमणिदो, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥

तत्थ कायगुत्ति - चित्तकम्मेसु वा, पोत्तकम्मेसु वा, कट्ठकम्मेसु वा, लेप्पकम्मेसु वा, लेहणकम्मेसु वा एवं विहासु जा कायगुत्ति ण रक्खिदा, ण रक्खाविदा, ण रक्खिज्जंतं पि समणुमणिदो, तस्स मिच्छा मे दुकक्डं ॥

एक्के भावे, दोसु अट्टरूद्दसंकिलेसपरिणामेसु, तिसु अप्पसत्थ-संकिलेस परिणामेसु - मिच्छ णाण, मिच्छ दंसण, मिच्छ चरित्तेसु, चउसु उवसग्गेसु, पंचसु चरित्तेसु, छसु जीवणिकायेसु, छसु आवासएसु, सत्तसु भयेसु, अट्ठसु सुद्धीसु, णवसु वंभचेर गुत्तीसु, दसेसु समणधम्मेसु, दससु धम्मज्झाणेसु, दससु मुंडेसु, वारसेसु संजमेसु, वावीसाए परीसहेसु,

---

१ 'वियडितणकट्ठचालण, ठाणंतरसंकमे विउस्सग्गो।' –प्रायश्चित्त संग्रह; छेद-पिण्ड, १०१

२. 'तिण्णि' – यह रूप सभी प्राकृत बोलियों में आता है—पिशल, पृ. ६४९.

पणवीएसाए भावणासु, पणवीसाए किरियासु, अट्ठारससील-सहस्सेसु, चउरासीदि गुणसदसहस्सेसु, मूलगुणेसु, उत्तरगुणेसु, अट्ठमियं (एस एव पाढोपक्खियं, चउम्मासियं, संवच्छरियं वि) आदिक्कमो, वदिक्कमो, अदिचारो, अणाचारो, आभोगो, अणाभोगो, जो तं पडिक्कमामि, पडिक्कंतं तस्स मे सम्मत्तमरणं, समाहिमरणं, पंडियमरणं, वीरियमरणं, दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो सुगदिगमणं जिणगुणसंपत्ती होदु मज्झं ।।

क्षुल्लक-प्रतिक्रमण

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं,
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं ।।

णमो जिणाणं, णमो जिणाणं, णमो जिणाणं, णमो णिस्सहीए, णमो णिस्सहीए, णमो णिस्सहीए, णमोत्थु दे, णमोत्थु दे, णमोत्थु दे, अरहंत ! सिद्ध ! बुद्ध ! णीरय ! णिम्मल ! सममण ! सुभमण ! सुसमत्थ ! समजोग ! समभाव ! सल्लघट्टाणं ! णिब्भय ! णीराय ! णिद्दोस ! णिम्मोह ! णिम्मम ! णिस्संग ! णिस्सल्ल ! माणमाया-मोसमूरण ! तवप्पहावण ! गुणरयण ! सीलसायर ! अणंत ! अप्पमेय ! महदि-महावीर-वड्ढमाण ! बुद्धिरिसिणो चेदि णमोत्थु दे, णमोत्थु दे, णमोत्थु दे ।।१।।

मम मंगलं अरहंता य, सिद्धा य, बुद्धा य, जिणा य, केवलिणो, ओहिणाणिणो, मणपज्जयणाणिणो, चउदसपुव्वगामिणो, सुदसमिदिसमिद्धा य, तवो य बारसविहो तवस्सी, गुणा य, गुणवंतो य, महारिसी, तित्थं तित्थंकरा य, पवयणं पवयणी व, णाणं णाणी य, दंसणं दंसणी य, संजमो संजदा य, विणओ विणीदा य, बंभचेरवासो बंभचारीय, गुत्तीओ चेव गुत्तिमंतो य, मुत्तीओ चेव मुत्तिमंतो य, समिदीओ चेव समिदिमंतो य, ससमय-परसमयविदो, खंति खवगा य, खीणमोहा य खीणवंतो य, बोहिय-बुद्धा य बुद्धिमंतो य चेइयरूक्खा य, चेइयाणि य ।।२।।

उड्ढमहतिरियलोए सिद्धायदणाणि णमंसामि सिद्धणिसीहियाओ अट्ठावयपव्वदे सम्मेदे उज्जंते चंपाए पावाए मज्झिमाए हत्थिवालियसहाए जा ओ अण्णाओ का वि णिसीहियाओ जीवलोयम्मि ईसिपब्भारतल गदाणं सिद्धाणं बुद्धाणं कम्मचक्कमुक्काणं णीरयाणं णिम्मलाणं गुरु,-

आइरिअ उवज्झायाणं पवत्तित्थेरकुलयराणं चाऊवण्णा य समणसंघा य भरहेरावदेसु दससु पंचसु महाविदेहेसु, जे लोए संति साहवो संजदा तवसी, एदे मम मंगलं पवित्तं करेमि, भावदो विसुद्धो सिरसा अहिवंदिदूण सिद्धे कादूण अंजलिं मत्थयम्मि पडिलेहिय अट्ठकम्मरिओ तिविहं तियरण-सुद्धो ।।३।।

पडिक्कमामि भंते ! दंसणपडिमाए संकाए कंखाए विदिगिंच्छाए परपासंडीण पसंसाए पसंथुए जो मए देवसिओ राइओ अदिचारो मणसा वचसा काएण कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा समणुमणिदो, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।।१।।

पडिक्कमामि भंते ! वदपदिमाए पढमे थुलव्वदे हिंसाविरदिवदे वहेण वा, बंधेण वा, छेदेण वा, अदिभारारोहणेण वा, अण्णपाणणि-रोहणेण वा, जो मए देवसिओ राइओ अदिचारो मणसा वचसा काएण कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा समणुमणिदो, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।।२-१।।

पडिक्कमामि भंते ! वदपडिमाए विदिए थूलव्वदे असच्च विर-दिवदे मिच्छोवदेसेण वा, रहो अब्भक्खाणेण वा, कूडलेहणकरणेण वा, णासापहारेण वा, सायारमंत्तभेदेण वा, जो मए देवसिओ राइओ अदिचारो मणसा, वचसा, काएण, कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा समणुमणिदो, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।।२-२।।

पडिक्कमामि भंते ! वदपडिमाए तिदिए थूलव्वदे थेणविरदिवदे थेणपओगेण वा, थेणहरिदादाणेण वा, विरुद्धरज्जादिक्कमणेण वा, हीणा-हिय माणुम्माणेण वा, पडिरूवयववहारेण वा, जो मए देवसिओ राइओ अदिचारो मणसा, वचसा, काएण, कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा समणुमणिदो, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।।२-३।।

पडिक्कमामि भंते ! वदपडिमाए चउत्थे थूलव्वदे अबंभविरदिवदे परविवाहकरणेण वा, इत्तरिया गमणेण वा, परिग्गहिदा अपरिग्गहिदा गमणेण वा, अणंगकीडणेण वा, कामतिव्वाभिणिवेसेण वा, जो मए देवसिओ राइओ अदिचारो मणसा वचसा काएण, कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा समणुमणिदो, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।।२-४।।

कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा समणुमणिदो, तस्स मिच्छा म दुक्कडं ।।६।।

पडिक्कमामि भंते ! बंभपडिमाए इत्थिकहायत्तणेण वा, इत्थि-मणोहररंगणिरक्खणेण वा, पुव्वरदाणसमरणेण वा, कामकोवणरसा सेवणेण वा, सरीरमंडणेण वा, जो मए देवसिओ राइओ अदिचारो अणाचारो मणसा वचसा काएण, कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा समणुमणिदो, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।।७।।

पडिक्कमामि भंते ! आरंभविरदिपडिमाए कसायवसंगदेण जो मए देवसिओ राइओ आरंभो मणसा वचसा काएण, कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा समणुमणिदो, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।।८।।

पडिक्कमामि भंते ! परिग्गहविरदिपडिमाए वत्थ मेत्तपरिग्गहादो अवरम्भि परिग्गहे मुच्छा परिणामे मए देवसिओ राइओ अदिचारो अणाचारो, कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा समणुमणिदो, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।।९।।

पडिक्कमामि भंते ! अणुमदिविरदिपडिमाए मए जं किं पि अणुमण्णं पुट्ठापुठ्टेण कदं वा, कारिदं वा, कीरंतो वा समणुमणिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।।१०।।

पडिक्कमामि भंते ! उद्दिट्ठविरदि पडिमाए उद्दिट्ठदोसबहुलं अहोरदियं आहारयं आहारविदं, आहारिज्जंतं वा, समणुमणिदो, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।।११।।

इच्छामि भंते ! वीरभत्तिकाउस्सग्गं करेमि, जो मए देवसिओ राइओ अदिचारो अणाचारो अभोगो अणाभोगो काइओ वाइओ माणसिओ दुच्चरिओ दुच्चारिओ दुव्भासिओ दुप्परिणामिओ णाणे दंसणे चरित्ते सुत्ते सामाइये एयारसण्हं पडिमाणं विराहणाए अट्ठविहस्स कम्मस्स णिग्घादणाए अण्णहा उस्सासिदेण णिस्सासिदेण वा, उम्मिस्सिदेण णिम्मिस्सिदेण खासिदेण वा, छिंकिदेण वा, जंभाइदेण वा, सुहुमेहिं अंगचलाचलेहिं, दिट्ठि चलाचलेहिं, एदेहिं सव्वेहिं असमाहिं पत्तेहिं आयारेहिं जाव अरहंताणं भयवंताणं पज्जुवासं करेमि, ताव कायं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि । □□

श्रमण-प्रतिक्रमण

हिन्दी-अनुवाद

ईर्यापथिक आलोचना

भगवन्! मैं ईर्यापथ-सम्बन्धी विचलनों/स्खलनाओं की निन्दा-गर्हारूप आलोचना की इच्छा करता हूँ। पूर्व, उत्तर, पश्चिम, दक्षिण/चतुर्दिक्; ईशान, नैऋत्य, आग्नेय, वायव्य/चार विदिशाओं में गमनागमन करते मुझ भव्य द्वारा चार हाथ आगे की भूमि न देखी गयी हो, प्रमाद से जल्दी-जल्दी उद्ग्रीव चला गया हो अथवा इधर-उधर गमनागमन में विकलेन्द्रिय प्राणों, वनस्पतिकायिक भूतों, पंचेन्द्रिय जीवों; तथा पृथ्वी, जल, अग्निकायिक सत्त्वों का उपघात हुआ हो, मुझसे कराया गया हो, या इस क्षण किया जाता (क्रियमाण) हो या ऐसा किये जाने को मैंने अच्छा माना हो तो मेरा तत्संबंधी दुष्कृत (सर्वथा) निष्फल/निष्प्रभावी हो।

भन्ते! मैं आष्टाह्निक (साप्ताहिक)* आलोचना करने की इच्छा करता हूँ। आठ दिन/आठ रात/अन्तर्वर्ती समय-संधियों में मुझसे पाँच प्रकार के आचार—ज्ञानाचार, दर्शनाचार, तपाचार, वीर्याचार, चारित्राचार—को सम्पन्न करने में जो विचलन हुए हैं, मैं उनके पर्यवलोकन (रिट्रोस्पेक्शन/न्यूट्रेलाइज़ेशन/रिव्यू) की इच्छा करता हूँ।

भगवन्त! मैं पाक्षिक पर्यवलोकन की इच्छा करता हूँ। पन्द्रह दिन/पन्द्रह रात/इनकी अन्तर्वर्ती काल-संधियों में मुझसे पाँच प्रकार के आचार—ज्ञानाचार, दर्शनाचार, तपाचार, वीर्याचार, चारित्राचार—में जो भी स्खलन/शैथिल्य/प्रमाद हुए हों तत्सम्बन्धी आलोचना/अन्तःसमीक्षण की इच्छा करता हूँ।

भगवन्! मैं चातुर्मासिक आलोचना की इच्छा करता हूँ। चार मास/आठ पक्ष/एक सौ वीस दिन/एक सौ वीस रात/इनकी अन्तःस्थित समय-संधियों में मुझसे पंचविध आचार—ज्ञानाचार, दर्शनाचार, तपाचार, वीर्याचार, चारित्राचार—सम्पन्न करने में जो भी उल्लंघन/मालिन्य/चूकें हुई हों मैं तत्सम्बन्धी आलोचना की इच्छा करता हूँ।

भन्ते! मैं सांवत्सरिक (वार्षिक) आलोचना की इच्छा करता हूँ। बारह मास/चौबीस पक्ष/तीन सौ छियासठ दिन/तीन सौ छियासठ रात/इनकी अन्तर्वर्ती काल-संधियों में मुझसे पंचविध आचार—ज्ञानाचार, दर्शनाचार, तपाचार, वीर्याचार, चारित्राचार—के परिपालन में जो भी प्रमाद/विचलन हुए हों मैं तत्सम्बन्धी आलोचना की इच्छा करता हूँ।

---

* आष्टाह्निक, पाक्षिक, चातुर्मासिक जिस की प्रतिक्रमण का प्रसंग हो वही करें, शेष छोड़ दें।

इसके बाद पाँचवाँ महाव्रत परिग्रहविरमण व्रत (अपरिग्रह) है। यह द्विविध है : भीतर का, बाहर का। भीतर का है : ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अन्तराय कर्म; बाहर का है : उपकरण, बर्तन, आसन/पीढ़ा, कमण्डलु, संथार, शैया, उपशैया, भक्त-पान इत्यादि। यह नानाविध है। इन परिग्रहों से यदि अष्टकर्मरत मैं बँधा होऊँ, बँधने के लिए प्रेरित किया हो, इस क्षण बँध रहा होऊँ या इनके बँधते जाने को मैंने अच्छा माना हो तो मेरा तत्सम्बन्धी विचलन/दुष्कृत निष्प्रभावी हो।

इसके बाद छठा अणुव्रत रात्रिभोजनविरमण (निशिभोजनत्याग) है। अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य के रूप में यह चतुर्विध है। यह तिक्त/तीखा, कड़ुवा, कसैला, खट्टा, मीठा, नमकीन, फीका आदि है। यदि मैंने इनके सम्बन्ध में दुश्चिन्ता की हो, दुःशब्द कहे हों, अपने परिणाम विकृत किये हों, अच्छे-बुरे ढंग से इन्हें छिन्न-भिन्न किया हो, रात में खाया हो, खिलाया हो, खाया जाता हो, या इस तरह खाये जाने को अच्छा माना हो तो मेरा वह दुष्कृत निष्फल हो।

पाँच समितियाँ हैं : ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण, उच्चार-प्रस्रवण-खेलसिंघाण-विकृतिप्रस्थापनिका समिति। ईर्या समिति में पूर्व, उत्तर, दक्षिण, पश्चिम/चतुर्दिक्; ईशान, नैऋत्य, वायव्य, आग्नेय/चार विदिशाओं में मुझ भव्य से विहार करते समय चार हाथ आगे की ज़मीन न देख पाने, जल्दी-जल्दी उद्ग्रीव चलने में प्रमाद से प्राण, भूत, जीव, सत्त्व का उपघात हो, उपघात प्रेरित हो या क्रियमाण हो या इस तरह के उपघात की अनुमोदना हुई हो तो तत्सम्बन्धी मेरा वह दुष्कृत प्रभावहीन हो!

तदनन्तर भाषा समिति है। भाषा के दस भेद हैं : कर्कशा, कटु, परुषा, निष्ठुरा, परकोपिनी, मध्यकृशा, अतिमानिनी, अनयंकरा, छेदंकरा, भूतहिंसाकरा। इनमें से मैंने किसी का भी प्रयोग किया हो, कराया हो, किया जाता हो या किये जाते को अच्छा माना हो तो मेरा वह दुष्कृत मिथ्या/बेअसर हो।

इसके बाद एषणा समिति है। इसमें आधाकर्म से, पश्चात् कर्म से, पुराकर्म से, उद्दिष्ट, निर्दिष्ट, क्रीतकर्म से, स्वाद से, रस से, अंगार से, धूम्र से, अतिगिद्धता से अग्नि की भाँति छहनिकाय की विराधना कर अपरिशुद्ध भिक्षा अन्न-पान आदि का आहार किया हो, कराया हो, कराया जाता हो या इस तरह कराये जाते आहार की अनुमोदना की हो तो मेरा वह समस्त दुष्कृत प्रभावहीन हो।

तदनन्तर आदान-निक्षेपण समिति है। चाकल, फलक, पुस्तक, कमण्डलु, विकृति-पात्र, मणि इत्यादि उपकरणों को यदि मैंने अनवलोकित/अप्रतिलेखित ग्रहण किया हो, एक स्थान से दूसरे स्थान पर रखा हो फलस्वरूप प्राण, भूत, जीव, सत्त्व का उपघात हुआ हो, उपघात करवाया हो, उपघात किया जाता (कीरमाण)

हो या तदनुसार किये जाते को अच्छा माना हो तो मेरा तत्सम्बन्धी दुष्कृत प्रभावहीन हो।

इसके वाद मलमूत्रकफश्लेष्मविकृति-प्रतिस्थापनिका समिति है। रात में, सायंकाल, अँधेरे में, अशुद्ध भूमि में, खुले आकाश-तले, चिकने में, सवीज भूमि में, हरित भूमि में इस तरह के अप्रासुक स्थानों में विकृतियों के परठने से प्राण, भूत, जीव, सत्त्व का उपघात हुआ हो, उपघात कराया हो, उपघात क्रियमाण हो या किये गये/किये जाते उपघात को अच्छा माना हो तो मेरा तत्सम्बन्धी दुष्कृत वेअसर/मिथ्या हो।

तीन गुप्तियाँ हैं: मनोगुप्ति, वाग्गुप्ति, कायगुप्ति। मनोगुप्ति के अन्तर्गत आर्त/रौद्र ध्यान में, इस लोक की आकांक्षाओं में, परलोक की आकांक्षाओं में, आहारगत आकांक्षाओं में, मैथुनगत आकांक्षाओं में, परिग्रहगत आकांक्षाओं में इस भाँति जहाँ भी मनोगुप्ति की रक्षा न की हो, न करायी हो, न क्रियमाण (की जाती) हो या न किये जाने की अनुमोदना हो वहाँ तत्सम्बन्धी मेरा समस्त दुष्कृत निष्फल हो।

फिर वाग्गुप्ति है; जिसके अन्तर्गत स्त्री-कथा से, अर्थकथा से, आहारकथा से, रागकथा से, चोरकथा से, वैरकथा से, परपाखण्ड (आचार) कथा से यदि वाग्गुप्ति की रक्षा न की हो, न करायी हो, न क्रियमाण हो, या न किये जाने को अच्छा माना हो तो मेरा तत्सम्बन्धी दुष्कृत मिथ्या/निष्प्रभ हो।

अव कायगुप्ति है। चित्रकर्म में, वस्त्रकर्म में, काष्ठकर्म में, [illegible] अथवा ऐसे ही किसी कार्य में यदि कायगुप्ति की रक्षा न की हो, न [illegible] न की जाती रही हो, या न किये जाने को अच्छा माना हो तो [illegible] दुष्कृत मिथ्या/वेअसर हो।

एक आत्मभाव में (?), दो आर्तरौद्रसंक्लिष्ट [illegible] संक्लेशित परिणामों (मिथ्या ज्ञान, मिथ्या दर्शन, मिथ्या [illegible] पाँच चारित्रों में, छह जीवनिकायों में, छह आवश्यकों [illegible] शुद्धियों में, नौ ब्रह्मचर्य गुप्तियों में, दस [illegible] मुंडों (?) में, वारह व्रतों में, वाईस परीषहों [illegible] क्रियाओं में, अठारह हजार शीलों में, [illegible] गुणों में, आष्टाह्निक (पाक्षिक, चातुर्मासिक, [illegible] हो! [illegible] वधि में जो भी विचलन, अतिक्रम, [illegible] हों उन्हें मैं प्रतिक्रमित करता हूँ। [illegible] मरण, पंडितमरण, वीर्यमरण, [illegible] संपत्ति उपलब्ध हो।

क्षुल्लक-प्रतिक्रमण

अरिहंतों को नमस्कार, सिद्धों को नमस्कार, आचार्यों को नमस्कार, उपाध्यायों को नमस्कार, लोकवर्ती समस्त साधुओं को नमस्कार!!!!!

जिनों को नमन, जिनों को नमन, जिनों को नमन!!! निर्वाणभूमियों को प्रणाम, निर्वाणभूमियों को नमन, निर्वाणभूमियों को वन्दन!!! नमन, नमन, नमन!!! अरिहंत, सिद्ध, बुद्ध, नीरज, निर्मल, सममन, शुभमन, सुसमर्थ, समभाव, शल्यघट्ट, निर्भय, नीराग, निर्द्वेष, निर्मोह, निर्मम, निःसंग, निःशल्य, मानमायामृषा-मूलक, तपःप्रभावन, गुणरत्न, शीलसागर, अनन्त, अप्रमेय महति महावीर वर्द्धमान, बुद्धर्षे!!! तुझे नमन! तुझे नमन!! तुझे नमन!!! ।।१।।

मेरे लिए अरिहन्त, सिद्ध, बुद्ध, जिन, केवली, अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी, चतुर्दशपूर्वगामी श्रुतसमितिसमृद्ध, तप और द्वादशविध तपी, गुण और गुणवन्त, महर्षि, तीर्थ और तीर्थंकर, प्रवचन और प्रवचनी, ज्ञान और ज्ञानी, दर्शन और दर्शनी, संयम और संयमी, विनय और विनीत, ब्रह्मचर्यवास और ब्रह्मचारी, गुप्ति और गुप्तिमंत, मुक्ति और मुक्तिमंत, समिति और समितिमंत, स्वसमयविद् और परसमय-विद्, क्षान्ति और क्षपक, क्षीणमोह और क्षीणवत, वोधितबुद्ध और बुद्धिमंत, चैत्यवृक्ष और चैत्य सब मंगलमय हों!!! ।।२।।

ऊर्ध्वमहतिऋतलोक में सिद्धायतनों को नमन!! सिद्ध/निर्वाणभूमि अष्टा-पदपर्वत, सम्मेदगिरि, ऊर्जयन्तगिरि, चम्पापुर, पावापुर, मध्यमिका, हस्तिपालिकसभा स्थित तथा लोकवर्ती अन्य निर्वाण-भूमि, स्थित, ईषत्प्राग्भारतलस्थ सिद्ध, बुद्ध, कर्म-चक्रमुक्त, नीरज, निर्मल, निर्मम गुरु, आचार्य-उपाध्याय द्वारा प्रवर्तित स्थविरकुलकर चातुर्वर्ण्य श्रमणसंघ दस भरत ऐरावत पाँच महाविदेह स्थित जो साधु, संयमी, तपो-धन हैं वे सब मेरा मंगल करें, मुझे पवित्र करें। भावतः विशुद्ध मैं सिद्धों की नत-शीश वन्दना कर मस्तक तक अंजलि ले जा कर त्रिविध/त्रिकरण की शुद्धिपूर्वक आठ कर्मों का प्रतिलेखन करता हूँ।।३।।

भंते! मैं प्रतिक्रमण करता हूँ; लौटता हूँ उस व्रतविन्दु पर जहाँ से विचलित हुआ हूँ: दर्शन प्रतिमा में शंका से, कांक्षा से, विचिकित्सा से, परपाखण्ड (आचार/व्रत) प्रशंसा से, दिवसान्त तक/निशान्त तक मन से, वचन से, शरीर से। इस दौरान जो अतिचार/प्रमाद मैंने किये हैं, कराये हैं, मेरे द्वारा क्रियमाण हैं या मैंने जिन्हें अच्छा माना है मेरा तत्संवंधी दुष्कृत मिथ्या/प्रभावहीन हो।।१।।

लौटता हूँ भगवन्त! उस विन्दु पर जहाँ से व्रतप्रतिमा के प्रथम स्थूलव्रत हिंसाविरति का मुझसे उल्लंघन हुआ है। वध में, वंधन में, छेदन में, अतिभारा-रोपण में, अन्नपान के निरोध में—दिवसान्त तक/निशान्त तक; मन से, वचन से,

काया से जो अतिचार मैंने किये हैं, कराये हैं, मेरे द्वारा किये जाते हैं या क्रियमाण हैं अथवा जिनका मैंने अनुमोदन किया है, वे सारे दुष्कृत निष्फल हों ।।२-१।।

भन्ते ! प्रतिक्रमण करता हूँ, प्रत्यावर्तित होता हूँ उस प्रस्थान-विन्दु पर जहाँ व्रतप्रतिमा के द्वितीय स्थूलव्रत असत्यविरति में मिथ्या उपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेख क्रिया (झूठे दस्तावेज़ लिखने-लिखाने) या न्यासापहार/अमानत-में-खयानत से अथवा साकार मन्त्रभेद/संकेतगर्भित तात्पर्य को प्रकट कर देने से मेरे द्वारा दिवसान्त तक/निशान्त तक : मन से, वचन से, शरीर से जो भी उल्लंघन हुए हैं, मेरे द्वारा कराये गये हैं, क्रियमाण हैं; या अनुमोदित हैं, तत्संबंधी मेरे सारे दुष्कृत प्रभावहीन हों ।।२-२।।

प्रतिक्रमण करता हूँ भंते ! व्रतप्रतिमा के तीसरे स्थूलव्रत स्तेनविरति (अचौर्य) से सम्वन्धित समस्त अतिचारों/विचलनों से। ये हैं : स्तेनप्रयोग, स्तेनाहृतादान, विरुद्धराज्यातिक्रम, हीनाधिकमानोन्मान तथा प्रतिरूपकव्यवहार। दिवसान्त तक/निशान्त तक मन से, वचन से, शरीर से जो भी उल्लंघन/स्खलन मैंने किये हों, कराये हों, या मेरे द्वारा इस क्षण क्रियमाण हों अथवा जिन्हें अच्छा माना हो वे सारे मेरे दुष्कृत निष्प्रभावी हों ।।२-३।

भगवन्त ! लौटता हूँ मैं अपने उस स्वसमय-विन्दु पर जहाँ से मेरे द्वारा लिये गये व्रतों की मर्यादाओं का उल्लंघन हुआ है। व्रतप्रतिमा के चतुर्थ स्थूलव्रत अब्रह्मविरति में परविवाहकरण, इत्वरिका-गमन, परिगृहीता/अपरिगृहीतागमन, अनंग-क्रीड़ा तथा कामतीव्राभिनिवेश से मैंने निशान्त तक/दिवसान्त तक मन से, वचन से, शरीर से जो भी अतिचार किये हों, कराये हों, मेरे द्वारा क्रियमाण हों या किये जा रहे उल्लंघनों को अच्छा माना हो तो मेरा तत्सम्बन्धी दुष्कृत निष्फल/मिथ्या हो ।।२-४।।

प्रतिक्रमित होता हूँ भन्ते ! मेरे द्वारा व्रतप्रतिमा के पाँचवें स्थूलव्रत परिग्रह-परिमाणव्रत में हुए क्षेत्रपरिमाण-के-अतिक्रमण से, धनधान्य-परिमाण की अनुवन्धित सीमा के उल्लंघन से, दासी-दास रखने की निश्चित सीमा को लाँघने से, वस्त्र-वर्तन आदि के निश्चित/निर्धारित संख्या से अधिक रखने से अथवा चाँदी-सोना-जैसी वहुमूल्य सामग्री को निर्धारित सीमा से अधिक रखने से दिवसान्त तक/निशान्त तक; मन से, वचन से, काया से जो भी प्रमाद/विचलन हुए हों, प्रेरित हों, या इस क्षण क्रियमाण हों, या जिन्हें अच्छा माना हो वह मेरा सारा दुष्कृत निष्प्रभावी/मिथ्या हो ।।२-५।।

प्रत्यावर्तित होता हूँ भन्ते ! व्रतप्रतिमा के प्रथम गुणव्रत दिग्व्रत के उस विन्दु पर जहाँ मुझसे मन से, वचन से, शरीर से दिवसान्त तक/निशान्त तक ऊर्ध्वव्यति-क्रम, अधःव्यतिक्रम, तिर्यक्व्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि, अथवा स्मृति-अन्तराधान के रूप में उल्लंघन/विचलन हुए हैं, विचलन/स्खलन प्रेरित हुए हैं, इस क्षण क्रियमाण/घटित हैं या अच्छे माने गये हैं। मेरे ये सारे दुष्कृत वेअसर /निष्फल हों ।।२-६।।

भन्ते! मैं प्रतिक्रमण करता हूँ। व्रतप्रतिमा के अन्तर्गत द्वितीय गुणव्रत देश-व्रत में आनयन से, विनियोग से, शब्दानुपात से, रूपानुपात से, पुद्गलक्षेप से मेरे द्वारा दिवसान्त तक/निशान्त तक मन से, वचन से, शरीर से जो भी विचलन हुए हैं, प्रेरित हैं, क्रियमाण हैं, अथवा जिन्हें अच्छा माना है उन सारे दुष्कृतों से मैं निवृत्त होता हूँ।।२-७।।

प्रतिक्रमण करता हूँ भन्ते! मन से, वचन से, शरीर से दिवसान्त तक/निशान्त तक व्रतप्रतिमा के तृतीय गुणव्रत अनर्थदण्डव्रत के संदर्भ में कन्दर्प से, कौत्कुच्य से, मौखर्य से, असमीक्ष्याधिकरण से तथा भोगानर्थक्य से जो भी विचलन हुए हैं उन सबसे। (चाहता हूँ) मेरे वे सारे दुष्कृत निष्फल हों।।२-८।।

भगवन्! निवृत्त होता हूँ मैं उस दुष्कृत से जो व्रतप्रतिमा के अन्तर्गत प्रथम शिक्षाव्रत भोगपरिमाण के संदर्भ में स्पर्शेन्द्रियभोगपरिमाण के अतिक्रम में, जिह्वा-इन्द्रिय के भोग-परिमाण के उल्लंघन में, घ्राणेन्द्रिय के भोग-परिमाणातिक्रम में, नेत्रेन्द्रिय भोग-परिमाण के स्खलन में तथा श्रवणेन्द्रिय के भोग-परिमाण के विचलन में मुझसे दिवसान्त तक/निशान्त तक मन से, वचन से, शरीर से हुए हैं, प्रेरित हैं, क्रियमाण हैं, अच्छे माने गये हैं।।२-९।।

प्रतिक्रम करता हूँ भगवन्! व्रतप्रतिमा के द्वितीय शिक्षाव्रत परिभोगपरिमाण-व्रत के विचलन-बिन्दु पर। ये हैं: स्पर्शेन्द्रिय-परिभोग-परिमाण विचलन, रसनेन्द्रिय-परिभोग-परिमाण विचलन, घ्राणेन्द्रिय-परिभोग-परिमाण विचलन, नेत्रेन्द्रिय-परिभोग-परिमाण विचलन, श्रवणेन्द्रिय-परिभोग-परिमाण विचलन। इन्हें ले कर यदि मैंने मन से, वचन से, शरीर से दिवसान्त तक/निशान्त तक निर्धारित/आत्मस्वीकृत मर्यादाओं का उल्लंघन किया हो, कराया हो, या क्रियमाण हो, या इस तरह के कृत्य को अच्छा माना हो तो तत्सम्बन्धी मेरा समस्त दुष्कृत बेअसर हो। ।।२-१०।।

लौटता हूँ भगवन्! उस मूलबिंदु पर जहाँ से मैं व्रतप्रतिमा के तृतीय शिक्षाव्रत अतिथिसंविभागव्रत के परिपालन में दिवसान्त तक/निशान्त तक मन से, वचन से, शरीर से अतिक्रमित हुआ हूँ। ये इलाके हैं: सचित्तनिक्षेप, सचित्त-अपिधान, परव्यपदेश, कालातिक्रम, मात्सर्य। इन्हें जब भी मैंने किया हो, कराया हो, मेरे द्वारा क्रियमाण हो, या मैंने इन्हें होते हुए अच्छा माना हो तो तत्सम्बन्धी मेरा समस्त दुष्कृत मिथ्या/बेअसर हो।।२-११।।

भन्ते! मैं प्रतिक्रमित होता हूँ उस व्रतबिन्दु पर जो व्रतप्रतिमा के चौथे शिक्षाव्रत समाधिमरण/संल्लेखना से सम्बन्धित है। इसके संभावित विचलन-क्षेत्र हैं: जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध, निदान। इनमें दिवसान्त तक/

निशान्त तक मन से, वचन से, शरीर से यदि मैंने कोई विचलन किया हो, कराया हो या मुझसे क्रियमाण हो या सानुमत हो तो मैं उस सारे दुष्कृत से निवृत्त होता हूँ।।२-१२।।

प्रतिक्रमित होता हूँ भन्ते! सामायिक प्रतिमा के मूलबिन्दु पर उन समस्त विचलनों से निवृत्त होता हुआ जिन्हें मैंने मनःदुष्प्रणिनिधान से, वाग्दुष्प्रणिधान से, कायदुष्प्रणिधान से, अनादर से, स्मृत्यनुस्थापन से मन से, वचन से, शरीर से दिवसान्त तक/निशान्त तक किया है, कराया है, जो मेरे द्वारा इस क्षण क्रियमाण हैं या जिन्हें मैंने अच्छा माना है।।३।।

लौटता हूँ भन्ते! मैं पौषधप्रतिमा के उस बिन्दु पर जहाँ मन से, वंचन से, शरीर से दिवसान्त तक/निशान्त तक मुझसे विचलन हुए हैं, प्रेरित हैं, क्रियमाण हैं या अच्छे माने गये हैं। मैं ग्रन्थिमुक्त होता हूँ इन प्रमादों से: अप्रत्यवेक्षिता-प्रमार्जिततोत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान, अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितसंस्तारोपक्रम, आवश्यक-अनादर, स्मृत्यनुपस्थान।।४।।

प्रतिक्रमण करता हूँ भन्ते! उस व्रतध्रुव पर जहाँ मैं सचित्तविरति प्रतिमा की मौलिक स्थापनाओं से दिवसान्त तक/निशान्त तक मन से, वचन से, शरीर से विचलित हुआ हूँ; ये संभावनाएँ हैं: असंख्येयासंख्येय पृथ्वीकायिक जीव/वायुकायिक जीव/अग्निकायिक जीव/जलकायिक जीव/अनन्तानन्त वस्नपतिकायिक जीव – हरित वीजांकुर आदि का छिन्न करना, भिन्न करना, उनका उत्तापन, विराधन, उप-घातन। यदि मैंने इन्हें किया हो, इन्हें कराया हो, मुझसे क्रियमाण हों या मैंने इन्हें अच्छा माना हो तो मेरा वह समस्त दुष्कृत निष्फल/मिथ्या हो।।५।।

भंते! मैं स्वयं में लौटता हूँ। यह रात्रिभक्त प्रतिमा है। इसके अन्तर्गत नवविधब्रह्मचर्य को ले कर मुझसे यदि दिनान्त तक दिवामैथुन अतिचरित/अनाचरित; मन से, वचन से, शरीर से हुआ हो, प्रेरित हो, क्रियमाण हो, अच्छा माना गया हो तो मेरा वह सारा दुष्कृत निष्प्रभावी हो।।६।।

प्रतिक्रम करता हूँ भगवन्! ब्रह्मचर्यप्रतिमा के उस व्रतबिंदु पर जहाँ से मैं दिनान्त तक/निशान्त तक मन से, वचन से, शरीर से किसी भी रूप में विचलित हुआ हूँ। विचलन की संभावनाएँ हैं: स्त्रीरागकथा, स्त्री के मनोहारी अंगों का [illegible]-लोकन, पूर्वानुरक्त भोगों का स्मरण, कामोद्दीपक रसों का सेवन, शरीर[illegible]; यदि इन्हें ले कर मुझसे कोई अतिचार या अनाचार हुआ हो, प्रेरित हो, [illegible] या अच्छा माना हो तो मेरा तत्सम्बन्धी समस्त दुष्कृत मिथ्या हो।।७;

प्रतिक्रमण करता हूँ भन्ते! आरम्भविरति प्रतिमा के उस [illegible] जहाँ मन से, वचन से, शरीर से दिवसान्त तक/निशान्त तक कषाय[illegible]

धन्धे में मैंने कोई अतिचार/अनाचार किया हो, कराया हो, मुझसे क्रियमाण हो या मैंने उसे भला माना हो तो तत्सम्बन्धी मेरा वह दुष्कृत मिथ्या/बेअसर हो ॥८॥

लौटता हूँ मैं उस बिन्दु पर भगवन्! जहाँ परिग्रहविरति प्रतिमा में वस्त्र-मात्रपरिग्रहपर्यन्त, अन्य परिग्रहों में; मूर्च्छा से, मन से, वचन से, शरीर से दिवसान्त तक/निशान्त तक मुझसे प्रमाद अथवा विचलन हुए हैं, प्रेरित हैं या क्रियमाण हैं या मैंने उन्हें अच्छा माना है। मेरे ये सारे दुष्कृत निष्फल हों ॥९॥

प्रतिक्रमण करता हूँ भन्ते! अनुमतिविरतिप्रतिमा के उस प्रस्थान-बिन्दु पर जहाँ मेरे द्वारा तनिक भी अनुमति, पुष्टि, अपुष्टि दी गयी है, दिलायी या करायी गयी है, या क्रियमाण है या अच्छी समझी गयी है। मेरे ये सारे दुष्कृत विफल हों ॥१०॥

भन्ते! मैं लौटता हूँ उस प्रस्थानबिन्दु पर जहाँ मैंने उद्दिष्टत्यागप्रतिमा को ले कर इस व्रत-परिपालन के संकल्प किये थे। यदि इस संदर्भ में मैंने कभी लक्षितदोष आहार दिवसान्त तक/निशान्त तक किया हो, कराया हो, मेरे द्वारा क्रियमाण हो या ऐसा होने/किये जाने को अच्छा माना हो तो मेरा तत्सम्बन्धी समस्त दुष्कृत निष्फल हो ॥११॥

○○○

भगवन्त! मैं वीरभक्ति कायोत्सर्ग करता हूँ।
यदि मुझसे दिवसान्त तक/निशान्त तक
मन से, वचन से, काया से,
जाने/अनजाने,
अतिचार/अनाचार दुच्चरित, दुःभाषित, दुष्परिणमित
ज्ञान में, दर्शन में, चारित्र में, सूत्र में, सामायिक में, ग्यारह प्रतिमाओं में,
विराधना द्वारा, अष्टविध कर्मों के निर्घातन में, अन्यथा
उच्छ्वास से, निःश्वास से, उन्मेष से, निमेष से, खाँसी से, छींक से, जमुहाई से
सूक्ष्मता-से-अंग-परिचालन से, दृष्टिसंचालन से घटित
इन समस्त असमाधियों/आचारों में से प्रत्येक को जब तक
अरिहन्त भगवान् की सेवा/उपासना में हूँ तब तक मैं (इस समस्त)
पापकर्म/दुरुच्चरित का परित्याग करता हूँ।

○○○

तिविहे दुप्पणिहाणे, अणवट्ठाणे तहा सई-विहूणे ।
सामाइय वितह-कए, पढमे सिक्खावए निंदे ।।२७।।

आणवणे पेसवणे, सद्दे रूवे अ पुग्गल-क्खेवे ।
देसावगासिअम्मी, बीए सिक्खावए निंदे ।।२८।।

संथारुच्चारविही-पमाय तह चेव भोगअणाभोए ।
पोसह-विहि-विवरीए, तइए सिक्खावए निंदे ।।२९।।

सच्चित्ते निक्खिवणे, पिहिणे ववएस-मच्छरे चेव ।
काला इक्कम-दाणे-चउत्थे सिक्खावए निंदे ।।३०।।

सुहिएसु अ दुहिएसु अ, जा मे अस्संजएसु अणुकंपा ।
रागेण व दोसेण व, तं निंदे तं च गरिहामि ।।३१।।

साहूसु संविभागो, न कओ तव-चरण-करण-जुत्तेसु ।
संते फासुअदाणे, तं निंदे तं च गरिहामि ।।३२।।

इह लोए परलोए, जीविअ-मरणे अ आसंस-पओगे ।
पंचविहो अइआरो, मा मज्झं हुज्ज मरणंते ।।३३।।

काएण काइअस्सा, पडिक्कमे वाइअस्स वायाए ।
मणसा माणसिअस्सा, सव्वस्स वयाइआरस्स ।।३४।।

वंदण-वण-सिक्खा-गारवेसु सण्णा क्कसाय-दंडेसु ।
गुत्तीसु अ समिईसु अ, जो अइआरो अ तं निंदे ।।३५।।

सम्मद्दिट्ठी जीवो, जइ वि हु पावं समायरइ किंचि ।
अप्पो सि होइ बंधो, जेण निद्धंधसं कुणइ ।।३७।।

तं पि हु सपडिक्कमणं, सप्परिआवं सउत्तरगुणं च ।
खिप्पं उवसामेइ, वाहि व्व सुसिक्खिओ विज्जो ।।३७।।

जहा विसं कुट्ठ-गयं, मंत-मूल-विसारया ।
विज्जा हणंति मंतेहिं, तो तं हवइ निव्वसं ।।३८।।

एवं अट्ठविहं कम्मं, राग-दोस-समज्जिअं ।
आलोअंतो अ निंदंतो, खिप्पं हणइ सुसावओ ।।३९।।

कय-पावो वि मणुस्सो, आलोइअ निंदिअ गुरु-सगासे ।
होइ अइरेग-लहुओ, ओहरिअ-भरु व्व भारवहो ।।४०।।

तइअे अणुव्वयम्मी, थूलग-परदव्व-हरण-विरईओ ।
आयरियमप्पसत्थे, इत्थ पमाय-प्पसंगेणं ॥१३॥

तेनाहड-प्पओगे, तप्पडिरूवे विरुद्ध-गमणे अ ।
कूडतुल-कूडमाणे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥१४॥

चउत्थे अणुवयम्मी, निच्चं परदार-गमण-विरईओ ।
आयरियमप्पसथे, इत्थ पमाय-प्पसंगेणं ॥१५॥

अपरिग्गहिआ-इत्तर-अणंग-वीवाह-तिव्व-अणुरोगे ।
चउत्थवयस्स इआरे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥१६॥

इत्तो अणुव्वये पंचमम्मि आपरिअमप्पसत्थेम्मि ।
परिमाण-परिच्छेए, इत्थ पमाय-प्पसंगेणं ॥१७॥

धण-धन्न-खित्त-वत्थू-रुप्प-सुवन्ने अ कुविअ-परिमाणे ।
दुपए चउप्पयम्मि य, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥१८॥

गमणस्स य परिमाणे, दिसासु उड्ढे अहे अतिरिअं च ।
वुड्ढी सइ-अंतरद्धा पढमम्मि गुणव्वए निंदे ॥१९॥

मज्जम्मि अ मंसम्मि अ, पुप्फे अफले अ-गंध-मल्ले ।
उवभोग-परीभोगे, बीअम्मि गुणव्वए निंदे ॥२०॥

सच्चित्ते पडिबद्धे, अपोल-दुप्पोलियं च आहारे ।
तुच्छोसहि-भक्खणया, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥२१॥

इंगाली वण साडी, भाडी फोडी सुवज्जए कम्मं ।
वाणिज्जं चेव दंत-लक्ख-रस-केस-विस-विसयं ॥२२॥

एवं खु जंतपीलण-कम्मं निल्लंछण च दव-दाणं ।
सर-दह-तलाय-सोसं, असई-पोसं च वज्जिज्जा ॥२३॥

सत्थग्गि-मुसल-जंतग-तण-कट्ठे मत-मूल-भेसज्जे ।
दिन्ने दवाविए वा, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥२४॥

ण्हाणुव्वट्टण-वन्नग-विलेवणे सद्द-रूव-रस-गंधे ।
वत्थासण-आभरणे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥२५॥

कंदप्पे कुक्कुइए, मोहरि-अहि गरणं-भोग अइरित्ते ।
दंडम्मि अणट्ठाए, तइअम्मि गुणव्वए निंदे ॥२६॥

तिविहे दुप्पणिहाणे, अणवट्ठाणे तहा सई-विहूणे ।
सामाइय वितह-कए, पढमे सिक्खावए निंदे ॥२७॥

आणवणे पेसवणे, सद्दे रूवे अ पुग्गल-क्खेवे ।
देसावगासिअम्मी, बीए सिक्खावए निंदे ॥२८॥

संथारुच्चारविही-पमाय तह चेव भोगअणाभोए ।
पोसह-विहि-विवरीए, तइए सिक्खावए निंदे ॥२९॥

सच्चित्ते निक्खिवणे, पिहिणे ववएस-मच्छरे चेव ।
काला इक्कम-दाणे-चउत्थे सिक्खावए निंदे ॥३०॥

सुहिएसु अ दुहिएसु अ, जा मे अस्संजएसु अणुकंपा ।
रागेण व दोसेण व, तं निंदे तं च गरिहामि ॥३१॥

साहूसु संविभागो, न कओ तव-चरण-करण-जुत्तेसु ।
संते फासुअदाणे, तं निंदे तं च गरिहामि ॥३२॥

इह लोए परलोए, जीविअ-मरणे अ आसंस-पओगे ।
पंचविहो अइआरो, मा मज्झं हुज्ज मरणंते ॥३३॥

काएण काइअस्सा, पडिक्कमे वाइअस्स वायाए ।
मणसा माणसिअस्सा, सव्वस्स वयाइआरस्स ॥३४॥

वंदण-वण-सिक्खा-गारवेसु सण्णा क्कसाय-दंडेसु ।
गुत्तीसु अ समिईसु अ, जो अइआरो अ तं निंदे ॥३५॥

सम्मद्दिट्ठी जीवो, जइ वि हु पावं समायरइ किंचि ।
अप्पो सि होइ बंधो, जेण निद्धंधसं कुणइ ॥३७॥

तं पि हु सपडिक्कमणं, सप्परिआवं सउत्तरगुणं च ।
खिप्पं उवसामेइ, वाहि व्व सुसिक्खिओ विज्जो ॥३७॥

जहा विसं कुट्ठ-गयं, मंत-मूल-विसारया ।
विज्जा हणंति मंतेहिं, तो तं हवइ निव्विसं ॥३८॥

एवं अट्ठविहं कम्मं, राग-दोस-समज्जिअं ।
आलोअंतो अ निंदंतो, खिप्पं हणइ सुसावओ ॥३९॥

कय-पावो वि मणुस्सो, आलोइअ निंदिअ गुरु-सगासे ।
होइ अइरेग-लहुओ, ओहरिअ-भरु व्व भारवहो ॥४०॥

तइअे अणुव्वयम्मी, थूलग-परदव्व-हरण-विरईओ ।
आयरियमप्पसत्थे, इत्थ पमाय-प्पसंगेणं ।।१३।।

तेनाहड-प्पओगे, तप्पडिरूवे विरुद्ध-गमणे अ ।
कूडतुल-कूडमाणे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ।।१४।।

चउत्थे अणुवयम्मी, निच्चं परदार-गमण-विरईओ ।
आयरियमप्पसथे, इत्थ पमाय-प्पसंगेणं ।।१५।।

अपरिग्गहिआ-इत्तर-अणंग-वीवाह-तिव्व-अणुरोगे ।
चउत्थवयस्स इआरे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ।।१६।।

इत्तो अणुव्वये पंचमम्मि आपरिअमप्पसत्थेम्मि ।
परिमाण-परिच्छेए, इत्थ पमाय-प्पसंगेणं ।।१७।।

धण-धन्न-खित्त-वत्थू-रुप्प-सुवन्ने अ कुविअ-परिमाणे ।
दुपए चउप्पयम्मि य, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ।।१८।।

गमणस्स य परिमाणे, दिसासु उड्ढे अहे अतिरिअं च ।
बुड्ढी सइ-अंतरद्धा पढमम्मि गुणव्वए निंदे ।।१९।।

मज्जम्मि अ मंसंम्मि अ, पुप्फे अफले अ-गंध-मल्ले ।
उवभोग-परीभोगे, बीअम्मि गुणव्वए निंदे ।।२०।।

सच्चित्ते पडिबद्धे, अपोल-दुप्पोलियं च आहारे ।
तुच्छोसहि-भक्खणया, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ।।२१।।

इंगाली वण साडी, भाडी फोडी सुवज्जए कम्मं ।
वाणिज्जं चेव दंत-लक्ख-रस-केस-विस-विसयं ।।२२।।

एवं खु जंतपीलण-कम्मं निल्लंछण च दव-दाणं ।
सर-दह-तलाय-सोसं, असई-पोसं च वज्जिज्जा ।।२३।।

सत्थग्गि-मुसल-जंतग-तण-कट्ठे मत-मूल-भेसज्जे ।
दिन्ने दवाविए वा, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ।।२४।।

ण्हाणुव्वट्टण-वन्नग-विलेवणे सद्द-रूव-रस-गंधे ।
वत्थासण-आभरणे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ।।२५।।

कंदप्पे कुक्कुइए, मोहरि-अहि गरणं-भोग अइरित्तो ।
दंडम्मि अणट्ठाए, तइअम्मि गुणव्वए निंदे ।।२६।।

तिविहे दुप्पणिहाणे, अणवट्ठाणे तहा सई-विहूणे ।
सामाइय वितह-कए, पढमे सिक्खावए निंदे ॥२७॥

आणवणे पेसवणे, सद्दे रूवे अ पुग्गल-क्खेवे ।
देसावगासिअम्मी, बीए सिक्खावए निंदे ॥२८॥

संथारुच्चारविही-पमाय तह चेव भोगअणाभोए ।
पोसह-विहि-विवरीए, तइए सिक्खावए निंदे ॥२९॥

सच्चित्ते निक्खिवणे, पिहिणे ववएस-मच्छरे चेव ।
काला इक्कम-दाणे-चउत्थे सिक्खावए निंदे ॥३०॥

सुहिएसु अ दुहिएसु अ, जा मे अस्संजएसु अणुकंपा ।
रागेण व दोसेण व, तं निंदे तं च गरिहामि ॥३१॥

साहूसु संविभागो, न कओ तव-चरण-करण-जुत्तेसु ।
संते फासुअदाणे, तं निंदे तं च गरिहामि ॥३२॥

इह लोए परलोए, जीविअ-मरणे अ आसंस-पओगे ।
पंचविहो अइआरो, मा मज्झं हुज्ज मरणंते ॥३३॥

काएण काइअस्सा, पडिक्कमे वाइअस्स वायाए ।
मणसा माणसिअस्सा, सव्वस्स वयाइआरस्स ॥३४॥

वंदण-वण-सिक्खा-गारवेसु सण्णा क्कसाय-दंडेसु ।
गुत्तीसु अ समिईसु अ, जो अइआरो अ तं निंदे ॥३५॥

सम्मद्दिट्ठी जीवो, जइ वि हु पावं समायरइ किंचि ।
अप्पो सि होइ बंधो, जेण निद्धंधसं कुणइ ॥३७॥

तं पि हु सपडिक्कमणं, सप्परिआवं सउत्तरगुणं च ।
खिप्पं उवसामेइ, वाहि व्व सुसिक्खिओ विज्जो ॥३७॥

जहा विसं कुट्ठ-गयं, मंत-मूल-विसारया ।
विज्जा हणंति मंतेहिं, तो तं हवइ निव्वसं ॥३८॥

एवं अट्ठविहं कम्मं, राग-दोस-समज्जिअं ।
आलोअंतो अ निंदंतो, खिप्पं हणइ सुसावओ ॥३९॥

कय-पावो वि मणुस्सो, आलोइअ निंदिअ गुरु-सगासे ।
होइ अइरेग-लहुओ, ओहरिअ-भरु व्व भारवहो ॥४०॥

आवस्सएण एएण, सावओ जइ वि बहुरओ होई ।
दुक्खाणमंत किरिअं, काही अचिरेण कालेण ॥४१॥

आलोयणा बहुविहा, न य संभरिआ पडिक्कमण-काले ।
मूलगुण-उत्तरगुणे, तं निंदे तं च गरिहामि ॥४२॥

तस्स धम्मस्स केवलि-पन्नत्तस्स—

अब्भुट्ठिओ मि आराहणाए विरओ मि विराहणाए ।
तिविहेण पडिक्कंतो, वंदामि जिणे चउव्वीसं ॥४३॥

जावंति चेइआइं, उड्ढे अ अहे अ तिरिअलोए अ ।
सव्वाइं ताइं वंदे, इह संतो तत्थ संताइं ॥४४॥

जावंत के वि साहू, भरहेरवय-महाविदेहे अ ।
सव्वेसिं तेसिं पणओ, तिविहेण तिदंड-विरयाणं ॥४५॥

चिर-संचिअ-पाव-पणासणीइ भव-सय-सहस्स-महणीए ।
चउवीस-जिण-विणिग्गय-कहाइ वोलंतु मे दिअहा ॥४६॥

मम मंगलमरिहंता, सिद्धा साहू सुअं च धम्मो अ ।
समद्दिट्ठी देवा, दिंतु समाहिं च बोहिंच ॥४७॥

पडिसिद्धाणं करणे, किच्चाणमकरणे अ पडिक्कमणं ।
असद्दहणे अ तहा, विवरीअ-परुवणाए अ ॥४८॥

खामेमि सव्वजीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं न केणइ ॥४९॥

एवमहं आलोइअ, निंदिअ गरहिअ दुगंछिउं सम्मं ।
तिविहेण पडिक्कंतो, वंदामि जिणे चउव्वीसं ॥५०॥

☐

श्रावक-प्रतिक्रमण

(हिन्दी-अनुवाद)

सर्व सिद्धों (सर्व) धर्माचार्यों और सर्व साधुओं को वन्दन करके मैं श्रावक-धर्म में लगे अतिचारों का प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ ।।१।।

मुझे व्रतों के विषय में तथा ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना के विषय में जो सूक्ष्म (गहन) अथवा स्थूल (सामान्य) अतिचार (दोष) लगा हो; उसकी मैं निन्दा करता हूँ, उसकी मैं गर्हा करता हूँ ।।२।।

बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह के कारण, पापमय अनेक प्रकार के आरम्भ दूसरे से करवाते हुए और स्वयं करते हुए, दिवस-सम्बन्धी जो स्थूल-सूक्ष्म अतिचार लगे हैं, उन सबका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ अथवा उन सबसे मैं निवृत्त होता हूँ ।।३।।

अप्रशस्त इन्द्रियों, चार कषायों, (तीन योगों) तथा राग और द्वेष से जो (अशुभ कर्म) बँधा हो, उसकी मैं निन्दा करता हूँ, उसकी मैं गर्हा करता हूँ ।।४।।

उपयोग नहीं रहने से, दबाव होने से अथवा नौकरी आदि के कारण आने में, जाने में, एक स्थान पर खड़े रहने में, और बार-बार चलने में अथवा इधर-उधर फिरने में दिवस-सम्बन्धी जो (अशुभ कर्म) बँधे हों, उन सबसे मैं निवृत्त होता हूँ ।।५।।

सम्यक्त्व-के-पालन-में शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, कुलिंगि-प्रशंसा तथा कुलिंगि-संस्तव (संसर्ग) द्वारा दिवस-सम्बन्धी स्थूल-सूक्ष्म जो अतिचार हों, उन सबसे मैं निवृत्त होता हूँ ।।६।।

छहकाय के जीवों की विराधना (हिंसा) हो ऐसी प्रवृत्ति करते हुए तथा अपने लिए, दूसरों के लिए, दोनों के लिए पकाने, या पकवाने की क्रिया में दोष (हिंसा) हुए हों, उन समारम्भ दोषों की मैं निन्दा करता हूँ ।।७।।

पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों में दिवस-सम्बन्धी स्थूल-सूक्ष्म जो अतिचार लगे हों, उन सबसे मैं निवृत्त होता हूँ ।।८।।

अब प्रथम अणुव्रत के विषय में (लगे अतिचारों का प्रतिक्रमण किया जाता है)। यहाँ प्रमाण-के-प्रसंग-से, अथवा (क्रोधादि) अप्रशस्त भाव के उदय से स्थूल प्राणातिपात-विरमण-व्रत में अतिचार लगे ऐसा जो कोई आचरण किया हो, उससे मैं निवृत्त होता हूँ ।।९।।

प्राणियों को मारने से, (फटकारने से), रस्सी आदि से बाँधने से, अंगोपांग छेदन से, बहुत बोझा लादने से और भूखा-प्यासा रखने से पहले व्रत के विषय में दिवस-सम्बन्धी स्थूल-सूक्ष्म जो अतिचार लगे हों, उन सबसे मैं निवृत्त होता हूँ ।।१०।।

अब दूसरे अणुव्रत के विषय में (लगे अतिचारों का प्रतिक्रमण किया जाता है)। यहाँ प्रमाद के प्रसंग अथवा क्रोधादि अप्रशस्त भाव के उदय से स्थूल मृषावाद-विरमण-व्रत में अतिचार लगे, ऐसा जो कोई आचरण किया हो, उससे मैं निवृत्त होता हूँ ।।११।।

बिना बिचारे किसी को दूषित कहने से (किसी पर दोषारोपण करने से), कोई मनुष्य गुप्त बातें करते हों, उन्हें देख कर मनमाना अनुमान लगाने से, अपनी स्त्री (पत्नी) की गुप्त बात बाहर प्रकाशित करने से, मिथ्या उपदेश अथवा झूठी सलाह देने से, तथा झूठी बात लिखने से दूसरे व्रत के विषय में दिवस-सम्बन्धी स्थूल-सूक्ष्म जो अतिचार लगे हों, उन सबसे मैं निवृत्त होता हूँ ।।१२।।

अब तीसरे अणुव्रत के विषय में (लगे अतिचारों का प्रतिक्रमण किया जाता है)। यहाँ प्रमाद के प्रसंग अथवा क्रोधादि अप्रशस्त भाव के उदय से स्थूल अदत्तादान-विरमण व्रत में अतिचार लगे ऐसा जो आचरण किया हो, उससे मैं निवृत्त होता हूँ ।।१३।।

चोर द्वारा लायी हुई वस्तु रख लेने से; चोरी करने का उत्तेजन मिले, ऐसे वचन-प्रयोग से, माल-में-मिलावट करने से, राज्य के नियमों के विरुद्ध आचरण करने से, और झूठे तौल तथा झूठे माप का उपयोग करने से, दिवस-सम्बन्धी स्थूल-सूक्ष्म जो अतिचार लगे हों, उन सबसे मैं निवृत्त होता हूँ ।१४।।

अब चौथे अणुव्रत के विषय में (लगे अतिचारों का प्रतिक्रमण किया जाता है)। यहाँ प्रमाद के प्रसंग से अथवा क्रोधादि अप्रशस्त भावों के उदय से निरन्तर परदार-गमन-विरति में अतिचार लगे, ऐसा जो भी आचरण किया हो, उससे मैं निवृत्त होता हूँ ।।१५।।

अपरिगृहीता-गमन, इत्वर-गृहीता-गमन, अनंग-क्रीड़ा, परविवाह-करण, और तीव्र अनुराग के कारण चौथे व्रत के विषय में दिवस-सम्बन्धी स्थूल-सूक्ष्म जो अतिचार लगे हों, उन सबसे मैं निवृत्त होता हूँ ।१६।।

अब पाँचवें अणुव्रत के विषय में (लगे अतिचारों का प्रतिक्रमण किया जाता है)। यहाँ प्रमाद के प्रसंग से अथवा क्रोधादि अप्रशस्त भावों के उदय से परिग्रह-परिमाण-व्रत में अतिचार लगे, ऐसा जो भी आचरण मैंने किया हो, उससे मैं निवृत्त होता हूँ ।।१७।।

धन-धान्य का, क्षेत्र-वास्तु (गृह) का, सोना-चाँदी का, अन्य धातुओं का तथा शृंगार-सज्जा का, और मनुष्य, पक्षी तथा पशुओं का परिमाण-उल्लंघन करने से दिवस-सम्बन्धी स्थूल-सूक्ष्म जो अतिचार लगे हों, उन सबसे मैं निवृत्त होता हूँ ।।१८।।

(अब मैं दिक्-परिमाण-व्रत के अतिचारों की आलोचना करता हूँ)। इसमें ऊर्ध्व दिशा में जाने का प्रमाण लाँघने से, अधोदिशा में जाने का प्रमाण लाँघने से और तिर्यग् (तिरछा) जाने का प्रमाण लाँघने से, क्षेत्र-का-प्रमाण बढ़ जाने से, अथवा

क्षेत्र-का-प्रमाण भूल जाने से पहले गुणव्रत में जो अतिचार लगे हों, उनकी मैं निन्दा करता हूँ ।।१९।।

दूसरे गुणव्रत में मदिरा (की विरति) में, माँस (की विरति) में तथा फूल और सुगन्धित पदार्थों एवं माला आदि के उपभोग-परिभोग में जो अतिचार लगे हों, मैं उनकी निन्दा करता हूँ ।।२०।।

निश्चित किये हुए प्रमाण से अधिक सचित्त आहार के भक्षण में, सचित्त-प्रतिवद्ध आहार के भक्षण में, अपक्व औषधि के भक्षण में, दुष्पक्व आहार के भक्षण में, तथा तुच्छ औषधि के भक्षण में, दिवस-संवन्धी स्थूल-सूक्ष्म जो अतिचार लगे हों, उन सबसे मैं निवृत्त होता हूँ ।२१।।

अंगार-कर्म, वन-कर्म, शकट-कर्म, भाटक-कर्म, स्फोटक-कर्म, दन्त-वाणिज्य, लाक्षा-वाणिज्य, रस-वाणिज्य, केश-वाणिज्य, और विष-वाणिज्य ये (पाँच कर्म और पाँच व्यापार) छोड़ देता हूँ ।।२२।।

(इसी प्रकार) यन्त्र-पीलन कर्म, निर्लांछन-कर्म, दव-दाह-कर्म, जल-शोषण-कर्म और असती शोषण-कर्म — इनका भी मैं त्याग करता हूँ ।।२३।।

शस्त्र, अग्नि, मूसल, चक्की (पेषणी) आदि यन्त्र, विभिन्न प्रकार के तृण, काष्ठ, मूल और औषधि आदि (विना कारण) दूसरों को देते हुए और दिलाते हुए दिवस-सम्बन्धी स्थूल-सूक्ष्म जो अतिचार लगे हों, उन सबसे मैं निवृत्त होता हूँ ।२४।।।

स्नान, उद्वर्तन, वर्णक, विलेपन, शब्द, रूप, रस, गन्ध, वस्त्र, आसन, आभरण के विषय में सेवित अनर्थदण्ड से दिवस-संवन्धी स्थूल-सूक्ष्म जो अतिचार लगे हों, उन सबसे मैं निवृत्त होता हूँ ।।२५।।

अनर्थदण्ड-विरमण व्रत नाम के तीसरे गुणव्रत के विषय में कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, संयुक्ताधिकरण, और भोगातिरिक्त भोगों की अधिकता के कारण जो अति-चार लगे हों, उनकी मैं निन्दा करता हूँ ।२६।।

पहले शिक्षाव्रत में सामायिक को निष्फल करने वाले मनो:दुष्प्रणिधान, वचन-दुष्प्रणिधान, काय-दुष्प्रणिधान, अनवस्थान और स्मृति-विहीनत्व नाम के पाँच अतिचारों की मैं निन्दा करता हूँ ।।२७।।

देशावकाशिक नाम के दूसरे शिक्षाव्रत में आनयन-प्रयोग, प्रेष्य-प्रयोग, शब्दा-नुपात, रूपानुपात, और पुदगल-क्षेप द्वारा जो अतिचार लगे हों, उनकी मैं निन्दा करता हूँ ।।२८।।

संथारा और उच्चार-प्रस्रवण-भूमि की प्रतिलेखना और प्रमार्जन में प्रमाद होने से तथा भोजनादि की चिन्ता द्वारा पौषधोपवास नामक तीसरे शिक्षाव्रत में जो विपरीतता हुई हो (अतिचार हुए हों) उसकी मैं निन्दा करता हूँ ।।२९।।

सचित्तनिक्षेपण, सचित्तापिधान, परव्यपदेश, मात्सर्य और कालातिक्रम-दान – इन पाँच अतिचारों की मैं चौथे शिक्षाव्रत के प्रतिक्रमण-प्रसंग में निन्दा करता हूँ ।।३०।।

जो मुझसे सुहित, दुःखित, और अस्वयत साधुओं की भक्ति, राग अथवा द्वेष से हुई हो; उसकी मैं निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ ।।३१।।

तपस्वी, चारित्रशील और क्रियापात्र साधुओं के दान देने योग्य वस्तुएँ उपस्थित होते हुए भी, उनमें से मैंने यदि एक भाग नहीं दिया हो, तो अपने उस दुष्कृत्य की मैं निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ ।।३२।।

इहलोकाशंसा-प्रयोग, परलोकाशंसा-प्रयोग, जीविताशंसा-प्रयोग, मरणाशंसा-प्रयोग और कामभोगाशंसा-प्रयोग – ये पाँच प्रकार के अतिचार मुझे मरण के समय न हों ।।३३।।

काया के अशुभ प्रवर्तन को शुभ काययोग से, वचन के अशुभ प्रवर्तन को शुभ वचनयोग से, मन के अशुभ प्रवर्तन को शुभ मनोयोग से, इस प्रकार सर्व व्रतों के अतिचारों का मैं प्रतिक्रमण करता हूँ ।।३४।।

वन्दन, व्रत, शिक्षा, गारव, संज्ञा, कषाय, दण्ड, गुप्ति और समिति – इन नौ विषयों में (करने योग्य न करने से और नहीं करने योग्य के करने से) जो अतिचार लगे हों, उनकी मैं निन्दा करता हूँ ।।३५।।

सम्यग्दृष्टि जीव-आत्मा यद्यपि (प्रतिक्रमण करने के अनन्तर भी) किंचित् पापमय प्रवृत्ति को करता है, तो भी उसे कर्मवन्ध अल्प होता है; कारण, उसे वह निर्दयता (क्रूरता) पूर्वक नहीं करता ।।३६।।

जैसे एक निष्णात (कुशल) वैद्य व्याधि का शीघ्र शमन कर देता है, वैसे ही (प्रतिक्रमण करने वाला सम्यग्दृष्टि जीव उस अल्प कर्मवन्ध को भी) प्रतिक्रमण, पश्चात्ताप, तथा प्रायश्चित्त करके शीघ्र नाश कर देता है ।।३७।।

जैसे पेट में उतरे ज़हर का मन्त्र और जड़ी-वूटी-में निष्णात वैद्य मन्त्रों से निवारण करते हैं और उससे वह विष-रहित होता है वैसे (व्रत-कर्म करने वाला गुणवान्) ही सुश्रावक अपने पापों की आलोचना तथा निन्दा करते हुए राग और द्वेष से उपार्जित आठ प्रकार के कर्मों को यथाशीघ्र नष्ट कर देता है ।।३८-३९।।

पाप करने वाला मनुष्य भी गुरु के समक्ष अपने पापों की आलोचना तथा निन्दा करके, भार उतार लिया गया है जिसके सिर पर से ऐसे श्रमिक (कुली) की तरह वहुत हलका हो जाता है ।।४०।।

यद्यपि श्रावक (सावद्य आरम्भों के कारण) वहुत कर्म वाला होता है, तथापि इस आवश्यक द्वारा अल्प समय में ही वह दुःखों का अन्त कर डालता है ।।४१।।

मूलगुण (अणुव्रत) और उत्तरगुण (गुणव्रत और शिक्षाव्रत) संवन्धी आलोचना वहुत प्रकार की होती हैं; यदि वे सव प्रतिक्रमण करते समय मुझे याद नहीं आयी हों, तो यहाँ मैं उनकी निन्दा करता हूँ, उनकी गर्हा करता हूँ ।।४२।।

अब मैं केवली भगवन्तों द्वारा प्रणीत (और गुरु के निकट स्वीकृत) श्रावक-धर्म की आराधना के लिए तत्पर हूँ, और विराधना से विरत हुआ हूँ; अत: मन, वचन, और काया द्वारा सम्पूर्ण दोषों से निवृत्त होता हुआ मैं चौवीसों जिनेश्वरों की वन्दना करता हूँ ।।४३।।

ऊर्ध्वलोक, अधोलोक, और मनुष्यलोक में जितने भी जिन-विम्व हों, उन सवको यहाँ रहता हुआ, वहाँ रहे हुओं को मैं वन्दन करता हूँ ।।४५।।

भरत, ऐरावत और महाविदेह-क्षेत्र में स्थित जो भी साधु मन, वचन और काया से पाप-प्रवृत्ति करते नहीं, करवाते नहीं और करते हुए का अनुमोदन करते नहीं, उन सबको मैं नमन करता हूँ ।।४५।।

दीर्घकाल से संचित पापों का नाश करने वाली, लाखों भव का अन्त करने वाली ऐसी चौबीसों जिनेश्वरों के मुख से निकली हुई धर्मकथाओं के स्वाध्याय से मेरे दिवस संपन्न हों ।।४६।।

अर्हन्त, सिद्ध, साधु, द्वादशांग-रूप श्रुत और चारित्रधर्म मुझे मंगल-रूप हो तथा सम्यग्दृष्टि देव मुझे समाधि और बोधि प्रदान करें ।।४७।।

निषेध किये हुए कृत्यों के करने से, करने योग्य कृत्यों के न करने से, अश्रद्धा होने से, और जिनेश्वरदेव के उपदेश से विपरीत प्ररूपणा करने से प्रतिक्रमण करना आवश्यक होता है ।।४८।।

मैं सव जीवों को क्षमा करता हूँ । सव जीव मुझे क्षमा करें । मेरी सव जीवों के साथ मैत्री (मित्रता) है । किसी के साथ मेरा वैर नहीं है ।।४९।।

इस तरह सम्यक् प्रकार से अतिचारों की आलोचना, निन्दा, गर्हा और जुगुप्सा करके मैं मन, वचन, और शरीर से सम्पूर्ण दोषों की निवृत्तिपूर्वक चौवीसों जिनेश्वरों को वन्दन करता हूँ ।।५०।। □

प्रतिक्रमण से आत्मावलोकन / आत्मपरिमार्जन

मुनिश्री नगराज/डॉ. नेमीचन्द जैन; नई दिल्ली; १ अक्टूबर, १९८४

डॉ. नेमीचन्द जैन : प्रतिक्रमण का आप क्या अर्थ करते हैं ?

मुनिश्री नगराज : प्रतिक्रमण का तात्पर्य है प्रतिगमन – वापस आना; वापस मुड़ना । इसका मूल अर्थ हुआ आत्मशोधन । मैंने दिन-भर में कौन-सी भूलें कीं, कौन-कौन-सी त्रुटियाँ कीं, कौन-कौन-से दोष ज्ञात अथवा अज्ञात अवस्था में मुझे लगे; उन सबको याद करके उनका प्रायश्चित्त करना ।

ने. : वापस आना; कहाँ आना ?

न. : आत्मस्थिति में, स्वभाव में ।

ने. : क्यों आना ?

न. : पहले अपनी मूल स्थिति में थे, पर दोष लग गये; अब उन दोषों से वापस मुड़ कर अपने शुद्ध स्वरूप में पहुँचना । हम प्रतिदिन प्रतिगमन करते हैं । प्रतिक्रमण करने पर आम आदमी स्वयं को शुद्ध करेगा/कर सकेगा ।

ने. : दोष के पूर्व की स्थिति में लौट आना ?

न. : हाँ ।

ने. : उसमें वापस लौट आने को हम कहेंगे प्रतिक्रमण। यह आत्मशोधन-की एक अचूक प्रक्रिया है ।

न. : आपने बिलकुल सही बात कही है ।

ने. : इस समय हमारा साधु-वर्ग जो प्रतिक्रमण कर रहा है, वह वही कर रहा है, जो परम्परा से चला आ रहा है ?

न. : लगभग वही है; क्योंकि 'आवश्यक-सूत्र' के अनुबन्ध से प्रतिक्रमण की व्यवस्था है । उसमें थोड़ी-बहुत अपनी-अपनी परम्परा के अनुपात में कुछ बातें भी दी हैं, कुछ मौलिक प्राकृत भाषा में रखा है, कुछ देशी भाषा में आ गया है, पर है वही । कुछ स्तुति-रूप आ गया है, जैसे 'लोगस्स' में है । पर स्तुति-रूप में है, उसमें प्रायश्चित्त की बात नहीं है । कुल मिला कर आवश्यक की जो व्यवस्था है, उसी अनुपात में प्रतिक्रमण किया जाता है। उसमें शब्दों का अन्तर, या भाषा का अन्तर कमोबेश हो सकता है; लेकिन भाव की दशा प्रतिक्रमण में एक ही रहती है ।

ने. : विज्ञान और मनोविज्ञान का जो विकास हुआ है; क्या प्रतिक्रमण पर उस संदर्भ में विचार किया जा सकता है ?

प्रतिक्रमण से आत्मावलोकन / आत्मपरिमार्जन

मुनिश्री नगराज/डॉ. नेमीचन्द जैन; नई दिल्ली; १ अक्टूबर, १९८४

डॉ. नेमीचन्द जैन : प्रतिक्रमण का आप क्या अर्थ करते हैं ?

मुनिश्री नगराज : प्रतिक्रमण का तात्पर्य है प्रतिगमन — वापस आना; वापस मुड़ना । इसका मूल अर्थ हुआ आत्मशोधन । मैंने दिन-भर में कौन-सी भूलें कीं, कौन-कौन-सी त्रुटियाँ कीं, कौन-कौन-से दोष ज्ञात अथवा अज्ञात अवस्था में मुझे लगे; उन सबको याद करके उनका प्रायश्चित्त करना ।

ने. : वापस आना; कहाँ आना ?

न. : आत्मस्थिति में, स्वभाव में ।

ने. : क्यों आना ?

न. : पहले अपनी मूल स्थिति में थे, पर दोष लग गये; अब उन दोषों से वापस मुड़ कर अपने शुद्ध स्वरूप में पहुँचना । हम प्रतिदिन प्रतिगमन करते हैं । प्रतिक्रमण करने पर आम आदमी स्वयं को शुद्ध करेगा/कर सकेगा ।

ने. : दोष के पूर्व की स्थिति में लौट आना ?

न. : हाँ ।

ने. : उसमें वापस लौट आने को हम कहेंगे प्रतिक्रमण। यह आत्मशोधन-की एक अचूक प्रक्रिया है ।

न. : आपने बिलकुल सही बात कही है ।

ने. : इस समय हमारा साधु-वर्ग जो प्रतिक्रमण कर रहा है, वह वही कर रहा है, जो परम्परा से चला आ रहा है ?

न. : लगभग वही है; क्योंकि 'आवश्यक-सूत्र' के अनुबन्ध से प्रतिक्रमण की व्यवस्था है । उसमें थोड़ी-बहुत अपनी-अपनी परम्परा के अनुपात में कुछ बातें भी दी हैं, कुछ मौलिक प्राकृत भाषा में रखा है, कुछ देशी भाषा में आ गया है, पर है वही । कुछ स्तुति-रूप आ गया है, जैसे 'लोगस्स' में है । पर स्तुति-रूप में है, उसमें प्रायश्चित्त की बात नहीं है । कुल मिला कर आवश्यक की जो व्यवस्था है, उसी अनुपात में प्रतिक्रमण किया जाता है। उसमें शब्दों का अन्तर, या भाषा का अन्तर कमोबेश हो सकता है; लेकिन भाव की दशा प्रतिक्रमण में एक ही रहती है ।

ने. : विज्ञान और मनोविज्ञान का जो विकास हुआ है; क्या प्रतिक्रमण पर उस संदर्भ में विचार किया जा सकता है ?

न. : यह तो बहुत अच्छी बात है । मनोविज्ञान मानता है कि यदि व्यक्ति में कोई दोष आये, तो उसके लिए वह आत्मावलोकन करे; आत्मावलोकन से वह पता लगा सकेगा कि क्रोध के न्यूनाधिक होने/आने पर उस पर नियंत्रण कैसे किया जा सकता है? किस प्रकार उसे दबाया, या बाहर ठेला जा सकता है? उसे यह अनुभूति भी होती है कि अधिक क्रोध आने पर प्रायश्चित्त या प्रतिक्रमण की प्रक्रिया अपना कर या इस प्रक्रिया को दोहराते हुए उनका क्रोध क्रमशः कम होता जाएगा, उस पर वह काबू पा सकेगा ।

ने. : प्रतिक्रमण यानी अपने दोष का बोध ?

न. : हाँ; जैसे, मुझे लगता है कि, मुझे गुस्सा आया है, या मुझसे किसी व्रत या नियम का उल्लंघन हुआ है, तो प्रतिक्रमण में उसका परिमार्जन हो जाएगा ।

ने. : यह भूतकाल से सम्बन्धित हुआ; प्रत्याख्यान हुआ ।

न. : प्रत्याख्यान का अर्थ है त्याग । हमारे जो व्रत-नियम हैं, वे प्रत्याख्यान में आते हैं । जो नहीं करना है, हमने उनका प्रत्याख्यान ले लिया है; 'वैसा नहीं करेंगे' यह प्रत्याख्यान है । जब ये नियम-व्रत टूटते हैं, तो दोष होता है, प्रतिगमन होता है ।

ने. : यह तो हो गया अतीत के बारे में; भविष्य के बारे में भी, क्या वर्तमान के विषय में भी हम सोचते हैं ?

न. : यह सब वर्तमान में तो हो ही रहा है । जब हम अतीत का प्रायश्चित्त कर रहे हैं, तब वर्तमान में ही हमारा संकल्प बना है कि यह दुबारा न हो; भविष्य में न हो । भविष्य के लिए एक मनोबल, आधुनिक शब्दों में कहें तो मानसिक दृढ़ता (विल पॉवर) की संघटना होती है । जब हम सदा प्रतिक्रमण करते हैं; और अगले दिन फिर वही करते हैं, तब सहज ही हमें अपनी मानसिक दुर्बलता का स्पष्ट भान होने लगता है ।

ने. : प्रतिक्रमण की इस प्रक्रिया को ले कर श्रावक या साधु में क्या अन्तर पड़ता है ?

न. : श्रावक और साधु के अपने-अपने स्वतन्त्र प्रत्याख्यान हैं । श्रावक के प्रत्याख्यान अपनी सीमा के हैं और साधु के प्रत्याख्यान अपनी सीमा के हैं; अतः श्रावक-प्रतिक्रमण तब होगा, जब वह अपनी सीमा का उल्लंघन करेगा : साधु का प्रतिक्रमण भी उसकी सीमा के उल्लंघन के अनुसार होगा । इस दृष्टि से भिन्नता है; बाकी आत्म-परिमार्जन की प्रक्रिया तो दोनों में एक-जैसी है ।

ने. : यदि श्रावक आत्म-परिमार्जन की प्रक्रिया में हो, तो प्रक्रिया-की-दृष्टि-से वह उस क्षण साधु ही होता है ?

न. : साधु जिस प्रक्रिया में है, उस प्रक्रिया में श्रावक है, यह तो हम कह सकते हैं, पर साधु वह उस क्षण नहीं है, क्योंकि साधु का गुणस्थान छठा है। मात्र प्रक्रिया-साम्य के कारण वह साधु नहीं होगा; क्योंकि उसने देशव्रत ले रखे हैं, वह प्रायश्चित्त कर रहा है कि अपनी परिणीता स्त्री के अतिरिक्त यदि ब्रह्मचर्य-भंग का दोष लगा है, तो मैं उसका प्रायश्चित्त कर रहा हूँ। यह उसके प्रायश्चित्त की सीमा हुई; लेकिन साधु के प्रायश्चित्त की सीमा यह होगी कि स्त्री-मात्र के प्रति यदि मेरी विपरीत भावना रही है, तो मैं उसका प्रायश्चित्त करता हूँ। दोनों अपने-अपने व्रतों की सीमा में रह कर अपनी-अपनी दृष्टि से, मन से, वाणी से कोई भी दोष आने पर प्रतिक्रमण करते हैं।

ने. : जब आप प्रतिक्रमण करते हैं, तो कैसा लगता है आपको ?

न. : स्नान-की-सी अनुभूति होती है एक तरह की। जैसे कोई स्नान करके शरीर-शुद्धि कर लेता है, उसी तरह का यह आत्मस्नान है। आत्मस्नान में शुद्धि की अनुभूति होती है बाद में। व्यक्ति अपने-आपमें हलकान महसूस करता है। जो भूलें या त्रुटियाँ हुई, जो दोष लगे; उन सबके लिए प्रतिक्रमण है।

ने. : लेकिन आप कैसा महसूस करते हैं ?

न. : महसूस करता हूँ, वही बोल रहा हूँ; जो बोल रहा हूँ, वही महसूस होता है। प्रतिक्रमण से बने अपने स्वभाव में भी परिवर्तन पाया है – बहुत चीजों में। आज मेरी उम्र के ६७ वर्ष पूर्ण हुए हैं।

ने. : ६८ वाँ चल रहा है।

न. : चालीस-पचास वर्ष पहले आवेश, उद्वेग या भावना आने की जो स्थिति थी, वैसी आज अनुभव नहीं करता। उसका कारण यही है कि प्रतिक्रमण में हमेशा आत्मावलोकन होता है। विचार अपने-आप आ ही जाता है कि यह क्यों हुआ; न हो तो अच्छा है, या आगे नहीं होगा। परिमार्जन होते-होते अनुभव में आयेगा कि स्वयं में बड़ा परिवर्तन हुआ है, कुल मिलाकर देखेंगे तब।

ने. : यह तो कसौटी हुई। प्रतिक्रमण में मान लीजिये, आप पाँच मिनिट के लिए बैठें, तो पहले से पाँचवें मिनिट तक जो अनुभव होता है, उसका क्रमबद्ध (क्षणानुसारी) वर्णन कर सकते हैं ?

न. : इस प्रकार मिनिट-दर-मिनिट का नहीं होता, क्योंकि हमारे यहाँ व्यवस्था है कि प्रतिक्रमण अड़तालीस मिनिट – एक अन्तर्मुहूर्त में समाप्त होना चाहिये।

ने. : पहले नहीं होना चाहिये ?

द. : पहले भी हो सकता है।

ने. : आप जो प्रतिक्रमण करते हैं, तो क्या वह ४८ मिनिट चलता है ?

न. : ज़रूरी नहीं है; वह तो स्वयं में संस्कारमूलक प्रक्रिया है।

ने. : हमारे यहाँ जो प्रतिक्रमण है, वह परिभाषित, निश्चित अथवा निर्धारित है, अपने-आप में परिपूर्ण है?

न. : हाँ।

ने. : क्या उसमें कहीं किसी संशोधन की आवश्यकता है?

न. : नहीं; उसमें पहले ही वहुत सारे संशोधन हो चुके हैं।

ने. : यदि पहले संशोधन हो चुके हैं, तो इसका मतलव यह हुआ कि अभी भी संशोधन की संभावना है।

न. : ये परिवर्तन आचार्यों ने किये हैं। जैसे, 'लोगस्स' के ध्यान का विधान है।

ने. : 'लोगस्स' क्या है?

न. : 'लोगस्स' का पूरा पाठ है, यह स्तुति है। 'शक्रस्तव' 'नमोत्थुणं' इसके अन्य नाम हैं। यह २४ तीर्थंकरों की स्तुति है।

ने. : आपको कोई ऐसी घटना याद आती है, जब आपने अपने शिष्यों से प्रतिक्रमण या प्रत्याख्यान करवाया हो?

न. : वैसे यह प्रतिदिन का काम है।

ने. : कभी कोई विशेष घटना घटित हुई हो; कई वार कुछ घटनाएँ महत्त्वपूर्ण होती हैं।

न. : साधु-जीवन या छद्मस्थ जीवन में थोड़ी-वहुत वातें तो होती ही रहती हैं या करना ही पड़ती हैं। देना भी पड़ता है, लेना भी पड़ता है।

ने. : सामायिक और प्रतिक्रमण में आप क्या अन्तर करेंगे?

न. : श्वेताम्वरों में सामायिक का मुख्यतः श्रावकों के लिए विधान है। श्रावक मुहूर्त-भर के लिए साधु-जैसी चर्या में आ जाता है। अन्तर्मुहूर्त के लिए वह वही करता है, जो साधु करता है।

ने. : ४८ मिनिट?

न. : हाँ, स्वाध्याय करें, आत्मचिंतन करें, ध्यान करें, सांसरिक–घर-परिवार की, या व्यवसाय-व्यापार आदि की वातें न करें।

ने. : क्या हम यह कह सकते हैं कि सामायिक में श्रावक ४८ मिनिट का साधु होता है?

श्चित्त निर्धारित हैं। हम उन्हें लेते हैं। लेने वाले स्वयं जानते हैं कि अमुक दोष के लिए अमुक प्रायश्चित्त है।

ने. : क्या यह गुरु के समक्ष ही होता है ?

न. : हाँ।

ने. : अच्छा, यह बताइये कि आपको खुले में प्रतिक्रमण करना अच्छा लगता है या किसी बन्द मकान में ?

न. : खुले में रात में बैठने का हमारे यहाँ विधान नहीं है।

ने. : सवेरे खुले आकाश के नीचे प्रतिक्रमण हो सकता है ?

न. : प्रतिक्रमण का जो समय है, वह सूर्योदय के एक मुहूर्त पहले, शाम को सूर्यास्त के एक मुहूर्त बाद; वस्तुतः ये ऐसे समय-बिन्दु हैं, जब रात रहती है।

ने. : यानी खुले में प्रतिक्रमण नहीं हो सकता। आपको किसी मकान में ही करना पड़ेगा, किसी छत के नीचे। यदि आप विहार में हुए तो ?

न. : विहार हम इस प्रकार आयोजित करते हैं कि सूर्यास्त के पहले यथास्थान पहुँच जाएँ। सूर्यास्त से पूर्व हमारे अन्य काम भी होते हैं; जिनसे यथासमय निवृत्त होना होता है।

ने. : अच्छा, एक बात बताइये कि मन पर नियंत्रण सर्दी में अधिक अच्छा हो पाता है या गर्मी में या वर्षा में ?

न. : वैसा कोई फ़र्क़ मैंने अनुभव नहीं किया (हँसी)।

ने. : प्रतिक्रमण में आपको अधिक आनन्द कब आता है; गर्मी में, सर्दी में या वर्षा में ?

न. : वैसा कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। उसमें ऋतुओं का कोई कारण नहीं होता।

ने. : कभी ज़ोर का पानी बरस गया या ज़ोर की हवा चली तो भी नहीं।

न. : नहीं; ऋतु का कोई प्रभाव मैंने अनुभव नहीं किया। कभी एकाध बार मन विशेष रूप से एकाग्र नहीं हो पाता, यह सामान्य स्थिति है, उसमें ऋतुओं का प्रभाव होता है, ऐसा नहीं है। वह सब मनःस्थितियों पर ही निर्भर करता है। जैसे, दसों काम पड़े हैं, लिखना है, पढ़ना है, पत्रों के जवाब देना है, मन यदि उनमें पड़ा है, तो फिर एकाग्रता नहीं भी सधती है।

ने. : ऐसे विकल्प आपको होते हैं ?

न. : हाँ; कभी समस्याएँ भी होती हैं; काम भी रहते हैं, जिससे ध्यान में अन्तर आ जाता है।

ने. : क्या प्रतिक्रमण का आधुनिक संस्करण हो सकता है ?

न. : ज़रूरी नहीं है; वह तो स्वयं में संस्कारमूलक प्रक्रिया है।

ने. : हमारे यहाँ जो प्रतिक्रमण है, वह परिभाषित, निश्चित अथवा निर्धारित है, अपने-आप में परिपूर्ण है?

न. : हाँ।

ने. : क्या उसमें कहीं किसी संशोधन की आवश्यकता है?

न. : नहीं; उसमें पहले ही बहुत सारे संशोधन हो चुके हैं।

ने. : यदि पहले संशोधन हो चुके हैं, तो इसका मतलब यह हुआ कि अभी भी संशोधन की संभावना है।

न. : ये परिवर्तन आचार्यों ने किये हैं। जैसे, 'लोगस्स' के ध्यान का विधान है।

ने. : 'लोगस्स' क्या है?

न. : 'लोगस्स' का पूरा पाठ है, यह स्तुति है। 'शक्रस्तव' 'नमोत्थुणं' इसके अन्य नाम हैं। यह २४ तीर्थंकरों की स्तुति है।

ने. : आपको कोई ऐसी घटना याद आती है, जब आपने अपने शिष्यों से प्रतिक्रमण या प्रत्याख्यान करवाया हो?

न. : वैसे यह प्रतिदिन का काम है।

ने. : कभी कोई विशेष घटना घटित हुई हो; कई बार कुछ घटनाएँ महत्त्वपूर्ण होती हैं।

न. : साधु-जीवन या छद्मस्थ जीवन में थोड़ी-बहुत बातें तो होती ही रहती हैं या करना ही पड़ती हैं। देना भी पड़ता है, लेना भी पड़ता है।

ने. : सामायिक और प्रतिक्रमण में आप क्या अन्तर करेंगे?

न. : श्वेताम्बरों में सामायिक का मुख्यतः श्रावकों के लिए विधान है। श्रावक मुहूर्त-भर के लिए साधु-जैसी चर्या में आ जाता है। अन्तर्मुहूर्त के लिए वह वही करता है, जो साधु करता है।

ने. : ४८ मिनिट?

न. : हाँ, स्वाध्याय करें, आत्मचिंतन करें, ध्यान करें, सांसरिक–घर-परिवार की, या व्यवसाय-व्यापार आदि की बातें न करें।

ने. : क्या हम यह कह सकते हैं कि सामायिक में श्रावक ४८ मिनिट का साधु होता है?

न. : हाँ, ४८ मिनिट के लिए वह श्रमणवत् हो जाता। श्रमणवत् पम्परा है। ऊपर से नहीं दीखे, तो अलग बात है। कुछ नियम और भी हैं।

ने. : संभावना है कि यह मुहूर्त धीरे-धीरे जीवन का महान् अतिथि बन जाए।

न. : कुछ श्रावक आगे चल कर साधु बनते भी हैं। वे इसी तरह साधना करके ही बनते हैं। साधु-जीवन की साधना हो सकती है उसका अभ्यास संभव है। इससे मनोवल में वृद्धि होती है।

ने. : आप यदि १ से ४८ मिनिट का पूरा विवरण देते किसी समय के प्रतिक्रमण का, तो ज्यादा अच्छा होता। जैसे, आप पहले मिनिट में बैठे और ४८ वें मिनिट पर प्रतिक्रमण संपन्न किया। इतने समय की संपूर्ण चर्या आप बता सकेंगे क्या ?

न. : उसे अलग से क्या बताऊँ? वह तो सुनिश्चित है पहले स्तुति, वीच में ध्यान की प्रक्रिया।

ने. : इसमें मन-की-स्थिति क्या रहती है ?

न : वचन-रूप में प्रतिक्रमण एक रूप होगा। यह निर्धारित है। इसकी शब्दावली भी निश्चित है।

ने : मैं जो अनिर्धारित है, उसकी वात कर रहा हूँ।

न : जो अनिर्धारित है, उसकी अपनी-अपनी अनूभूति हो सकती हैं।

ने : मैं आपकी अनुभूति की बात कर रहा हूँ।

न : मैंने पहले ही वताया है कि प्रतिक्रमण में बहुत-कुछ आत्मपरिमार्जन हुआ है, और मैंने उसका अनुभव किया है।

ने : उसमें आपने आत्मविकासोन्मुखता अनुभव की है यानी इससे व्यक्तित्व विकसित होता है।

न : हाँ, आन्तरिक पवित्रता वढ़ती है। प्रतिक्रमण वहुत-कुछ लिखित होता है। जव कोई वोलता है, तो उसके वोलने में से तो वह प्रतिध्वनित होता ही है, क्योंकि दीक्षा के पहले प्रतिक्रमण याद करवाया जाता है। नियम लेते हैं, उनके उल्लंघन पर 'मिच्छामि दुक्कडं' करना होता है। यह प्रतिदिन की प्रक्रिया है, इससे भी परिमार्जन होता ही है। मानसिक रूप में व्यक्तित्व का विकास होता है। आज हम १ अक्टूवर महात्मा गाँधी की जयन्ती की पूर्वसंध्या पर संयोगवश प्रतिक्रमण-जैसी अहिंसात्मक प्रक्रिया पर विचार कर रहे हैं, जिसमें व्यक्ति अपने-आपको देखता है। भगवान् महावीर ने कहा था कि 'अपनी आत्मा से अपनी आत्मा को देखो' उनका यही सन्देश प्रतिक्रमण में यथार्थ चरितार्थ होता है।

गोपीलाल अमर : प्रक्रिमण की प्रक्रिका में गुणस्थान कौन कौन-सा होता है ? छठा या सातवाँ ?

न. : गुणस्थान प्रतिक्रमण की प्रक्रिया से नहीं वदलता। हम आध्यात्मिक विपय की चर्चा में लीन हैं, शरीर में कोई प्रमाद की स्थिति नहीं है, तो आप वहाँ ७ वाँ गुणस्थान मान लीजिए।

गो. : कहा जाता है कि ध्यान की अवधि अन्तर्मुहूर्त है, उससे अधिक वह हो ही नहीं सकता, चाहे कोई भी करे; वैसे ही क्या प्रतिक्रमण ४८ मिनिट से ज्यादा का संभव नहीं है?

न. : अनुष्ठान और परम्परा के रूप में प्रतिक्रमण की अवधि निर्धारित है अन्तर्मुहूर्त तक। वैसे भावना-रूप प्रतिक्रमण सतत् चलता है।

गो. : प्रतिक्रमण में जो पारम्परिक पाठ है : 'वंदित्तु' 'लोगस्स' आदि प्रायः इन पाठों में ही ज्यादा समय निकल जाता है फिर अपने दोषों पर दृष्टि डालने के लिए समय कहाँ वच रहता है? ४८ मिनिट इसीमें समाप्त हो जाते हैं।

न. : पूर्व आचार्यो ने प्रतिक्रमण की जो प्रक्रिया निर्धारित की है, उसमें सभी संभावित दोषों का नामोल्लेख हुआ है। सारी संभावनाएँ उसमें हैं।

गो. : जो दोष हमसे होते हैं, उनका विशेष रूप में उल्लेख यहाँ हो पाता है; सामान्य नाम हमने ले लिया। हम ढर्रे में चल कर सारी चीजें समेटते हैं। खासतौर से हमसे जो दोष हुआ है, उसके उल्लेख से चूक जाते हैं।

न. : जैसा मैंने कहा था, गुरु के या वड़े के समक्ष वोल कर अपने दोषों का प्रत्याख्यान करना होता है।

गो. : आपने कहा था कि सभी चीजें वँधी-वँधायी हैं, इसका क्या मतलव हुआ?

न. : परम्परित हैं। यह एक निर्धारित प्रक्रिया है। प्रतिक्रमण एक अनुष्ठान के रूप में, एक प्रक्रिया के रूप में निर्धारित है, इसे इसी क्रम में वोलना होता है।

गो. : वँधी-वँधायी, यानी निर्धारित?

न. : यह तो है ही, इसके अतिरिक्त कोई ध्यान करे, या आत्मचिन्तन करे, तो कर सकता है।

गो. : कभी-कभी यह होता है कि प्रतिक्रमण में मन ही नहीं लगता है, क्यों नहीं लगता है?

न. : जव तक साधु, या श्रावक छद्मस्थ है, तव तक उस पर नाना परिस्थितियों का अनुकूल / प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इस प्रदूषित परिस्थिति में कभी-

कभी प्रतिक्रमण में मानसिक स्थिरता की दृष्टि से फर्क पड़ता है—कभी मन साम्य की स्थिति में है, तो कभी विषमता की स्थिति में। इसका अन्तर, या प्रभाव प्रतिक्रमण पर पड़ सकता है।

गो. : आपने फरमाया कि प्रतिक्रमण में संशोधन पहले हो चुके हैं; कैसे?

न. : जो निर्धारित प्रक्रिया से चल रहा है, उसमें अन्तर है। जैसे, श्वेताम्बरों की बात मैं जानता हूँ। उनमें मन्दिर-मार्गी संप्रदाय में साधुगण जो प्रतिक्रमण करते हैं, उसमें बहुत समय लगता है – दो-तीन घण्टे लग जाते हैं। ऐसा उनका विधि-विधान है, परम्परा है। जो स्थानकवासी हैं, तेरापंथी संप्रदाय के हैं, उनमें प्रतिक्रमण की प्रक्रिया अन्तर्मुहूर्त की है अर्थात् सूर्योदय-से-पूर्व और सूर्यास्त-के-बाद के अन्तर्मुहूर्तों में उसे समाप्त होना ही चाहिये।

गो. : आपने कहा कि सामायिक विशेषतया श्रावकों के लिए है; वह उनके चार शिक्षाव्रतों में शामिल है।

न. : यह जो व्यवस्था है बारह व्रतों की, श्रावकों के लिए है, उसमें सामायिक भी है। श्रावक अपनी सीमा बाँधता है ; उसमें सामायिक भी एक अलग व्रत है, पौषध भी है।

गो. : आपने कहा था कि उस समय सामायिक में श्रावक भी साधुवत् हो जाता है।

न. : सामायिक में श्रावक जो ध्यान / चिंतवन करता है, इस दृष्टि से वह साधुवत् होता है। वह उसके लिए साधु-चर्या का अभ्यास-मात्र है।

गो. : प्रतिक्रमण के संदर्भ में एक शब्द 'प्रत्याख्यान' आता है; उधर 'प्रत्याख्यान कषाय' भी है। क्या इन दोनों में कोई रिश्ता है?

न. : वहाँ कषाय की प्रक्रिया में प्रत्याख्यान का वर्गीकरण है, वह है कषाय की गुणात्मकता से संबंधित वह स्वतन्त्र वर्गीकरण है।

गो. : 'प्रत्याख्यान' का अर्थ आपने छोड़ना, या त्याग करना बताया है; लेकिन अमरकोश में तो 'त्यागना' का उल्लेख नहीं है।

न. : जैन दर्शन के अपने पारिभाषिक शब्द हैं, वे जैन कोशों में ही मिल सकते हैं, अर्थात् जैनाचार्यों द्वारा निर्मित कोशों में ही उन्हें ढूंढ़ना चाहिये; जैसे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय हैं, वे अन्य कोशों में तो मिलेंगे नहीं जैनाचार्यों द्वारा संपादित शब्दकोशों में ही इन / ऐसे शब्दों का समावेश हुआ है; क्योंकि यहाँ दर्शन-का-सीमाक्षेत्र भी आ जाता है। जिस संदर्भ में जैन दर्शन में चिन्तन है, उसके अपने शब्द हैं, उनकी अपनी पारिभाषिकता है; इतर दर्शनों में वैसा चिन्तन न होने से इतर कोशों में उनका समावेश नहीं हुआ है। दर्शन-की-सीमा के कारण ही यह अर्थगत भेद है। □

कायोत्सर्ग में प्रवेश की विधि

कायोत्सर्ग में प्रवेश के लिए ऐसे स्थान का चुनाव आवश्यक है, जहाँ बाहर का वातावरण शान्त हो एवं अन्य व्यक्तियों के आवागमन की स्थिति न हो। बाहर के क्षुद्र जन्तु, मक्खी, मच्छर, चीटियों का प्रकोप न हो, क्योंकि इनसे चंचलता अकारण ही उत्पन्न होने लगती है। शरीर को शव की तरह लिटा कर कायोत्सर्ग में प्रवेश की सरल विधि है। कम्बल अथवा भूमि पर सीधा लेटें। दोनों हाथों को मस्तक के ऊपर ले जा कर लेटे-लेटे ताड़ासन अथवा अंगड़ाई भरने की क्रिया करें। शरीर का ऊपरी भाग ऊपर की ओर और निचला भाग पंजों तक नीचे की ओर खींचें और शरीर को शिथिल छोड़ दें। हाथ शरीर के बराबर तथा हथेलियाँ आकाश की ओर खुली रहें। पाँवों में परस्पर दो फुट (एक हाथ) का फासला रहे। आँखों को कोमलता से मूंद कर श्वास-प्रश्वास पर मन को केन्द्रित करें। प्रत्येक श्वास-उच्छ्वास के साथ समता और शान्ति की भावना करें। श्वास फेफड़ों एवं अन्य अवयव में जाते हैं, उसके साथ समता और शान्ति भी प्रत्येक कोशिका में जाएँ और शरीर की एक-एक कोशिका में स्थित तनाव को विसर्जित करें। श्वास बाहर फैले उस समय समता और शान्ति को अपने चारों ओर फैलने दें। श्वास पर मन को केन्द्रित करें। प्रत्येक श्वास जानकारी से ही अन्दर जाए और बाहर लौटे। चित्त को मस्तक पर टिकायें। चित्त के प्रकाश में मस्तक की एक-एक कोशिका को सूचित करें कि वह शिथिल हो जाए।

मन-ही-मन दुहरायें मेरे मस्तक की एक-एक कोशिका तनाव से मुक्त एवं शिथिल हो रही है; जैसे टॉर्च के प्रकाश को किसी वस्तु पर डाल कर उसे अच्छी तरह देखते हैं। जिस अवयव पर प्रेक्षा करनी हो उस अवयव पर चित्त को ले जाएँ और वहाँ निर्देश दें कि मेरा मस्तिष्क शिथिल हो रहा है। मस्तक के आश्र्व-पार्श्व हिस्से पर मन को ले जाएँ, ललाट के हिस्से पर मन को ले जा कर उसे मन-ही-मन शिथिल होने का निर्देश दें। इस प्रकार क्रमशः मुख, कान, नाक, होंठ, ठुड्डी आदि सामने के अवयवों को निर्देश दें, मन-ही-मन दुहरायें। मस्तक के पीछे का हिस्सा गर्दन आदि को उसी प्रकार निर्देश दें। दोनों कन्धों को फिर दाहिने हाथ पर मन लगा कर निर्देश दें कि हाथ शिथिल और तनाव-मुक्त हो जाएँ। सीना, हृदय, फेफड़े को भी शिथिल होने का निर्देश दें। आमाशय, यकृत, लघु आँत, वृहद् आँत, पेट के समस्त अवयवों को शिथिल होने के निर्देश दें। मेरुदण्ड, पीठ का भाग, कटिप्रदेश, नाभि को सुझाव दें कि वे शिथिल हो जाएँ; घुटने, पिण्डी, टखने, पँजे एवं अंगुष्ठ तक सम्पूर्ण शरीर के एक-एक अवयव को शिथिल होने का निर्देश दें। दूसरे दौर में शरीर के प्रत्येक अवयव को सुझाव दें और मन-ही-मन अनुभव करें शरीर शिथिल हो रहा है... शरीर शिथिल हो रहा है।

कुछ देर रुकें और अनुभव करें कि शरीर शिथिल हो गया है। शरीर का एक-एक अवयव एक-एक कोशिका शिथिल हो गयी है। इससे शरीर शिथिल, तनाव-मुक्त, और शान्त एवं स्थिर बन जाता है।

कायोत्सर्ग का एक और सरल प्रयोग रात्रि-शयन करते हुए किया जा सकता है। शैया में शयन के लिए सीधे लेटें। अँगड़ाई भरते हुए ऊपर के शरीर को ऊपर की ओर खिंचाव दें, कटि से नीचे के हिस्से को नीचे की ओर खिंचाव दें,

फिर हाथों को शरीर के समानान्तर ले जाएँ। हथेलियों को आकाश की ओर खुला रखें। पाँव को एक-दूसरे से दो फुट के फासले पर रखें । आँखें कोमलता से मूँदें। श्वास पर मन को केन्द्रित करें। प्रत्येक श्वास के साथ समता और शान्ति की भावना करें; जैसे नाक से शान्ति को पी रहे हों. रोम-रोम में समता और शान्ति प्रवेश कर रही है। शरीर का अणु-अणु शिथिल और तनाव-मुक्त हो कर विश्रान्ति में प्रवेश करने लगता है। इस प्रयोग के चार परिणाम स्पष्ट रूप से अनुभव में आयेंगे :

१. नींद में तत्काल प्रवेश।

२. गहरी और दुःस्वप्न-रहित निद्रा।

३. स्वभाव-परिवर्तन, कषाय की उपशान्ति।

४. वुद्धि की निर्मलता, स्मरण-शक्ति का विकास।

कायोत्सर्ग का परिणाम

कायोत्सर्ग से शरीर, मन एवं ग्रन्थियाँ ही प्रभावित नहीं होतीं, अपितु चैतन्य का एक-एक प्रदेश झंकृत होने लगता है। कायोत्सर्ग के परिणाम केवल वैयक्तिक ही नहीं हैं, उससे समाज, राष्ट्र एवं विश्वचेतना प्रभावित होती है। आचार्यश्री भद्रबाहु ने कायोत्सर्ग के परिणामों का उल्लेख करते हुए सात प्रमुख परिणामों की चर्चा की है :

१. देहजाड्यशुद्धि : श्लेष्म आदि दोषों के क्षीण होने से देह की जड़ता नष्ट होती है।

२. परमलाघव : शरीर वहुत हल्का हो जाता है।

३. मतिजाड्यशुद्धि : जागरूकता के कारण वुद्धि की जड़ता नष्ट हो जाती है।

४. सुख-दुःख-तितिक्षा : सुख-दुःख को सहने की क्षमता वढ़ती है।

५. सुख-दुःख मध्यस्थता : सुख-दुःख के प्रति तटस्थ रहने का मनोभाव वढ़ता है।

६. अनुप्रेक्षा : अनुचिन्तन के लिए स्थिरता प्राप्त होती है।

७. मन की एकाग्रता सधती है।

कायोत्सर्ग से शरीर की शुद्धि होती है, यह निर्विवाद सत्य है। प्रेक्षाध्यान शिविरों एवं अन्य साधकों पर किये गये प्रयोग अत्यधिक सफल रहे। कायोत्सर्ग से वुद्धि की निर्मलता वढ़ती है। शिथिलीकरण की इस प्रक्रिया से तन की शुद्धि के साथ मानसिक शान्ति एवं अध्यात्म की भूमिका का निर्माण होता है। कायोत्सर्ग देह-शुद्धि और मानसिक शान्ति के साथ अध्यात्म की भूमिका को प्रशस्त वनाती है।

कायोत्सर्ग से कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) क्षीण होते हैं। कायोत्सर्ग के अभ्यासी भाई-वहिन प्रेक्षा से अनुभव करते हैं कि कायोत्सर्ग की प्रक्रिया से स्वभाव-परिवर्तन स्वतः होने लगता है।

कायोत्सर्ग शरीर से विमुक्ति की प्रक्रिया है। इससे अनासक्ति का भाव उत्पन्न होता है। इसमें प्रवेश के नाना मार्ग हैं— शारीरिक क्रियाएँ, आसन, जप-तप आदि। इसके अतिरिक्त भावना, संकल्प, त्राटक एवं अन्य अनेक प्रक्रियाएँ हैं। इन सबके माध्यम से देह-मुक्ति की यात्रा होती है। □□

प्रतिक्रमण : अवशिष्ट संदर्भ

अध्यात्म पत्रसार (श्री भद्रंकरविजय गणिवर तथा शेठ श्री अमृतलाल कालीदास दोशी के पत्र-व्यवहार का संकलन; 'लोगस्स सूत्र,' 'चैत्यवंदन-सूत्र, कायोत्सर्ग, प्रतिक्रमण से सम्बन्धित पत्रांश) : संपादन : चन्द्रकान्त अमृतलाल दोशी; जैन साहित्य विकास मंडल, ९६-बी, स्वामी विवेकानन्द मार्ग, इरला, विले पारले (पश्चिम), बम्बई-४००-०५६; १९८४।

काउस्सग्ग (विशेषांक) : 'जिनसंदेश' - गुजराती, बम्बई, नवम्बर, १९८४।

क्रिया-कलाप : (प्रतिक्रमणाध्यायो द्वितीय, पृ. ४७-१२४) : संपा.-संशो. पन्नालाल सोनी शास्त्री; श्री ऐलक पन्नालाल दि. जैन सरस्वती भवन, झालरापाटन/सुखानन्द धर्मशाला, बम्बई-४; १९३५।

चित्त चारित्र विशुद्धि (चार भाव प्रतिक्रमण, गुजराती) : व्याख्याता : संतबाल; महावीर साहित्य प्रकाशन मंदिर, हठीभाई की वाडी, दिल्ली दरवाजा के बाहर, अहमदाबाद-३८०-००४; १९८४।

पाक्षिक श्रावक प्रतिक्रमण : ब्र. चुन्नीलाल देशाई; श्री जैन स्वाध्याय मंडल, कुचामन सिटी (राजस्थान), १९५५।

श्रावक प्रतिक्रमण : अनु. : मुनि सुधर्मसागर; भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, १४८, वाराणसी घोष स्ट्रीट, कलकत्ता, १९३४।

श्रावक प्रतिक्रमण : संपा. : पं. मोहनलाल जैन शास्त्री; श्री सहजानन्द शास्त्रमाला, पुरानी चरहाई, जबलपुर (म.प्र.), १९५३।

साधना रत्नत्रयी : आचार्य तुलसी; जागृत युवक संघ, हैदराबाद (आंध्रप्रदेश)।

सामायिक पाठादि संग्रह (श्रावक प्रतिक्रमण पाठ सहित) संक.-अनु. : पं. दीपचन्द्र पांड्या जैन; मिश्रीलाल कटारिया जैन, श्री दि. जैन युवक संघ, केकड़ी (अजमेर); १९५३।

□□

प्रतिक्रमण-शब्दकोश

(शब्द-संख्या 265)

'प्रतिक्रमण/सामायिक विशेषांक' (वर्ष १४, अंक ६-७; अक्टूबर-नवम्बर १९८४) के पृष्ठ १२७–१३१ पर प्रकाशित 'प्रतिक्रमण/सामायिक शब्दकोश' की पूर्ति।

अंडाइया=अंडज; अंडे से उत्पन्न होने वाले जीव चील, कबूतर आदि।
अंबित=खट्टा, आम्ल।
अइरित्त=अतिरिक्त, अलावा।
अक्ख=समुद्र में पाया जाने वाला एक द्वीन्द्रिय जन्तु।
अग्गीव=आग की तरह सर्वभक्षी।
अचक्खुविसए=अंधकार में।
अणंग=विषयाभिलाष; रमण की इच्छा।
अणवट्ठाण=अनवस्थान; निर्धारित समय से पूर्व सामायिक संपन्न कर लेना; जैसे-तैसे हड़बड़ी में सामायिक पूरी कर लेना।
अणादर=उत्साह-रहित हो कर सामायिक करना।
अणाभोग=अनजाने।
अनिह्णव=जिससे ज्ञान प्राप्त हुआ हो उस गुरु, ग्रन्थ, या स्रोत को न छिपाना।
अणुओग(अ)=अनुयोग; जैनागम के ४ विभाग : प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग; अर्थ के साथ सूत्र की अनुकूल/सुचिन्तित योजना।
अणुओगदार=अनुयोगद्वार; वस्तु-स्वरूप के कथन में प्रयुक्त अधिकार : निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति, विधान; १४ मार्गणाओं मे सम्बन्धित पदार्थ तथा तज्जनित ज्ञान।
अणुमण्ण=अनुमत, अनुमोदित (अप्रूव्ह्ड)।
अणुमइ=अनुमति; अनुमोदन।
अणेय=अनेक।
अण्णहा=अन्यथा, अन्य प्रकार से।
अदिक्कमण=अतिक्रमण; सीमा/मर्यादा का उल्लंघन।
अत्थक्खाण=अर्थाख्यान; अर्थ-प्रतिपादन।
अदिगिद्धीए=गीधना; गिद्ध की तरह अधिक लोभ-लालच में पड़ना; अ.रू. अइगिद्धीए।
अदिण्णदाण=अदत्तादान; बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण।
अपरिग्गहिआ=अपरिगृहीता; रखैल; वेश्या, कन्या आदि अविवाहित स्त्री।
अप्पडिवेक्खिदापमज्जिदोस्सग्ग=अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग; बिना देखी, बिना स्वच्छ की हुई ज़मीन पर मल-मूत्रादि डालना/फेंकना।
अप्पसत्थ=अप्रशस्त, असुन्दर, खराब।
अप्पासुयट्ठाण=अप्रासुकस्थान; जीवजन्तु-युक्त स्थान।
अब्भंतरदो=अभ्यन्तरतः; भीतर का; समीप का।
अब्भक्खाण=अभ्याख्यान; झूठा अभियोग; असत्य दोषारोपण।
अब्भावकास=अभ्रावकाश; खुला मैदान।

असमीक्खियाहिकरण=असमीक्ष्याधिकरण; मन, वचन, काया की प्रयोजन-रहित आवश्यकता से अधिक प्रवृत्ति।
अमणुण=अमनोज्ञ, असुन्दर।
अवत्थंडिल=अपस्थण्डिल; साधुओं के रहने के अयोग्य स्थान; क्षुद्र जन्तुओं से व्याप्त स्थान।
असंखेज्ज=असंख्येय, संख्यातीत, गणनातीत।
असच्च=असत्य।
असमाहिं=असमाधि, मन की अस्वस्थता; रागद्वेष, प्रमाद आदि की स्थिति।
अहावर=यथा+अपर; तदनन्तर; इसके बाद; 'आहावरे' पाठ भी मिलता है।
अहिगरण=अधिकरण; असंयम; आत्मभिन्न; हिंसा का उपकरण; पापजनक क्रिया।
अहिवंदिदूण=अभिवन्दन करके।
अहोरदि=दिन-रात (अहन्+रात्रि)।
आणयण=मर्यादा से बाहर की वस्तु मँगाना; आनयन।
आदाणणिक्खेवण=आदान-निक्षेपण; चौथी समिति; उपकरणों को उठाने-रखने की क्रिया।
आभोग=जानते हुए; उपयोग; ज्ञान; विलोकन।
आवस्सय=आवश्यक; ये छह हैं।
आसम=आश्रम; तापस आदि का स्थान।
आहाकम्म=अधःकर्म; आधाकर्म; किसी विशिष्ट साधु को मन में रख कर उसके निमित्त सचित्त/अचित्त आहार बनाना; किसी साधु को कारण मान कर किये जाने वाले पचन-पाचन आदि कार्य।
इंगाली=इंगालकम्म; कोयला आदि बनाने/बेचने का व्यापार; अंगार-कर्म।
इआर=अतिचार; लिये गये व्रत, या नियम में दूषण; अ.रू. अइयार।
इत्तरगहिआ=इत्वरगृहीता; कुछ समय के लिए रखी गयी स्त्री; कुलटा; व्यभिचारिणी; (इत्वर+अल्प)।
इत्तरियागमण=इत्वरिकागमन; कुलटा स्त्रियों के पास आना-जाना/उनसे सम्बन्ध रखना।
इत्थिकहा=स्त्री-रागकथा।
इत्थिकहायत्तण=स्त्री-रागकथा सुनना।
उच्चार=मलोत्सर्ग; मल-त्याग; शौचादि क्रिया।
उद्दावण=उत्तापन; मृत्युतुल्य पीड़ा; अपद्रावण; उत्पीड़न।
उद्दिट्ठ=लक्षित, कथित, संकल्पित, निर्दिष्ट।
उद्दिट्ठविरदि=लक्षित दोष क्रियाओं का त्याग; ११ वीं प्रतिमा।
उद्देहिय=उद्देहिक, दीमक (व्हाइट एंट)।
उब्भेदिम=ऐसे पंचेन्द्रिय जीव जो पृथ्वी को फाड़ कर बाहर निकल आते हैं और पुनः यथास्थान लौट जाते हैं; पृथ्वीगर्भ में रहने वाले पंचेन्द्रिय जीव।
उवघाद=उपघात; विराधन, विनाश; दूसरे का अशुभ चिन्तन।
उवयरण=उपकरण; साधन, साधक-वस्तु।
उववादिक=उपपाद; देव या नारक की उत्पत्ति, जो रज-वीर्य के बिना होती है।
उवहाण=उपधान ज्ञानाचार; अमुक अनुयोगद्वार की समाप्ति तक अमुक वस्तु का त्याग या एक-दो उपवासों का संकल्प।

ओमोदारिय=अवमौदार्य; मनुष्य सामान्यतया ३२ कौर आहार लेता है, इनमें से कम करते-करते एक कौर तक आना; ऊनोदर।

कंदप्प=कन्दर्प; रागपूर्वक हास्ययुक्त अशिष्ट/अश्लील वचन बोलना।

कट्ठ=घास; चटाई, आस्तरण-विशेष।

कट्ठकम्म=काष्ठकर्म; दो, चार, या बिना पैर, या बहुत पैर वाले प्राणियों की लकड़ी में आकृतियाँ उकेरना।

करेमि=करता हूँ।

कव्वड=खर्वटक; पहाड़ी इलाके में बसा/घिरा नगर; खराब नगर।

कादूण=करके।

कामतिव्वाभिणिवेस=काम-सेवन की अदृप्त वासना/इच्छा।

कायदुप्पणिधाण=काययोग दुष्प्रणिधान, शरीर की अन्यथा प्रवृत्ति करना।

कालादिक्कमण=कालातिक्रमण; उचित काल का उल्लंघन कर अयोग्य काल में आहारादि देना।

कीद=क्रीत; खरीदा हुआ।

कीरंतो=क्रियमाण; करते हुए; वे कर्म जो प्रस्तुत काल में किये जा रहे हों; किये जाने की क्रिया का निरन्तर/जारी रहना; √कृ+शानच्; अ.रू. कीरमाण।

कुंथु=कुन्त; जूँ का एक प्रकार; तीन इन्द्रियधारी जूँ की तरह का एक जीव (लाउस)।

कुक्कुअ=कुत्कुच; भाँड़ की तरह शरीर के अवयवों से कुचेष्टाएँ करने वाला; कुचेष्टा करते हुए अश्लील वचन बोलना।

कुक्कुअए=अनुचित शरीर-चेष्टा; कौत्कुच्य।

कुक्खिकिमि=कुक्षिकृमि; पेट में पड़ने वाले परजीवी कृमि (इंटेस्टाइनल पेरेसाइट्स)।

कुप्प=धातु/मिट्टी आदि से बने बर्तन।

कूड=कूट; छलयुक्त (कूडतुल=झूठा तोल, कूडमाण=झूठा नाप)।

कूडलेहणकरणअ=कूटलेखनक्रिया; फर्जी दस्तावेज आदि तैयार करना/लिखना।

खादिय=खाद्य; अ.रू. खाइअ।

खुल्लय=क्षुल्लक, लघु, क्षुद्र; एक प्रकार की कौड़ी, कवची (ए स्मॉल शेल)।

खेत्तवत्थू=खेत तथा वास्तु/मकान आदि से सम्बन्धित।

खेड=खेट; नदी तथा पर्वतों से वेष्टित नगर।

खेल=श्लेष्मा; कफ।

गंडवाल=गिंडोला; गण्डोल (दो इन्द्रियधारी)।

गरहा=गर्हा; गुरु के समक्ष किया जाने वाला आत्मालोचन; निन्दा।

गारव=अभिमान, अहंकार।

गिण्हिदं=गृहीत; स्वीकृत; लिया गया (प्रा.क्रि. गिण्हइ)।

गुणव्वद=गुणव्रत; अणुव्रतों के उपकारक व्रत; ये ३ हैं।

गुत्ती=गुप्ति; मन, वचन, काय का सम्यक् रूप से निग्रह; ये ३ हैं।

चउव्विह=चतुर्विध, चार प्रकार का ।
चक्कल=पाट, गोल पाट ।
चक्खिदिय=चक्षु इन्द्रिय, नेत्र, आँख ।
चित्तकम्म=चित्रकर्म; दो पैर, चार पैर, विना पैर, या अधिक पैर के प्राणियों की भींत/वस्त्र/स्तम्भ आदि पर विविध रंगों में आकृतियाँ वनाना ।
चेदि=च+इति; अव्यय; पूरक शब्द ।
छक्काय=छह काय के जीव पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति; तथा त्रस; (अन्य रूप-छण्हं निकाय=छह निकाय) ।
जंतपीलणकम्म=यन्त्र-पीलन-कर्म; यन्त्र द्वारा तिल, ईख आदि पेरने का धन्धा ।
जराइया=जरायुज; वह प्राणी जो माता के गर्भ से निकलते समय खेड़ी (आँवल) में लिपटा हुआ होता है, जैसे-गाय, भैंस आदि ।
जहुत्तमाण=यथोक्त प्रकार से; यथाशक्ति; यथाविधि ।
जाव=यावत्; जव तक ।
जीव=पंचेन्द्रिय; दे.पाण, भूद, सत्त ।
जीविदासंसण=जीवित-आशंसन; सल्लेखना लेने के वाद भी जीने की इच्छा रखना।
जुगंतर दिट्ठि=युगान्तर–चार हाथ ज़मीन–देख कर चलना ।
जूग=यूका; जूँ (तीन इन्द्रियधारी); (लाउस) ।
जोणिपमुह=योनि-प्रमुख, ये चौरासी लाख हैं; प्रमुख उत्पत्ति-स्थान ।
ठिदिकरण=स्थितिकरण; श्रद्धा से विचलित को अविचल करना; दर्शनाचार का एक प्रकार; सम्यक्त्व का एक अंग ।
णयर=नगर, शहर ।
णासापहार=न्यासापहार; अमानत में खयानत; किसी की धरोहर का हड़प जाना ।
णिक्खेवण=निक्षेपण; रखना, डालना ।
णिदाण=निदान; आगामी भव में विषयों की इच्छा करना ।
णिच्च=नित्य; शाश्वत; सदैव ।
णिद्दिट्ठ=निर्दिष्ट; प्रतिपादित, लक्षित, कथित ।
णिन्दा=निन्दा; आत्मसाक्षिपूर्वक किया जाने वाला आत्मालोचन ।
णिसण्णेण=निषण्णेन; उपेक्षापूर्वक; उदासभाव से; उपेक्षा से ।
णिव्विदिगिंछो=निर्विचिकित्सा; घृणारहित हो कर; निर्विजुगुप्स भाव से ।
णिस्सहीए=नैषेधिकी; निर्वाणभूमि; ज्ञान-भूमि; स्वाध्यायभूमि; अ.रू. णिसीहिआ ।
णोइंदिय=नोइन्द्रिय; अन्तःकरण, मन, चित्त ।
तत्थ=वहाँ, उसमें ।
ताव=तावत्; तब तक ।
तिण=तृण, घास ।
तित्त=तिक्त; तीता, तीखा, चरपरा ।
तिदिय=तृतीय, तीसरा ।
तियरणसुद्ध=त्रिकरण से शुद्ध; जीव के शुभ-अशुभ आदि परिणाम; कृत, कारित, अनुमोदना की शुद्धिपूर्वक; तरतमता की दृष्टि से ये तीन अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण ।
तिरिक्खि=तिर्यंच; देव, नारक, मनुष्य से भिन्न योनि में उत्पन्न जीव ।
तिव्व=तीव्र, अदम्य ।

तेउकाइय=तेजस्कायिक, अग्निकायिक ।
थूलव्वद=स्थूलव्रत; अणुव्रत; व्रतप्रतिमा के अन्तर्गत परिगणित ये ५ व्रत – हिंसा-विरति, असत्यविरति, स्तेनविरति, अब्रह्मविरति, परिग्रहविरति ।
थेणपओग=स्तेन-प्रयोग; चोरी के लिए प्रेरित करना और उसके नये-नये उपाय बताना ।
थेणहरिदादाण=स्तेन-आहृत-आदान; चुरायी गयी वस्तु को खरीदना ।
दंस=डाँस; बड़ा मच्छर ।
दट्ठवा=दृष्ट्वा; दृष्टव्य; देख कर; देखने योग्य ।
दवदव=द्रवंद्रवम् ($\sqrt{}$द्रु); दौड़ना; धप्-धप् आवाज़ करते हुए जल्दी-जल्दी चलना ।
दवदाण=जंगल, खेत-खलिहान, गाँव आदि जलाना; दवदाहकर्म ।
दुक्खक्खय=दु:खक्षय; दु:खी को दूर करने वाला ।
दुहिअ=दु:खित; जिस साधु के पास पात्र, वस्त्र आदि उपधि (सामग्री) बराबर न हो।
दोणमुह=द्रोणमख; नदी-तटवर्ती आपणक नगर (मार्केट टाउन) ।
धणधण्णाणं=धनधान्य आदि ।
पइट्ठावणिया=प्रतिस्थापनिका; मल, मूत्र, कफ, श्लेष्मा आदि का परठना ।
पज्जुवास=पर्युवास; सेवा, भक्ति, उपासना ।
पट्टण=पत्तन; पट्टन; समुद्रतटवर्ती नगर ।
पडिमा=प्रतिमा; ये ग्यारह हैं ।
पडिक्कंत=प्रतिक्रान्त; निवृत्त; पीछे हटा ।
पडिरूवयवहार=प्रतिरूप व्यवहार; बहुमूल्य वस्तु में कम कीमत की वस्तु मिलाकर अधिक, या असली मूल्य पर बेचना ।
पत्तेहिं=प्रत्येक ।
पदोस=प्रद्वेप; प्रदोप ।
परउवदेस=परव्यपदेश; दूसरे दातार की वस्तु को अपनी समझ कर देना ।
परक्कम=पराक्रम ।
परपापंड=परधर्म; सर्वज्ञप्रणीत धर्म के अतिरिक्त व्रत/धर्म [illegible]
परलोय=परलोक; आगामी भव की; स्वर्ग, मुक्ति ।
परविवाहकरण=दूसरों के पुत्र-पुत्रियों का विवाह करना [illegible]
परिच्चाअ=परित्याग ।
परिहाविद=परिहापित; अविकल रूप में न किये [illegible]
पसंसणा=प्रशंसना; प्रशंसा; अनुमोदना ।
पहावणा=प्रभावना; प्रसिद्धि; गौरव; विस्तार; [illegible]
परिग्गह=परिग्रह ।
परिभोग=जिसका बार-बार भोग किया जाए, [illegible]
उपयोग ।
पसंसा=प्रशंसा, तारीफ ।
पस्सवण=प्रस्रवण; मूत्रोत्सर्ग ।
पाणादिवाद=प्राणातिपात; हिंसा ।
पाव=पाप, अधर्म, अशुभ कार्य ।
पिपीलिया=पिपीलिका; चींटी ।
पुट्ठापुट्ठ=पुष्ट-अपुष्ट; [illegible]

पुढवि=पृथ्वी; भूमि।
पुढविकायिक=पृथ्वीकायिक।
पुव्वरदाणुसमरण=पूर्वरतानुस्मरण; पूर्व उपयुक्त भोगों का स्मरण।
पोत्तकम्म=घोड़ा ,हाथी; पुरुष-स्त्री, बाघ आदि की वस्त्र-विशेप पर आकृतियाँ चित्रित करना; पोतकर्म (पोत=वस्त्र, कपड़ा।)
पोत्थय=वस्त्र, कपड़ा; अ.रू. पोत्थ, पोत्थग।
पोदाइया=पोतज; पैदा होने पर जिन जीवों पर कोई आवरण न हो और जो जन्म लेने के तुरन्त बाद चलने-फिरने लगते हों; जैसे–हरिण, सिंह आदि।
पोसह=पौषध; पर्व; जैन श्रावक के लिए करणीय अनुष्ठान-विशेप।
पोसहविहि=पौषध-विधि।
पोग्गलखेव=पुद्गल-क्षेप; मर्यादा से बाहर कंकर-पत्थर आदि फेंक कर अपना मन्तव्य सूचित करना।
फलह=फलक; पीढ़ा; काठ आदि का तख्ता।
फासिंदिय=स्पर्शनेन्द्रिय।
वर=वल, सामर्थ्य।
वहुमाण=बहुमान; ज्ञान के साधन-स्रोत के प्रति आदर-भाव।
वारसविह=बारह प्रकार का; द्वादशविध।
बिंछिय=वृश्चिक; बिच्छू; तीन इन्द्रियधारी होता है।
वेइंदिय=दो इन्द्रियधारी।
भव्व=भव्य; मुक्तिगामी; मुक्तिक्षम; मनोज्ञ; मुनि; साधु।
भांड=बर्तन, बासन, पात्र, भांडे।
भूद=भूत; वनस्पतिकायिक जीव; एकेन्द्रिय।
भोगोपभोगाणत्थक=भोगोपभोग-अनार्थक्य; भोगोपभोग-सम्बन्धी पदार्थों का आवश्यकता से अधिक संचय।
मंस=माँस, आमिष।
मक्कुण=मत्कुण; खटमल (बग)।
मच्छरिअ=मात्सर्य; अनादरपूर्वक/दूसरे दाता के प्रति ईर्ष्या करते हुए अतिथि संविभाग।
मज्ज=मद्य, शराब।
मज्झंकसा=मध्यकृशा; ऐसी निष्ठुर/कर्कश वाणी जो हड्डियों के मध्य को भी कृश करती हैं; सातवाँ दुर्भाषा-भेद।
मडंव=पाँच सौ गाँवों का केन्द्रवर्ती नगर, जिसके चारों ओर एक योजन तक कोई गाँव न हो; सुविशाल नगर।
मणदुप्पणिधाण=मन:दुष्प्रणिधान; मन की अन्यथा प्रवृत्ति।
मणि=मुक्ता आदि रत्न; इसे साधुवर्ग प्रकाश के लिए रखा करते थे।
मणुण्ण=मनोज्ञ, सुन्दर, मनोहर।
मरणासंसण=मरणाशंसा; संल्लेखना धारण करने के बाद वेदना से व्याकुल हो कर शीघ्र मरण की इच्छा करना।
महव्वद=महाव्रत, ये पाँच हैं।
महुर=मधुर, मीठा।
मिच्छ=मिथ्या, असत्य, झूठ।

मिच्छोवदेस=मिथ्योपदेश; झूठा उपदेश देना।
मित्ताणुराअ=मित्रानुराग; सल्लेखना धारण कर लेनेके बाद भी मित्रोंका स्मरण करना।
मित्ती=मैत्री; मित्रता; सद्भाव।
मुच्छा=मूर्च्छा; मोह; आसक्ति।
मुसावाद=मृषावाद; असत्य भाषण; झूठ बोलना।
मेलिद=मेलित; मिश्रित; मिलाया हुआ।
मेहुण=मैथुन; रति-क्रिया; संभोग।
मोक्खरिअ=मौखर्य; धृष्टतापूर्वक आवश्यकता से अधिक बोलना।
मोहरि=मौखर्य, बकवास, आवश्यकता से अधिक बोलना।
रसाइया=रसज; मद्यज; रासायनिक प्रक्रिया से उत्पन्न।
राइभत्तपडिमा=रात्रिभक्त प्रतिमा; दिवामैथुन न करनेका व्रत (भक्त=मैथुन, भोजन)।
रिट्ठ=एक द्वीन्द्रिय जन्तु (?)
रूवाणुवाअ=रूपानुपात; मर्यादा से बाहर के व्यक्तियों को कायिक संकेत से अपना अभिप्राय समझाना।
लेप्पकम्म=मिट्टी, खड़िया, बालू आदि के लेप से प्रतिमाएँ बनाना।
लेहणकम्म=लेखन-कर्म; लिखने का कार्य।
वचिदुप्पणिधाण=वाग्दुष्प्रणिधान; वचन की अन्यथा प्रवृत्ति।
वणप्फदि=वनस्पति; अ.रू. वणप्फइ।
वत्थमेत्तपरिग्गह=वस्त्र-मात्रपर्यन्त परिग्रह का ममत्व-विसर्जन।
वद=व्रत।
वराडय=वराटक; कौड़ा द्वीन्द्रिय; साइप्रिया मोनेटा।
वह=वध; मारना; ताड़ित करना।
वाऊकाइय=वायुकायिक।
वामेलिद=व्यामेलित; विकृत मिश्रण।
विउस्सग्गो=व्युत्सर्ग; निरीहतापूर्वक शरीर आदि का त्याग; एक अभ्यन्तर तप।
विगिच्छा=विचिकित्सा; संदेह; संशय; ग्लानि।
विणिओग=विनियोग; प्रेष्य-प्रयोग; मर्यादा से बाहर नौकर आदि को भेजना।
विदिए=द्वितीय; दूसरा।
वियडि=विकृति; वह पात्र जिसमें मलमूत्रादि रखा जाता है।
विरुद्धरज्जादिक्कमण=विरुद्धराज्यातिक्रमण; कर-अपवंचन; राज्याज्ञा के विरुद्ध आचरण करना, टैक्स आदि चुराना।
विवित्त=विविक्त; रहित; वर्जित; असंगत; पृथग्भूत; एकान्त।
वीया=सबीज।
वेज्जावच्च=वैयावृत्त्य; सेवा-शुश्रूषा।
संथार=संस्तार; कुश-शैया; बिछौना।
संवाह=पर्वत पर बसा अविच्छिन्न नगर, जो कृषि प्रधान, समृद्ध और धान्ययुक्त होता है।
संसेदिम=संस्वेदिम; पसीने से उत्पन्न होने वाला; अ.रू. संसेइम।
सइंगाल=सांगार; अंगारयुक्त।

सचित्तणिक्खेव=सचित्त निक्षेप; सचित्त पत्तों आदि में भोजन रख कर देना।
सचित्तापिहाण=सचित्तापिधान; सचित्त पत्तों आदि से ढंका हुआ भोजन दान करना।
सण्णा=संज्ञा; विवेक; आकांक्षा; कामना।
सणिद्ध=स्निग्ध; गीला; रसयुक्त; चिकना।
सण्णिवेस=सन्निवेश; पड़ाव; यात्री-डेरा; मार्ग का वास-स्थान।
सत्त=सत्त्व; पृथ्वी, जल तथा अग्निकायिक जीव।
सद्दाणुवाअ=शब्दानुपात; खाँसी आदि के इशारे से मर्यादा से बाहर उपस्थित व्यक्ति को अपना अभिप्राय देना।
सदिअणुवट्ठावण=स्मृत्यनुपस्थान; एकाग्रता के अभाव में सामायिक पाठ भूल जाना।
सधूमिया=सधूम्र आहार।

समणुमणिदो=अच्छा माना हो; दशवैकालिक ४.१० में 'समणुजाणामि' प्रयुक्त हुआ है; अर्थ वही है; निशीथ सूत्र १३,७४-०५, ७८ में 'साइज्जइ' शब्द काम में आया है, जिसका अर्थ है : स्वाद लेता हो, मजा लेता हो।

समाहि=समाधि; चित्त की स्वस्थता; चित्त की एकाग्रतारूप ध्यानावस्था।
सम्मुच्छिम=सम्मूर्च्छनज; रजवीर्य की अनुपस्थिति में शरीर-रचना से जन्मे जीव।
सवणिंदिय=श्रवणेन्द्रिय, कान।
सवीए=सबीज; बीजयुक्त।

सहरिय=सहरित; हरा।
सहा=सभा, समूह।
साइया=स्वाद्य; आहार के चार प्रकार हैं--अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य।
साड़ी—शकटी; गाड़ी।

सायारमंत्तभेद=साकार (सागार, सदार) मन्त्र भेद; हाथ के इशारे आदि से दूसरों मन्तव्य ज्ञात कर प्रकट कर देना।
सावअ=श्रावक; अ.रू.सावग।
सिहाणय=सिहानक; सिंघाण; नासिका-मल; श्लेष्मा; सेवड़ा।
सिक्खावद=शिक्षाव्रत; ये चार हैं—देशावकाशिक, सामायिक, प्रौपध, वैयावृत्त्य।
सुगदि=सुगति; अच्छी गति।
सुहाणुबंध=सुखानुबन्ध; पूर्वकाल में भोगे हुए सुखों का स्मरण।
सुहिअ=सुखित; जो साधु ज्ञान, दर्शन, और चारित्र में रत हो।
हरिदा=हृता; हरित; सचित्त।
हिरण्ण-सुवण्ण=चाँदी-सोना (हरिण्ण=चाँदी, सुवण्ण=सोना)।
हीणाहियमाणुम्माण=हीनाधिक मानोन्मान; खरीदने-बेचने के बाँट-तराजू, गज़-मीटर आदि का कमती-बढ़ती किया जाना।

* संकेताक्षर : अ. रू.=अन्य रूप; प्रा. क्रि.=प्राकृत क्रिया; दे. देखो

प्रतिक्रमण : इतिहास और परम्परा

आज आवश्यक हुआ है कि षडावश्यक/प्रतिक्रमण का आगमिक आधार पर संक्षिप्त और सर्वमान्य पाठ तैयार किया जाए।

– डॉ. सागरमल जैन

'प्रतिक्रमण' जैन परम्परा का एक विशिष्ट शब्द है। इसका शाब्दिक अर्थ है–वापस लौटना। जैनधर्म में इसका आध्यात्मिक अर्थ विभाव दशा से स्वभाव दशा की ओर लौटना है। दूसरे शब्दों में प्रतिक्रमण बहिर्मुखता त्याग कर अन्तर्मुख होना है। इन शाब्दिक और आध्यात्मिक अर्थों के अतिरिक्त प्रतिक्रमण का जैन परम्परा में एक व्यावहारिक अर्थ है–पापाचरण की आलोचना। मन, वचन और शरीर के द्वारा कृत, कारित, और अनुमोदित पापों का प्रायश्चित्त कर पुनः उस पाप को न करने का संकल्प करना ही प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण शब्द का विरोधी शब्द है अतिक्रमण। गृहीत नियमों और मर्यादाओं का उल्लंघन अतिक्रमण है। उस अतिक्रमण से पुनः लौटना ही प्रतिक्रमण है। पाप-स्वीकृति और आत्म-आलोचना की यह परम्परा सभी प्राचीन धार्मिक परम्पराओं में पायी जाती है।

वैदिक परम्परा में प्रतिक्रमण

वैदिक परम्परा के संध्या-कर्म में यजुर्वेद के जिस मन्त्र का उच्चारण किया जाता है, वह जैन परम्परा के प्रतिक्रमण का ही एक संक्षिप्त रूप है। संध्या के संकल्प-वाक्य में साधक कहता है कि "मैं आचरित पापों के क्षय के लिए यह उपासना सम्पन्न करता हूँ। मेरे मन, वाणी और शरीर से जो भी दुराचरण हुआ है उसका मैं विसर्जन करता हूँ"। संध्या वैदिक परम्परा का एक आवश्यक कृत्य है और उसमें कृत पापों की निवृत्ति के लिए जो संकल्प किया जाता है वह प्रतिक्रमण का ही एक रूप है। जैन परम्परा में भी प्रतिक्रमण को एक आवश्यक कृत्य ही माना जाता है। इस प्रकार वैदिक और जैन दोनों ही परम्पराओं के आवश्यक कृत्यों में प्रतिक्रमण (पाप-आलोचना) का स्थान रहा है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि महावीर के पूर्व भी जैनेतर परम्पराओं में पाप-आलोचन की प्रक्रिया उपस्थित थी।

पारसी परम्परा में प्रतिक्रमण

वैदिक धर्म के पश्चात् प्राचीन धर्मों में पारसी धर्म का स्थान है। उसमें भी पाप-आलोचन की यह प्रणाली स्वीकृत रही है। पारसी धर्म के प्राचीनतम धर्म-ग्रन्थ खोरदेअवस्ता में कहा गया है कि "मैंने मन से जो बुरा विचार किया है, वाणी से जो तुच्छ भाषण किया है, शरीर से जो घृणित काम किया है; इसी प्रकार अन्य जो-जो दुराचरण किये हैं, उन सबके लिए पश्चात्ताप करता हूँ। अभिमान,

अहंकार, मृत लोगों की निन्दा, लोभ, लालच, क्रोध, ईर्ष्या, बुरी दृष्टि, स्वच्छन्दता, आलस्य, झूठी गवाही, चोरी, व्यभिचार, कामुकता एवं पवित्रता का भंग इत्यादि जो अपराध मुझसे जाने-अनजाने हुए हैं और जिन्हें मैंने प्रकट नहीं किया है, उन सबसे मैं अलग हो कर पवित्र होता हूँ।" इस प्रकार हम देखते हैं कि पारसी धर्म में भी प्रतिक्रमण या पाप-आलोचना का स्थान रहा है।

बौद्धधर्म में प्रतिक्रमण का स्थान

महावीर के समकालीन धर्मों में बौद्धधर्म का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैदिक धर्म और पारसी धर्म के समान ही बौद्धधर्म में भी प्रतिक्रमण की परम्परा प्रचलित रही है। इतना ही नहीं, बौद्ध परम्परा में हमें प्रतिक्रमण की जैन अवधारणा का पर्याप्त विकसित रूप उपलब्ध होता है। बौद्धधर्म में प्रतिक्रमण के स्थान पर प्रतिकर्म, प्रवारणा और पापदेशना नाम मिलते हैं। उदान * में बुद्ध ने स्पष्ट रूप से कहा था कि 'खुला हुआ पाप लगा नहीं रहता' अर्थात् पापाचरण की आलोचना करने पर व्यक्ति पाप के भार से हल्का हो जाता है। बौद्ध परम्परा में पापदेशना या प्रवारणा का यह रूप काफी सुव्यवस्थित है। बुद्ध के समय से ही भिक्षु-भिक्षुणियों को यह आदेश दिये गये थे कि वे पक्ष में एक बार प्रवारणा या पापदेशना के लिए सामूहिक रूप से उपस्थित हों। प्रवारणा के लिए स्थान निश्चित किया जाता था और उसके आस-पास की एक विशेष सीमा तक रहने वाले सभी भिक्षु-भिक्षुणियों को उस निर्दिष्ट स्थान पर उपस्थित होकर पापदेशना या प्रवारणा करना होती थी। बौद्धधर्म की प्रवारणा की यह पद्धति जैनधर्म के पाक्षिक प्रतिक्रमण की परम्परा से काफी साम्य रखती है।

वैसे तो बौद्धधर्म में प्रत्येक भिक्षु-भिक्षुणी को यह शिक्षा दी गयी थी कि रात्रि में तीन बार और दिन में तीन बार त्रिस्कन्धों अर्थात पापदेशना, पुण्यानुमोदन और बोधि-परिणामना की आवृत्ति करना चाहिये। बोधि-चर्यावतार में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि "पापदेशना से अनजान में हुई आपत्तियों का शमन हो जाता है"; किन्तु इस व्यक्तिगत पापदेशना और पुण्यानुमोदना की प्रक्रिया के साथ-साथ संघ के समक्ष पापदेशना या प्रवारणा की पद्धति बौद्धधर्म की एक विशिष्ट देन थी। इसे हम जैन परम्परा में प्रचलित सामूहिक प्रतिक्रमण की प्रणाली के समान मान सकते हैं। यद्यपि जैन परम्परा में प्रतिक्रमण गुरु के सान्निध्य में ही किया जाता है और बौद्ध परम्परा में संघ के सान्निध्य में; फिर भी बौद्ध परम्परा में सामूहिक प्रवारणा की जैसी अनिवार्यता है, वैसी अनिवार्यता जैनधर्म में नहीं पायी जाती है। यद्यपि सांवत्सरिक प्रतिक्रमण आज भी सामूहिक रूप से होता है, फिर भी जो विशेषता बौद्धों की प्रवारणा की पद्धति में है, वह जैन परम्परा में परिलक्षित नहीं होती है। बौद्ध परम्परा में प्रवारणा की तिथि पर निर्दिष्ट स्थान पर समस्त भिक्षु-भिक्षुणियों का एकत्रित होना अनिवार्य है। एकत्रित संघ के समक्ष

* आनन्दोल्लास में निकले शब्द।

प्रवारणा की क्रिया सम्पन्न होती है। सर्वप्रथम वरिष्ठ भिक्षु क्रमशः आचार के नियमों का पाठ करता है, प्रत्येक नियम के पाठ के पश्चात् वहाँ उपस्थित भिक्षु-संघ से निवेदन करता है कि जिस किसी भिक्षु-भिक्षुणी ने उद्घोषित नियम का भंग किया हो उसे संघ के समक्ष प्रकट कर दे। यदि कोई भी भिक्षु या भिक्षुणी उस नियम के भंग के सम्बन्ध में स्वयं सूचित नही करता है, तो पुनः उस नियम का पाठ किया जाता है और संघ को आदेशित किया जाता है कि यदि संघ के किसी भी सदस्य ने किसी भी भिक्षु या भिक्षुणी को उद्घोषित नियम का भंग करते हुए देखा हो तो वह संघ को सूचित करे। यदि फिर भी संघ को कोई सूचना नहीं मिलती है तो उस नियम का तीसरी बार पारायण किया जाता है और संघ से निवेदन किया जाता है कि यदि किसी भिक्षु या भिक्षुणी के द्वारा इस नियम के भंग के सम्बन्ध में उनके पास कोई भी सूचना है तो वे संघ को उसकी जानकारी प्रदान करे। यदि तब भी कोई सूचना प्राप्त नहीं होती है तो संघ इस नियम के पालन को 'निर्दोष है' यह उद्घोषित करके आचार के दूसरे नियम का पारायण कराता है। भिक्षु/भिक्षुणी के आचार के सभी नियमो के संदर्भ में इस प्रक्रिया को दोहराया जाता है। यदि भिक्षु-संघ या भिक्षुणी-संघ का कोई भी सदस्य किसी नियम के भंग करने का दोषी पाया जाता है तो संघ के द्वारा उसे यथोचित दण्ड दिया जाता है।

जैन और बौद्ध दोनों परम्पराओं मे प्रतिक्रमण या प्रवारणा के समय आचार के नियमों का पाठ करने की परम्परा तो पायी जाती है; किन्तु संघ के समक्ष अपने अशुभ आचरण को प्रकट करने की परम्परा जैनधर्म में नही है। जैनधर्म में संघ की अपेक्षा आचार्य या गुरु के समक्ष ही पापदेशना की परम्परा पायी जाती है। साधक प्रतिक्रमण के अन्त में, जिस कालावधि का प्रतिक्रमण किया गया है, उस अवधि में अपने द्वारा हुए दोषों के सम्बन्ध में गुरु या वरिष्ठ मुनि से निवेदन करता है और उनके द्वारा उसका जो प्रायश्चित्त बताया जाता है, उसे स्वीकार करता है। संभवतः जैन परम्परा ने इस पद्धति में जो भिन्नता रखी है उसका कारण मनो-वैज्ञानिक है। संघ के समक्ष अपने दोषों को प्रकट करने से एक ओर तो समाज में बदनामी का भय रहता है, जिससे व्यक्ति में हीन-भावना पनपती है, और दूसरी ओर कुछ लोग उसकी गल्ती का गलत फायदा भी उठा सकते हैं। दूसरे संघ के समक्ष पापदेशना का साहस विरले लोगों में ही होता है। इस बात [illegible] के बावजूद भी दोनों परम्पराओं में मूलभूत रूप से साम्य परिलक्षित होता है।

जैन परम्परा में मूलगुणों और उत्तरगुणों-दोनों के [illegible] के लिए [illegible] का विधान है। बौद्ध परम्परा में मूलगुणों के स्थान पर [illegible] और उत्तर-गुणों के स्थान पर प्रातिमोक्ष की पापदेशना [illegible] आदि को प्रातिमोक्ष कहा गया है, [illegible]

को प्रज्ञप्ति-सावद्य कहा गया है, प्रकृति-सावद्य और प्रज्ञप्ति-सावद्य की पापदेशना के सम्बन्ध में बोधिचर्यावतार में कहा गया है कि "जो भी प्रकृति-सावद्य और प्रज्ञप्ति-सावद्य पाप मुझ अबोध ने कमाये हैं, दुःख से घबरा कर मैं उन सबकी देशना करता हूँ। हे नायको, अपराध को अपराध के रूप में ग्रहण करें। मैं यह पाप फिर नहीं करूँगा।" इस प्रकार जैन और बौद्ध – दोनों ही परम्पराओं में प्रतिक्रमण की अवधारणा उपस्थित है।

ईसाई धर्म और प्रतिक्रमण (पाप-देशना)

ईसाई धर्म यद्यपि जैनधर्म के परवर्ती काल का है, किन्तु उसमें पाप-प्रकाशन या पाप-स्वीकृति (कन्फेशन) को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। ईसाई धर्म में सभी उपासकों के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने आचरित पापों का प्रकाशन अपने धर्मगुरु के समक्ष करे और धर्मगुरु (पोप, या पादरी) के द्वारा उनके प्राय-श्चित्त-स्वरूप जो निर्देश दिये जायें उनका पालन करे। ईसाई धर्म की यह परम्परा जैनधर्म की प्रतिक्रमण की अवधारणा से पर्याप्त साम्य रखती है।

जैन परम्परा में प्रतिक्रमण

सामान्यतया यह माना जाता है कि जैन परम्परा में प्रतिक्रमण की अव-धारणा बहुत ही प्राचीन है; फिर भी इतना निश्चित है कि पार्श्वनाथ की परम्परा तक वह जैन साधना का इतना महत्त्वपूर्ण अंग नहीं बन पायी थी। महावीर और पार्श्वनाथ की परम्परा के अन्तर का एक मूलभूत आधार प्रतिक्रमण की अवधारणा भी रही है। प्राचीन श्वेताम्बर आगमों में महावीर की धर्मदेशना को सप्रतिक्रमण-धर्म कहा गया है। इससे इतना तो अवश्य सिद्ध होता है कि महावीर ने अपनी पूर्व परम्परा की अपेक्षा प्रतिक्रमण की आवश्यकता पर अधिक बल दिया था। 'सूत्रकृतांग' और 'भगवती' आदि प्राचीन आगमों में यह स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि पार्श्वनाथ की परम्परा के अनेक मुनियों ने पार्श्वनाथ की परम्परा का त्याग कर महावीर के पंचयाम और सप्रतिक्रमण-धर्म को स्वीकार किया। इन ग्रन्थों के टीकाकारों का ऐसा कहना है कि पार्श्वनाथ की परम्परा तक जैनधर्म में पापाचरण, या नियम-भंग होने पर ही साधक प्रतिक्रमण करता था, किन्तु महावीर ने साधकों के प्रमादी स्वभाव को दृष्टि में रखते हुए इस बात पर अधिक बल दिया कि चाहे पापाचरण या आचार-नियम का भंग हुआ हो या नहीं; फिर भी साधक को नियमित रूप से प्रतिक्रमण करना ही चाहिये। साधक-जीवन में सतत जागृति के लिए महावीर ने प्रतिक्रमण की अनिवार्यता पर बल दिया और साधकों को यह निर्देश दिया कि वे प्रत्येक कार्य के पश्चात्, प्रतिदिन दोनों संध्याओं में अर्थात् सूर्यास्त और सूर्योदय के समय पक्षान्त में, चातुर्मास के अन्त में और वर्ष के अन्त में प्रतिक्रमण अवश्य करें। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि महावीर की साधना-पद्धति में प्रतिक्रमण की अनिवार्यता पर कितना बल दिया गया था और क्यों उनके धर्म को सप्रति-क्रमण-धर्म कहा गया था।

षडावश्यक और उनमें प्रतिक्रमण का स्थान

जैनधर्म में जो षट् आवश्यक कृत्य माने गये हैं, वे हैं: १. सामायिक, २. स्तवन, ३. वन्दन, ४. प्रतिक्रमण, ५. कायोत्सर्ग और ६. प्रत्याख्यान। इन षडावश्यकों में प्रतिक्रमण का स्थान चौथा है। प्रतिक्रमण के पूर्व सामायिक, स्तवन और वन्दन — इन तीन आवश्यकों को और प्रतिक्रमण के पश्चात् कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान इन दो आवश्यकों को सम्पन्न करना होता है। यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि प्रतिक्रमण का स्थान या क्रम चतुर्थ ही क्यों है? वस्तुतः इस क्रम के पीछे एक मनोवैज्ञानिक दृष्टि है। सामायिक या समभाव जैन साधना का प्राण है। उसके अभाव में कोई भी साधना अपूर्ण और निरर्थक होती है; अतः उसे प्रथम स्थान प्रदान किया गया। साधना के आदर्श के रूप में देव (वीतराग प्रभु) का और साधना के पथ-प्रदर्शक के रूप में गुरु का क्रम आता है, अतः चतुर्विंशति-स्तवन और गुरुवन्दन को क्रमशः द्वितीय और तृतीय स्थान दिया गया। पुनः वन्दन विनम्रता का सूचक है और विनम्र व्यक्ति ही आत्मालोचन या प्रतिक्रमण कर सकता है, अतः वन्दन को प्रतिक्रमण के पूर्व स्थान दिया गया आचरित पापों के प्रायश्चित्त के रूप में कायोत्सर्ग को प्रतिक्रमण के पश्चात् रखा गया और भविष्य में उन पापों को पुनः न करने के संकल्प के रूप में सबसे अन्त में प्रत्याख्यान को रखा गया।

प्रतिक्रमण किसका?

'स्थानांग सूत्र' में इन छह बातों के प्रतिक्रमण का निर्देश है: १. उच्चार प्रतिक्रमण: मल आदि का विसर्जन करने के बाद तत्सम्बन्धी तथा ईर्यापथिक (आने-जाने में हुई जीवहिंसा) प्रतिक्रमण करना। २. प्रस्रवण प्रतिक्रमण: पेशाब करने के बाद तत्सम्बन्धी तथा ईर्यापथिक प्रतिक्रम करना। ३. इत्वर प्रतिक्रमण: भूल होते ही तत्काल उसका प्रतिक्रमण करना। ४. यावत्कथिक प्रतिक्रमण: सम्पूर्ण जीवन के लिए पाप से निवृत्त होने का संकल्प करना। ५. यत्किंचिन्मिथ्या प्रतिक्रमण: सावधानीपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए प्रमाद अथवा असावधानी से किसी भी प्रकार का असंयम-रूप आचरण हो जाने पर उस भूल को स्वीकार कर लेना और उसके प्रति पश्चात्ताप करना। ६. स्वप्नान्तिक प्रतिक्रमण: विकार एवं वासना के कारण कुस्वप्न देखने पर उसके सम्बन्ध में पश्चात्ताप करना। यह विवेचना प्रमुखतः साधुओं के प्रतिक्रमण से सम्बन्धित है। आचार्य भद्रबाहु ने जिन-जिन तथ्यों का प्रतिक्रमण करना चाहिये, उनका निर्देश आवश्यक-निर्युक्ति में किया है। उनके अनुसार १. मिथ्यात्व, २. असंयम, ३. कषाय, और ४. अप्रशस्त कायिक, वाचिक एवं मानसिक व्यापारों का प्रतिक्रमण करना चाहिये। प्रकारान्तर से आचार्य ने निम्न बातों का प्रतिक्रमण करना भी अनिवार्य माना है: १. श्रावक (गृहस्थ) एवं श्रमण के लिए निषिद्ध कार्यों का आचरण कर लेने पर, २. जिन कार्यों के करने का शास्त्र में विधान किया गया है उन विहित कार्यों का आचरण न करने पर, ३. अश्रद्धा एवं

शंका के उपस्थित हो जाने पर और ४. असम्यक् एवं असत्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने पर अवश्य प्रतिक्रमण करना चाहिये।

कुछ जैन आचार्य प्रतिक्रमण का सम्बन्ध पाँच आचारों से जोड़ते हैं। जैन धर्म में पाँच आचार माने जाते हैं: १. दर्शनाचार, २. ज्ञानाचार, ३. चारित्राचार, ४. तपाचार और ५. वीर्याचार। इन पाँच आचारों का सम्यक् परिपालन न करने से पाँच प्रकार के अतिचार (दोष) होते हैं: १. दर्शनातिचार, २. ज्ञानातिचार, ३. चारित्रातिचार, ४. तपातिचार और ५. वीर्यातिचार; अत: अतिचारों के परिशोधन के लिए ही प्रतिक्रमण किया जाना चाहिये।

जैन परम्परा के अनुसार जिनका प्रतिक्रमण किया जाना चाहिये, उनका संक्षिप्त वर्गीकरण इस प्रकार है:

(अ) ५ दर्शनातिचारों या २५ मिथ्यात्वों, १४ अथवा ८ ज्ञानातिचारों और १८ पाप-स्थानों का प्रतिक्रमण सभी को करना चाहिये।

(आ) पंच महाव्रतों; मन, वचन और शरीर के असंयम तथा गमन, भाषण, याचना, ग्रहण-निक्षेप एवं मल-मूत्र-विसर्जन आदि से सम्बन्धित दोषों का प्रतिक्रमण श्रमण साधकों को करना चाहिये।

(इ) पाँच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों, चार शिक्षाव्रतों में लगने वाले ७५ अतिचारों का प्रतिक्रमण व्रती श्रावकों को करना चाहिये।

(ई) संलेखना के पाँच अतिचारों का प्रतिक्रमण उन साधकों के लिए है, जिन्होंने संलेखना-व्रत ग्रहण किया हो।

श्रमण-प्रतिक्रमण और श्रावक-प्रतिक्रमण में इनमें से सम्बन्धित सम्भावित दोषों की विवेचना अति विस्तार से की गयी है, ताकि उनका पाठ करते हुए आचरित सूक्ष्मतम दोष भी विचार-पथ से ओझल न हों।

प्रतिक्रमण-सम्बन्धी साहित्य

जैसा कि हमने पूर्व में सूचित किया था कि प्रतिक्रमण षडावश्यकों का एक अंग है; अत: प्रतिक्रमण के नाम से लिखित और प्रकाशित ग्रन्थों में भी मात्र प्रतिक्रमण का उल्लेख न मिल कर षडावश्यकों का ही उल्लेख प्राप्त होता है। श्वेताम्बर परम्परा के वर्तमान तीनों ही उपसंप्रदायों में जो प्रतिक्रमण की विधि प्रचलित है, उसमें षडावश्यकों की साधना की जाती है, जिसका एक अंग प्रतिक्रमण भी होता है; अत: प्रतिक्रमण को आवश्यक कहा जाने लगा। प्रतिक्रमण के स्वरूप को सूचित करने वाला जो प्राचीनतम ग्रन्थ हमें उपलब्ध है, वह श्वेताम्बर परम्परा में आवश्यक-सूत्र है। श्वेताम्बर आगम ग्रन्थों की जो भी सूचियाँ उपलब्ध हैं उनमें 'आवश्यक' का उल्लेख है। 'आवश्यक' श्वेताम्बर परम्परा का इतना महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ था कि

प्राचीनकाल से ही उस पर विवेचनात्मक विवरण लिखे जाने लगे थे। ईसा-पूर्व से लेकर आठवीं शताब्दी तक उस पर श्वेताम्बर आचार्यों ने विपुल साहित्य रचा। सर्वप्रथम उस पर भद्रबाहु (सम्भवतः भद्रबाहु द्वितीय) द्वारा आवश्यक-निर्युक्ति लिखी गयी है, जो वर्तमान में उपलब्ध है। इसके बाद आवश्यक भाष्य लिखा गया जो लुप्त हो गया है। उसके पश्चात् जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण द्वारा रचित विशेषावश्यक भाष्य का क्रम आता है। यद्यपि इस भाष्य में जैनधर्म और दर्शन से सम्बन्धित अनेक बातों को समाहित कर लिया गया है और इस प्रकार यह जैन परम्परा का एक विश्वकोश ही बन गया है। इस पर हरिभद्र की वृत्ति तथा मलधारी हेमचन्द्र की टीका भी उपलब्ध होती है। इन सभी विवेचनाओं का आधार तो आवश्यक-सूत्र है; किन्तु अतिविस्तार एवं गहन विवेचना के कारण उससे बहुत दूर चले जाते हैं; अतः प्रतिक्रमण-विधि का वास्तविक स्वरूप महावीर और उनके पूर्ववर्ती युग में क्या था और आज क्या है, इसका तुलनात्मक विवेचन करने के लिए मूल आवश्यक-सूत्र से आगे जाना उचित नहीं होगा।

दिगम्बर परम्परा में 'आवश्यक' नाम का कोई आगम ग्रन्थ रहा हो, ऐसा दिगम्बर परम्परा की प्राचीन सूचियों में ज्ञात नहीं होता है। यापनीय परम्परा के मूलाचार नामक ग्रन्थ में जो कि अब दिगम्बर परम्परा का आगम माना जाने लगा है, आवश्यक-निर्युक्ति की कुछ गाथाएँ मिलती हैं, किन्तु इनके आधार पर दिगम्बर परम्परा में प्राचीन प्रतिक्रमण का क्या स्वरूप था, यह निश्चित करना आज बहुत कठिन है, क्योंकि ये गाथाएँ सामायिक आदि के स्वरूप को स्पष्ट करती हैं, उनके विधि-विधान पर प्रकाश नहीं डालती हैं।

दिगम्बर परम्परा में मान्य दूसरे यापनीय ग्रन्थ भगवती आराधना में भी यद्यपि प्रतिक्रमण-सम्बन्धी कुछ विवरण उपलब्ध होता है, किन्तु उनसे भी प्रतिक्रमण की सम्पूर्ण प्रक्रिया की जानकारी प्राप्त नहीं होती है। दिगम्बर परम्परा में प्रतिक्रमण-सम्बन्धी उल्लेख तो प्राचीन काल से ही मिलते हैं, किन्तु स्वतन्त्र रूप से प्रतिक्रमण या आवश्यक नामक ग्रन्थ का उल्लेख नहीं मिलता है। सम्भवतः आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा प्रतिक्रमण (बाह्य प्रतिक्रमण) को विषकुम्भ कह देने के बाद ही धीरे-धीरे दिगम्बर परम्परा के प्रतिक्रमण की प्रथा लुप्त ही होती गयी। [illegible] प्रतिक्रमण पर स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना नहीं हुई। यद्यपि वर्तमान समय में [illegible] मुनियों एवं क्षुल्लकों के द्वारा प्रतिक्रमण किया जाता है, किन्तु विधि-विधान [illegible] है, यह मुझे ज्ञात नहीं है।

दिगम्बर परम्परा में प्रतिक्रमण और आवश्यक-सम्बन्धी प्राचीन [illegible] कालीन कौन-सा साहित्य उपलब्ध है और वर्तमान में मुनियों एवं [illegible] प्रतिक्रमण किया जाता है, उसके [illegible] क्या है, किस [illegible] है [illegible] है — इन सब बातों पर दिगम्बर परम्परा के विद्वानों को [illegible]

दिगम्बर परम्परा में निश्चय नय की प्रधानता के कारण व्यवहार गौण वना और परिणाम-स्वरूप प्रतिक्रमण की प्रथा भी व्यवहार में धीरे-धीरे लुप्त ही होती गयी; जबकि श्वेताम्बर परम्परा में वह धीरे-धीरे विकसित एवं परिवर्द्धित होती रही। यद्यपि श्वेताम्बर परम्परा में मान्य आवश्यक-सूत्र में हमें श्रमण-प्रतिक्रमण का ही विवरण मिलता है; किन्तु श्रावक-प्रतिक्रमण की परम्परा भी श्वेताम्बरों में आज तक जीवित बनी हुई है। श्रावक-प्रतिक्रमण के अनेक संस्करण कुछ साम्प्रदायिक परिवर्तन और परिवर्धन के साथ प्रकाशित हैं। कम-से-कम सांवत्सरिक प्रतिक्रमण करना प्रत्येक श्वेताम्बर का अनिवार्य कर्त्तव्य माना जाता है और आज भी अपवाद रूप में कुछ लोगों को छोड़ कर लगभग सभी श्वेताम्बर गृहस्थ सांवत्सरिक प्रतिक्रमण अवश्य करते हैं। प्रत्येक उपाश्रय, स्थानक और पौषधशाला में प्रतिदिन और पर्व तिथियों में थोड़े-वहुत श्रावक आपको प्रतिक्रमण करते हुए अवश्य मिल जायेंगे। श्वेताम्बर परम्परा में प्रतिक्रमण षडावश्यक के अंग के ही रूप में किया जाता है। यद्यपि उसे प्रतिक्रमण कहा जाता है, किन्तु उसमें सामायिक, स्तवन, वन्दन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान-इन छहों आवश्यकों की विधि सम्पन्न होती है।

श्वेताम्बर परम्परा में गृहस्थ और मुनि दोनों के लिए षडावश्यक समान ही रहे, किन्तु दिगम्बर परम्परा में मुनि और गृहस्थ के षडावश्यक भी भिन्न-भिन्न हो गये। गृहस्थ के षडावश्यकों में स्तवन का स्थान देवपूजा ने और वन्दन का स्थान गुरु-सेवा ने ले लिया और प्रत्याख्यान ने तप का रूप लिया। सामायिक, प्रतिक्रमण, और कायोत्सर्ग के स्थान पर स्वाध्याय, संयम और दान नामक तीन नवीन तप प्रविष्ट हो गये। श्वेताम्वर परम्परा में गृहस्थ और मुनि – दोनों के षडावश्यकों के प्रतिक्रमण को छोड़ कर शेष सभी का आधार आवश्यक-सूत्र ही रहा।

श्रमण प्रतिक्रमण का आगमिक आधार आवश्यक-सूत्र है। श्रावक-प्रतिक्रमण में श्रमण-प्रतिक्रमण से भिन्न जो पाठ पाये जाते हैं उनका आगमिक आधार उपासकदशांग है, जिसमें श्रावक के ५ अणुव्रतों, ३ गुणव्रतों और ४ शिक्षाव्रतों, का एवं उनके अतिचारों का उल्लेख प्राप्त होता है। श्वेताम्बर परम्परा में श्रमण-प्रतिक्रमण और श्रावक-प्रतिक्रमण में जो मूलभूत अन्तर है वह भी मात्र अणुव्रतों और महाव्रतों के अतिचारों के पाठ को ले कर है। श्रमण-प्रतिक्रमण में शैयातिचार-प्रतिक्रमण, भिक्षातिचार-प्रतिक्रमण, उपकरण-प्रतिलेखनातिचार-प्रतिक्रमण तथा एकविध आदि-अतिचार-प्रतिक्रमण पाठ विशेष रूप से मिलते हैं। स्थानकवासी परम्परा के कई सम्प्रदाय तो श्रावक-प्रतिक्रमण में श्रमण-सूत्र के नाम से इन सभी पाठों को समाहित कर लेती है। संक्षिप्त प्रतिक्रमण पाठ भी थोड़े से पाठान्तर को छोड़कर लगभग समान-रूप से पाया जाता है। श्रमण और श्रावक-प्रतिक्रमण में जो विविध पाठ उपलब्ध हैं उनके क्रम के प्रश्न को छोड़ कर श्वेताम्बर परम्परा का अवान्तर संप्रदायों में एक-

रूपता ही है। कुछ स्तुतियों (थुई) को छोड़ कर श्वेताम्बर परम्परा के तीनों ही सम्प्रदायों के प्रतिक्रमण में निम्न सामान्य पाठ हैं :

१. सामायिक प्रतिज्ञा-सूत्र
२. चतुर्विंशति स्तव (लोगस्स)
३. शक्रस्तव (नमोत्थुणं)
४. गुरुवन्दनपूर्वक क्षमायाचना-सूत्र (खमासणा)
५. प्रतिक्रमण-स्थापना पाठ (इच्छामि णं भन्ते)
६. संक्षिप्त प्रतिक्रमण पाठ (इच्छामि ठामि)
७. विस्तृत प्रतिक्रमण पाठ

विस्तृत प्रतिक्रमण-पाठ में ज्ञानातिचार का प्रतिक्रमण तथा दर्शनातिचार का प्रतिक्रमण श्रावकों और मुनियों – दोनों के लिए समान रूप से स्वीकृत है; किन्तु जहाँ मुनि-प्रतिक्रमण में ईर्यापथ-प्रतिक्रमण-सूत्र, शैयातिचार-प्रतिक्रमण-सूत्र, भिक्षाति-चार-प्रतिक्रमण-सूत्र, उपकरण-प्रतिलेखनातिचार-सूत्र, एकविध आदि-अतिचार-प्रति-क्रमण-सूत्र सम्बन्धी पाठ उपलब्ध होते हैं, वहीं श्रावक-प्रतिक्रमण में [illegible]-प्रति-क्रमण-सूत्र पाठ पाये जाते हैं।

८. जिनप्रवचन-स्थिरीकरण-सूत्र दोनों प्रकार के प्रतिक्रमणों में समान-रूप से पाया जाता है।

इसी प्रकार १८ पापस्थान, २५ मिथ्यात्व, ८४ लाख जीवयोनि, क्षमा-याचना-सूत्र तथा सर्वजीवयोनि-क्षमायाचना-सूत्र-सम्बन्धी पाठ भी दोनों ही प्रति-क्रमणों में समान रूप से पाये जाते हैं।

कायोत्सर्ग-प्रतिज्ञा-सूत्र और कायोत्सर्ग-[illegible] तथा [illegible]
एवं कालावधि में भी सामान्यतया न तो [illegible]
कोई अन्तर है और न श्वेताम्बर परम्परा के [illegible]
लेकर कोई मतभेद है। यद्यपि वर्तमान में [illegible]
मासिक और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण [illegible]
है। प्रत्याख्यान-सम्बन्धी पाठ भी [illegible]
परम्पराओं में समान पाये जाते हैं। [illegible]
और तेरापंथी सम्प्रदायों में [illegible]
कालान्तर में जुड़ी हुई स्तुतियों [illegible]
प्रतिक्रमण-विधि में कोई [illegible]
स्तुति, चैत्य-स्तुति, [illegible]
मतभेद है। तीन-थुई और [illegible]
में जो विवाद है, [illegible]

की स्तुति को आवश्यक नहीं मानता है। इस प्रकार परवर्ती काल में भिन्न-भिन्न आचार्यों द्वारा जोड़ी गयी इन स्तुतियों को छोड़ कर सामान्यता उनमें समानता देखी जाती है।

जहाँ तक षडावश्यक/प्रतिक्रमण के पाठों के सम्बन्ध में दिगम्बर परम्परा का प्रश्न है, 'तीर्थंकर' के प्रस्तुत अंक में प्रकाशित प्रतिक्रमण में भी लगभग वे सभी पाठ मिल जाते हैं जो श्वेताम्बर परम्परा के आवश्यक-सूत्र में हैं। प्राकृतों के स्वरूपगत अन्तरों एवं कुछ बातों के विस्तार को छोड़ कर दोनों में आश्चर्यजनक समानता है। निष्कर्ष रूप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि प्रतिक्रमण के पीछे निहित मूलभूत भावना, उसके स्वरूप और उसकी विधि को ले कर सभी जैन सम्प्रदाय सिद्धान्ततः एकमत हैं।

आज आवश्यक है प्रतिक्रमण की इस परम्परा को पुनर्जीवित करने की। क्योंकि दिगम्बर सम्प्रदाय के गृहस्थ-वर्ग में प्रतिक्रमण की परम्परा लुप्त हो चुकी है; श्वेताम्बर संप्रदायों में यद्यपि यह जीवित है, किन्तु उसके पीछे निहित मूलभूत भावना की दृष्टि से यह मृतप्रायः ही है। आज गृहस्थों का इसमें कोई रस नहीं रह गया है। इसका एक कारण तो यह है कि इसके मूलपाठ प्राकृत में हैं और सामान्य गृहस्थ उसके अर्थ से अपरिचित है। इसके दो ही विकल्प हैं या तो प्रतिक्रमण लोकभाषा में हो या फिर गृहस्थों को उसके मूलपाठों का अर्थबोध हो। पहले विकल्प को स्वीकार करने में दो कठिनाइयाँ हैं। एक तो प्रतिक्रमण की एकरूपता नष्ट हो जाएगी और दूसरी हम हमारी आगमिक भाषा से बिलकुल ही दूर हो जाएँगे। और प्राकृत पाठों के पीछे जो श्रद्धाभाव है वह विलुप्त हो जाएगा। दूसरा विकल्प थोड़ा कष्टसाध्य अवश्य है, किन्तु असम्भव नहीं है। यदि श्रावकों को प्रतिक्रमण के मूल पाठों का अर्थबोध करा दिया जाए, तो उनको इसमें रस भी आयेगा और वे अपनी परम्परा के मूल से जुड़े रहेंगे।

आज हमारे लिए आवश्यक है कि षडावश्यक/प्रतिक्रमण का आगमिक आधार पर संक्षिप्त और सर्वमान्य पाठ तैयार किया जाए और उसे गृहस्थ उपासकों की धार्मिक जीवन-चर्या का एक अपरिहार्य अंग बनाया जाए। काश, 'समणसुत्तं' की तरह सर्वमान्य सामायिक-सूत्र एवं प्रतिक्रमण-सूत्र निर्माण हो सके!

की स्तुति को आवश्यक नहीं मानता है। इस प्रकार परवर्ती काल में भिन्न-भिन्न आचार्यों द्वारा जोड़ी गयी इन स्तुतियों को छोड़ कर सामान्यता उनमें समानता देखी जाती है।

जहाँ तक षडावश्यक/प्रतिक्रमण के पाठों के सम्बन्ध में दिगम्बर परम्परा का प्रश्न है, 'तीर्थंकर' के प्रस्तुत अंक में प्रकाशित प्रतिक्रमण में भी लगभग वे सभी पाठ मिल जाते हैं जो श्वेताम्बर परम्परा के आवश्यक-सूत्र में हैं। प्राकृत के स्वरूपगत अन्तरों एवं कुछ बातों के विस्तार को छोड़ कर दोनों में आश्चर्यजनक समानता है। निष्कर्ष रूप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि प्रतिक्रमण के पीछे निहित मूलभूत भावना, उसके स्वरूप और उसकी विधि को ले कर सभी जैन सम्प्रदाय सिद्धान्ततः एकमत हैं।

आज आवश्यक है प्रतिक्रमण की इस परम्परा को पुनर्जीवित करने की। क्योंकि दिगम्बर सम्प्रदाय के गृहस्थ-वर्ग में प्रतिक्रमण की परम्परा लुप्त हो चुकी है; श्वेताम्बर संप्रदायों में यद्यपि यह जीवित है, किन्तु उसके पीछे निहित मूलभूत भावना की दृष्टि से यह मृतप्रायः ही है। आज गृहस्थों का इसमें कोई रस नहीं रह गया है। इसका एक कारण तो यह है कि इसके मूलपाठ प्राकृत में हैं और सामान्य गृहस्थ उसके अर्थ से अपरिचित है। इसके दो ही विकल्प हैं या तो प्रतिक्रमण लोकभाषा में हो या फिर गृहस्थों को उसके मूलपाठों का अर्थबोध हो। पहले विकल्प को स्वीकार करने में दो कठिनाइयाँ हैं। एक तो प्रतिक्रमण की एकरूपता नष्ट हो जाएगी और दूसरी हम हमारी आगमिक भाषा से बिलकुल ही दूर हो जाएँगे। और प्राकृत पाठों के पीछे जो श्रद्धाभाव है वह विलुप्त हो जाएगा। दूसरा विकल्प थोड़ा कष्टसाध्य अवश्य है, किन्तु असम्भव नहीं है। यदि श्रावकों को प्रतिक्रमण के मूल पाठों का अर्थबोध करा दिया जाए, तो उनको इसमें रस भी आयेगा और वे अपनी परम्परा के मूल से जुड़े रहेंगे।

आज हमारे लिए आवश्यक है कि षडावश्यक/प्रतिक्रमण का आगमिक आधार पर संक्षिप्त और सर्वमान्य पाठ तैयार किया जाए और उसे गृहस्थ उपासकों की धार्मिक जीवन-चर्या का एक अपरिहार्य अंग बनाया जाए। काश, 'समणसुत्तं' की तरह सर्वमान्य सामायिक-सूत्र एवं प्रतिक्रमण-सूत्र निर्माण हो सके!

परम पुरुष सिद्धप्पा

मुनिराज का यह आकिंचन्य देख कर उनके प्रति सब लोगों का आदर द्विगुणित हो गया। 'धन्य सिद्धसागर मुनिराज' ऐसा कह कर वे सब उनकी प्रशंसा करने लगे। चातुर्मास संपन्न हुआ। मुनिराज ने वहाँ से प्रस्थान किया।

बाहुबली क्षेत्र पर

आरा से विहार करते हुए उन्होंने अयोध्या, वाराणसी, उज्जैन, सोनागिर, हस्तिनापुर, अजमेर, शत्रुंजय, गिरनार आदि अतिशय तथा तीर्थक्षेत्रों की वन्दना की तथा वहाँ से नागपुर, रामटेक, मुक्तागिरि, मांगीतुङ्गी आदि की वन्दना करते हुए वे नांदणी वापस आ गये।

नांदणी तथा आसपास के गाँवों मे धर्म-प्रभावना करते हुए वे विहार करने लगे। दिनों-दिन, मौन, तथा ध्यान-धारणा पर अधिक बल देते हुए वे अन्तर्मुख होने लगे। उन्होंने, अपनी आयु कुछ ही महीनों की शेष है, यह जान कर, अपना समाधि-मरण, सल्लेखना-पूर्वक उत्तम प्रकार से सम्पन्न हो, इसके लिए कौन-सा स्थान योग्य है, इस बात का विचार किया।

कुंभोज ग्राम के निकट बाहुबली नामक पहाड़ी समाधि के लिए योग्य स्थान है ऐसा निश्चय करके श्री सिद्धसागर मुनिराज ने उस ओर विहार किया। बाहुबली की पहाड़ी पर वे पहुँचे तथा वहाँ एक शिलाखण्ड पर अखण्ड ध्यान लगा कर बैठ गये।

कोई दिगम्बर साधु बाहुबली पहाड़ी पर ध्यानस्थ बैठे है, यह बात किसी व्यक्ति ने आ कर कुंभोज गाँव में कही। वहाँ के मुलकी पाटील श्री आप्पा नरस गोंडा पाटील तथा भाऊ दादगौंडा पाटील—इन दोनों के कान पर यह बात आयी। तत्काल, वे श्रावक-मण्डली के साथ पहाड़ी पर गये। वहा जा कर देखा तो सिद्धसागर मुनिराज ध्यानस्थ बैठे हैं। अनेक लोगों के लिए वे परिचित थे। लोगों ने महाराज की जय-जयकार की। मुनिराज का ध्यान-विसर्जन होने पर, सबने भक्ति-भावपूर्वक उनकी वन्दना की। मुनिराज ने आशीर्वाद, तथा धर्म का उपदेश दिया, जिसे सुन कर सबको अत्यन्त आनन्द हुआ।

कुंभोज के मुलकी पाटील श्री आप्पा नरसगोंडा पाटील तथा भाऊ दादगोंडा पाटील, अत्यन्त धार्मिक व सेवा-परायण व्यक्ति थे। वे स्वतः मुनिराज की वैयावृत्ति करने में तत्पर रहते थे। श्रावक-मण्डली भी भक्ति-भाव से उनकी परिचर्या करती थी। मुनिराज के उपदेश सुनने के लिए स्त्री-पुरुषों की बड़ी भीड़ होती थी।

अन्तिम उपदेश

की स्तुति को आवश्यक नहीं मानता है। इस प्रकार परवर्ती काल में भिन्न-भिन्न आचार्यों द्वारा जोड़ी गयी इन स्तुतियों को छोड़ कर सामान्यता उनमें समानता देखी जाती है।

जहाँ तक षडावश्यक/प्रतिक्रमण के पाठों के सम्बन्ध में दिगम्बर परम्परा का प्रश्न है, 'तीर्थंकर' के प्रस्तुत अंक में प्रकाशित प्रतिक्रमण में भी लगभग वे सभी पाठ मिल जाते हैं जो श्वेताम्बर परम्परा के आवश्यक-सूत्र में हैं। प्राकृतों के स्वरूपगत अन्तरों एवं कुछ बातों के विस्तार को छोड़ कर दोनों में आश्चर्यजनक समानता है। निष्कर्ष रूप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि प्रतिक्रमण के पीछे निहित मूलभूत भावना, उसके स्वरूप और उसकी विधि को ले कर सभी जैन सम्प्रदाय सिद्धान्ततः एकमत हैं।

आज आवश्यक है प्रतिक्रमण की इस परम्परा को पुनर्जीवित करने की। क्योंकि दिगम्बर सम्प्रदाय के गृहस्थ-वर्ग में प्रतिक्रमण की परम्परा लुप्त हो चुकी है; श्वेताम्बर संप्रदायों में यद्यपि यह जीवित है, किन्तु उसके पीछे निहित मूलभूत भावना की दृष्टि से यह मृतप्रायः ही है। आज गृहस्थों का इसमें कोई रस नहीं रह गया है। इसका एक कारण तो यह है कि इसके मूलपाठ प्राकृत में हैं और सामान्य गृहस्थ उसके अर्थ से अपरिचित है। इसके दो ही विकल्प हैं या तो प्रतिक्रमण लोकभाषा में हो या फिर गृहस्थों को उसके मूलपाठों का अर्थबोध हो। पहले विकल्प को स्वीकार करने में दो कठिनाइयाँ हैं। एक तो प्रतिक्रमण की एकरूपता नष्ट हो जाएगी और दूसरी हम हमारी आगमिक भाषा से बिलकुल ही दूर हो जाएँगे। और प्राकृत पाठों के पीछे जो श्रद्धाभाव है वह विलुप्त हो जाएगा। दूसरा विकल्प थोड़ा कष्टसाध्य अवश्य है, किन्तु असम्भव नहीं है। यदि श्रावकों को प्रतिक्रमण के मूल पाठों का अर्थबोध करा दिया जाए, तो उनको इसमें रस भी आयेगा और वे अपनी परम्परा के मूल से जुड़े रहेंगे।

आज हमारे लिए आवश्यक है कि षडावश्यक/प्रतिक्रमण का आगमिक आधार पर संक्षिप्त और सर्वमान्य पाठ तैयार किया जाए और उसे गृहस्थ उपासकों की धार्मिक जीवन-चर्या का एक अपरिहार्य अंग बनाया जाए। काश, 'समणसुत्तं' की तरह सर्वमान्य सामायिक-सूत्र एवं प्रतिक्रमण-सूत्र निर्माण हो सके!

परम पुरुष सिद्धप्पा

मुनिराज का यह आकिंचन्य देख कर उनके प्रति सब लोगों का आदर द्विगुणित हो गया। 'धन्य सिद्धसागर मुनिराज' ऐसा कह कर वे सब उनकी प्रशंसा करने लगे। चातुर्मास संपन्न हुआ। मुनिराज ने वहाँ से प्रस्थान किया।

बाहुबली क्षेत्र पर

आरा से विहार करते हुए उन्होंने अयोध्या, वाराणसी, उज्जैन, सोनागिर, हस्तिनापुर, अजमेर, शत्रुंजय, गिरनार आदि अतिशय तथा तीर्थक्षेत्रों की वन्दना की तथा वहाँ से नागपुर, रामटेक, मुक्तागिरि, मांगीतुङ्गी आदि की वन्दना करते हुए वे नांदणी वापस आ गये।

नांदणी तथा आसपास के गाँवों में धर्म-प्रभावना करते हुए वे विहार करने लगे। दिनों-दिन, मौन, तथा ध्यान-धारणा पर अधिक बल देते हुए वे अन्तर्मुख होने लगे। उन्होंने, अपनी आयु कुछ ही महीनों की शेष है, यह जान कर, अपना समाधि-मरण, सल्लेखना-पूर्वक उत्तम प्रकार से सम्पन्न हो, इसके लिए कौन-सा स्थान योग्य है, इस बात का विचार किया।

कुंभोज ग्राम के निकट बाहुबली नामक पहाड़ी समाधि के लिए योग्य स्थान है ऐसा निश्चय करके श्री सिद्धसागर मुनिराज ने उस ओर विहार किया। बाहुबली की पहाड़ी पर वे पहुँचे तथा वहाँ एक शिलाखण्ड पर अखण्ड ध्यान लगा कर बैठ गये।

कोई दिगम्बर साधु बाहुबली पहाड़ी पर ध्यानस्थ बैठे हैं, यह बात किसी व्यक्ति ने आ कर कुंभोज गाँव में कही। वहाँ के, मुदकी पाटील श्री आप्पा तवन[illegible]गा पाटील तथा भाऊ बाबगोंडा पाटील—इन दोनों के कान पर यह बात आयी। तब, वे श्रावक-मण्डली के साथ पहाड़ी पर गये। वहाँ आ कर देखा तो सिद्धसागर मुनिराज ध्यानस्थ बैठे हैं। अनेक लोगों के लिए वे परिचित थे। लोगों ने महाराज की जय-जयकार की। मुनिराज का ध्यान-विसर्जित होने पर, सबने भक्ति-भावपूर्वक उनकी वन्दना की। मुनिराज ने आशीर्वाद, तथा धर्म का उपदेश दिया, जिससे सब श्रावकों को अत्यन्त आनन्द हुआ।

कुंभोज के मुदकी पाटील श्री [illegible] तवनगोंडा पाटील तथा भाऊ बाबगोंडा पाटील, अत्यन्त धार्मिक व सेवा-तत्पर व्यक्ति थे। वे सदा मुनिराज की वैयावृत्ति करने में तत्पर रहते थे। श्रावक-मण्डली भी भक्ति-भाव से उनकी परिचर्या करती थी। मुनिराज के उपदेश सुनने के लिए नर-नारियों की बड़ी भीड़ होती थी।

अंतिम उपदेश

की स्तुति को आवश्यक नहीं मानता है। इस प्रकार परवर्ती काल में भिन्न-भिन्न आचार्यों द्वारा जोड़ी गयी इन स्तुतियों को छोड़ कर सामान्यता उनमें समानता देखी जाती है।

जहाँ तक षडावश्यक/प्रतिक्रमण के पाठों के सम्बन्ध में दिगम्बर परम्परा का प्रश्न है, 'तीर्थंकर' के प्रस्तुत अंक में प्रकाशित प्रतिक्रमण में भी लगभग वे सभी पाठ मिल जाते हैं जो श्वेताम्बर परम्परा के आवश्यक-सूत्र में हैं। प्राकृतों के स्वरूपगत अन्तरों एवं कुछ बातों के विस्तार को छोड़ कर दोनों में आश्चर्यजनक समानता है। निष्कर्ष रूप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि प्रतिक्रमण के पीछे निहित मूलभूत भावना, उसके स्वरूप और उसकी विधि को ले कर सभी जैन सम्प्रदाय सिद्धान्ततः एकमत हैं।

आज आवश्यक है प्रतिक्रमण की इस परम्परा को पुनर्जीवित करने की। क्योंकि दिगम्बर सम्प्रदाय के गृहस्थ-वर्ग में प्रतिक्रमण की परम्परा लुप्त हो चुकी है; श्वेताम्बर संप्रदायों में यद्यपि यह जीवित है, किन्तु उसके पीछे निहित मूलभूत भावना की दृष्टि से यह मृतप्रायः ही है। आज गृहस्थों का इसमें कोई रस नहीं रह गया है। इसका एक कारण तो यह है कि इसके मूलपाठ प्राकृत में हैं और सामान्य गृहस्थ उसके अर्थ से अपरिचित है। इसके दो ही विकल्प हैं या तो प्रतिक्रमण लोकभाषा में हो या फिर गृहस्थों को उसके मूलपाठों का अर्थबोध हो। पहले विकल्प को स्वीकार करने में दो कठिनाइयाँ हैं। एक तो प्रतिक्रमण की एकरूपता नष्ट हो जाएगी और दूसरी हम हमारी आगमिक भाषा से बिलकुल ही दूर हो जाएँगे। और प्राकृत पाठों के पीछे जो श्रद्धाभाव है वह विलुप्त हो जाएगा। दूसरा विकल्प थोड़ा कष्टसाध्य अवश्य है, किन्तु असम्भव नहीं है। यदि श्रावकों को प्रतिक्रमण के मूल पाठों का अर्थबोध करा दिया जाए, तो उनको इसमें रस भी आयेगा और वे अपनी परम्परा के मूल से जुड़े रहेंगे।

आज हमारे लिए आवश्यक है कि षडावश्यक/प्रतिक्रमण का आगमिक आधार पर संक्षिप्त और सर्वमान्य पाठ तैयार किया जाए और उसे गृहस्थ उपासकों की धार्मिक जीवन-चर्या का एक अपरिहार्य अंग बनाया जाए। काश, 'समणसुत्तं' की तरह सर्वमान्य सामायिक-सूत्र एवं प्रतिक्रमण-सूत्र निर्माण हो सके!

परम पुरुष सिद्धप्पा

मुनिराज का यह आकिंचन्य देख कर उनके प्रति सब लोगों का आदर द्विगुणित हो गया। 'धन्य सिद्धसागर मुनिराज' ऐसा कह कर वे सब उनकी प्रशंसा करने लगे। चातुर्मास संपन्न हुआ। मुनिराज ने वहां से प्रस्थान किया।

बाहुबली क्षेत्र पर

आरा से विहार करते हुए उन्होंने अयोध्या, वाराणसी, उज्जैन, सोनागिर, हस्तिनापुर, अजमेर, शत्रुंजय, गिरनार आदि अतिशय तथा तीर्थक्षेत्रों की वन्दना की तथा वहाँ से नागपुर, रामटेक, मुक्तागिरि, मांगीतुङ्गी आदि की वन्दना करते हुए वे नांदणी वापस आ गये।

नांदणी तथा आसपास के गांवों में धर्म-प्रभावना करते हुए वे विहार करने लगे। दिनों-दिन, मौन, तथा ध्यान-धारणा पर अधिक बल देते हुए वे अन्तर्मुख होने लगे। उन्होंने, अपनी आयु कुछ ही महीनों की शेष है, यह जान कर, अपना समाधि-मरण, सल्लेखना-पूर्वक उत्तम प्रकार से सम्पन्न हो, इसके लिए कौन-सा स्थान योग्य है, इस बात का विचार किया।

कुंभोज ग्राम के निकट बाहुबली नामक पहाड़ी समाधि के लिए योग्य स्थान है ऐसा निश्चय करके श्री सिद्धसागर मुनिराज ने उस ओर विहार किया। बाहुबली की पहाड़ी पर वे पहुँचे तथा वहाँ एक शिलाखण्ड पर अखण्ड ध्यान लगा कर बैठ गये।

कोई दिगम्बर साधु बाहुबली पहाड़ी पर ध्यानस्थ बैठे हैं, यह बात किसी व्यक्ति ने आ कर कुंभोज गांव में कही। वहां के मुलकी पाटील श्री आप्पा नरसगौडा पाटील तथा भाऊ दादगौडा पाटील—इन दोनों के कान पर यह बात आयी। तत्काल, वे श्रावक-मण्डली के साथ पहाड़ी पर गये। वहां जा कर देखा तो सिद्धसागर मुनिराज ध्यानस्थ बैठे हैं। अनेक लोगों के लिए वे परिचित थे। लोगों ने महाराज की जय-जयकार की। मुनिराज का ध्यान-विसर्जन होने पर सबने भक्ति-भावपूर्वक उनकी वन्दना की। मुनिराज ने आशीर्वाद, तथा धर्म का उपदेश दिया, जिससे सब लोगों को अत्यन्त आनन्द हुआ।

कुंभोज के मुलकी पाटील श्री आप्पा नरसगौडा पाटील तथा भाऊ दादगौडा पाटील, अत्यन्त धार्मिक व सेवा-परायण व्यक्ति थे। वे सतत मुनिराज की वैयावृत्ति करने में तत्पर रहते थे। श्रावक-मण्डली भी भक्ति-भाव से उनकी परिचर्या करती थी। मुनिराज के उपदेश सुनने के लिए स्त्री-पुरुषों की बड़ी भीड़ होती थी।

अन्तिम उपदेश

छोड़ें। सदैव, जिनेन्द्र प्रभु द्वारा कहे हुए धर्म के अनुसार अपना आचरण करें। बड़े पुण्य से, यह महादुर्लभ मनुष्य-जन्म प्राप्त हुआ है, तो इसे व्यर्थ न गँवायें। प्रतिदिन जिन-मन्दिर में जा कर भगवान् के दर्शन करना न चूकें। जिन-पूजन, व्रत-नियम आदि का पालन करके पुण्य का उपार्जन करें, उसीसे सबका कल्याण होगा। कभी भी पापाचरण न करें। हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, तथा परिग्रह – इन पाँचों पापों का त्याग करें। मद्य-मांस आदि अभक्ष्य वस्तुओं का सेवन न करें। उसमें भयंकर जीव-हिंसा होती है तथा पाप-बंध होता है। पाप से दुर्गति होती है। धर्म से पुण्य मिलता है तथा उससे स्वर्गादि सुख तथा परम्परा से मोक्षलक्ष्मी प्राप्त होती है; इसलिए सद्धर्म जैनधर्म कभी न छोड़ें, यही मेरा आप सब से पुन:पुन: कथन है।'

इसके बाद महाराज सिद्धसागर, आप्पा पाटील, दादगौंड़ा पाटील आदि श्रेष्ठिजनों से बोले : 'यह क्षेत्र बहुत अच्छा है। इस पवित्र बाहुबली पहाड़ी पर पंचकल्याणक प्रतिष्ठा-महोत्सव कराओ, जिससे सातिशय पुण्य का लाभ हो तथा चन्द्र-सूर्य की उम्र तक सबको धर्म की प्रेरणा मिलती रहे। महाराज के पुण्यप्रद आदेश को दोनों पाटील-बन्धु तथा श्रावक-मण्डली ने स्वीकार कर महाराज के चरणों में नमस्कार किया। शीघ्र ही यहाँ पंचकल्याणक महोत्सवयुक्त प्रतिष्ठा-समारोह करेंगे, ऐसा सबने एक मुख से कह कर महाराज का जयघोष किया। निर्मोही/परीषहजयी श्री सिद्धसागर मुनिराज ने आहार का परित्याग कर दिया और आत्म-ध्यान में लीन हो गये। उन्होंने अपने पूर्वकथनानुसार शक संवत् १८२८ (ईस्वी सन् १९०६), पौष वदी नवमी के प्रात: सूर्योदय के अनन्तर ठीक दो घंटे पश्चात् समाधिपूर्वक देह विसर्जित कर स्वर्ग प्राप्त किया।

निषीदिका (चरण-पादुका) प्रतिष्ठा-महोत्सव

पहले से ही श्रावक-मण्डली वहाँ एकत्रित होकर भजन कर रही थी। मुनिराज के स्वर्गवास से सबको अत्यन्त दु:ख हुआ। सम्पूर्ण कुंभोज नगरी शोकाकुल हो उठी। पहाड़ी पर सारा गांव उनके अंतिम दर्शन के लिए टूट पड़ा। बाहुबली पहाड़ी के एक स्वच्छ स्थान पर, जयघोष-के-साथ मुनिराज सिद्धसागर महाराज की पार्थिव देह का कपूर, चंदन आदि से अग्नि-संस्कार किया गया। सब लोग उदास अन्त:करण से घर लौटे।

मुनिश्री सिद्धसागर की समाधि के पवित्र स्थान पर श्रीमती उमासतीबाई आदगौंड़ा पाटील तथा भूपाल आप्पा जिरगे ने मुनिराज की निषीदिका बनवायी। आज भी वह निषीदिका बाहुबली पहाड़ी पर, ऊपर जाते हुए दाहिने हाथ की ओर दिखाई पड़ती है। वह 'श्री सिद्धप्पा स्वामी की समाधि' के नाम से प्रसिद्ध है। वे सबसे 'सिद्ध सिद्ध' कहो, इसी से तुम्हारे सारे कार्य 'सिद्ध' होंगे, ऐसा कहा करते थे; इसीलिए सब लोग उन्हें 'सिद्धप्पा स्वामी' कहने लगे थे।

संतोषजनक

परम पूज्य एलाचार्य महाराजजी (विद्यानन्दजी) ने विशेषांक को तुरन्त ही सरसरी तौर पर देखकर संतोष प्रकट किया एवं आपको इस बारे में इत्तिला कर देने को कहा है। उन्होंने आपको शुभाशीष कहे हैं एवं 'तीर्थंकर' की उज्ज्वल परम्परा की तरह उच्च कोटि का समाज-प्रबोधन करते रहें, ऐसी शुभभावना अभिव्यक्त की है।

—सौ. शरयू दफ्तरी, बम्बई

दिशाबोधक

प्रतिक्रमण/सामायिक विशेषांक के विषय में शब्द-स्फीति (इनफ्लेशन आफ वर्ड्स) में न जाकर इतना ही पर्याप्त होगा कि इसकी सभी गद्य-पद्य रचनायें दिशाबोधक हैं और सातों बातचीत अनुभव-मूलक एवं सरलतम शैली में साधना के उच्च धरातल की ओर इंगित करने वाली है। —कन्हैयालाल सरावगी, छपरा

सामग्री से परिपूर्ण

विशेषांक में काफी सामग्री है। जैसी पवित्रता एवं प्रमाणिकता श्रावक में होनी चाहिये, वैसी है नहीं। हमारी क्रियाओं में प्रदर्शन है, दम्भ है, रूढ़िवाद है; अतः हम परिहासधाम हैं एवं प्रहसन के पात्र हैं। श्री गणेश ललवानी और श्री सुरेश 'सरल' द्वारा व्यक्त व्यंग्य यदि हमें लगे तो हम भूल-सुधार का प्रतिक्रमण कर सकते हैं, कथनी एवं करनी के अन्तर को कम कर सकते हैं और साधक, साध्य एवं साधना की एकता के मर्म को धीरे-धीरे समझ सकते हैं।

मुनि नेमिचन्द्रविजयजी का कहना भी महत्त्वपूर्ण है कि नित्य की [illegible] में बिना साधन का निषेध करना [illegible] है। [illegible] ज्ञान कोई [illegible] नहीं है, अतः [illegible] के बिना दोनों [illegible] है।
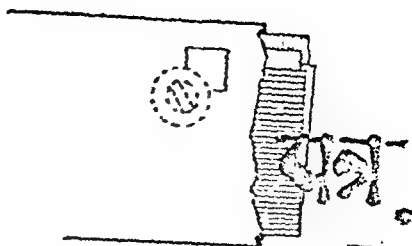
पत्रांश

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने केवल दोषपूर्ण क्रियाओं का निषेध किया है और क्रियाशील की निन्दा का भी निषेध किया है। उन्हें गुरु-पद पर स्थापित करने वाले योगिराज सहजानन्दजी ने प्रतिक्रमण के बारे में लिखा है कि प्रतिक्रमण आदि में जो वचनोच्चारण क्रिया है वह स्वाध्याय-रूप है और कायोत्सर्ग ध्यान-रूप है।

अगर निर्दोष निर्विकार विज्ञानी पुरुषों का उनकी अनुभव-वाणी का चिन्तन-मनन करें तभी हमारी प्रतिक्रमण/सामायिक आदि क्रियाएँ प्रभावी हो सकती हैं एवं आत्म-वैभव में वृद्धि हो सकती है।

—धनसुख छाजेड़, डहाणू (महा.)

बे-मिसाल

'तीर्थंकर' का प्रतिक्रमण/सामायिक विशेषांक आपकी सूझ-बूझ, निष्ठा-अध्ययन, संघर्ष-साधना और सम्पादन-दृष्टि का एक और चमत्कार! सचमुच आप एक बड़ी सेवा कर रहे हैं जो प्राचीन अध्यात्म, धर्म, योग-ध्यान को इस तरह आधुनिक एवं वैज्ञानिक के साथ प्रस्तुत करते हैं।

विशेष रूप से 'बातचीत' के माध्यम से प्रश्नोत्तरी की नई विधा को आपने जिस तरह नया आयाम — नया अर्थ में नई प्रेषणीयता दी है — वह अपने आप में बे-मिसाल है।

'तीर्थंकर' [illegible]

—डॉ. [illegible]

तीर्थंकर : एक विराट् पाँव

'तीर्थंकर' एक ऐसा पांव बन गया है, जिसमें अब तक अनेकों पांव समा चुके हैं और डॉ. सोनेजी के कथनानुसार प्रतिक्रमण-रूप हाथी का भी पांव डॉ. नेमीचन्दजी के भगीरथ पुरुषार्थ से उसमें आ समाया है। जैन दर्शन में सात का बहुत महत्त्व है। इसमें भी जीवन-मूल्यों को प्रतिक्रमण में गतिवन्त कराने वाली सोनवलकरजी की कविताएँ भी सात ही हैं और प्रतिक्रमण के जटिल विषय को निराले ढँग से और कई पहलुओं से बोधगम्य बनाने वाली बातचीतें भी सात ही हैं, जो चातुर्मासिक प्रतिक्रमण-रूप जुलाई से शुरू होकर अक्टूबर में समाप्त हुई। यदि ये बातचीतें समय-क्रम के अनुसार मुनिश्री विद्यानन्दजी से हुई बातचीत के बजाय छठी कर दी जाती तो चर्चा की मंजिल भी आत्मशुद्धि की प्रक्रिया से शुरू होकर आगे बढ़ती हुई सामायिक के लिए प्रतिक्रमण करते हुए अपने चरमोत्कर्ष पर जा पहुँचती। ये बातचीतें तो अपने ढँग की व्यापक एवं अनूठी हैं ही।

अन्य रचनाएँ भी अनुपम हैं। डॉ. भानीरामजी ने अपनी वैज्ञानिक-मौलिक रचना-शैली में सामायिक को उसके व्यावहारिक तथा भावनात्मक विन्दु पर बड़ी खूबी से प्रतिष्ठित किया है। डॉ. कोठियाजी की रचना पठनीय व मननीय है। डॉ. प्रेमसुमनजी ने विषय को जीवन्त उदाहरण देकर समझाया है। कलम के धनी सरलजी ने लीक से हटकर जहाँ अपवाद-स्वरूप किसी बहू, वह भी पढ़ी-लिखी, द्वारा प्रतिक्रमण के अतिक्रमण का व्यंगात्मक उदाहरण देकर उस तरह की बहूनों को लाइन पर लाने का प्रयास किया है। खाका खींचने में दक्ष ललवानीजी ने तो न जाने कहाँ से साहस बटोर कर सामूहिक प्रतिक्रमण पर 'विदाउट एक्सेप्शन' आक्रमण करते हुए उसे प्रदर्शन की संज्ञा दे डाली है; जब कि आचार्यश्री तुलसीजी अपनी बातचीत के अनुसार सामूहिक प्रतिक्रमण का प्रयोग सफलतापूर्वक कर रहे हैं; जिसे संपादकजी ने स्वयं सराहा / स्वीकारा है। सरलजी ने तो अन्त में 'मेरे अवगुन चित न धरो' कह कर 'राइट अबाउट टर्न' कर भी लिया है; लेकिन ललवानीजी ने प्रतिक्रमणकारी पर आक्रमण कर 'रिट्रीट' नहीं किया।

प्रतिक्रमण/सामायिक के पारिभाषिक शब्दों का कोश देने से जो लोग उसकी मूल भाषा को नहीं जानते उन्हें उसके मूलपाठ के अध्ययन में और समझने में मदद मिलेगी। इसी प्रकार संदर्भ ग्रन्थों की सूची देकर विषय के जिज्ञासुओं की महती सेवा/सहायता की है। 'तीर्थंकर' ने यह एक अनुकरणीय परम्परा डाली है। इसमें होने वाले कठिन श्रम को सहर्ष झेलते हुए ऐसा यह पहले भी कई बार कर चुका है। इस सबका श्रेय उसके यशस्वी संपादक डॉ. नेमीचन्दजी जैन को है, जिन्होंने अपने-आपको 'तीर्थंकर' एवं पत्रकारिता को समर्पित कर दिया है और समाज को शब्दों और पोथियों से हट कर सीधे जिन्दगी पर आने की सम्यक् प्रेरणा दी है।

—प्रतापचन्द्र जैन, आगरा

युगान्तरकारी / प्रेरणादायी

'तीर्थंकर' का प्रतिक्रमण/सामायिक विशेषांक पढ़कर अत्यन्त प्रसन्नता हुई। जैनधर्म और संस्कृति के विविध महत्त्वपूर्ण अंगों पर विशेषांक संपादित कर आपने जो ख्याति अर्जित की है, उसमें इस विशेषांक ने अभिवृद्धि की है। प्रस्तुत विशेषांक तो विश्वकोश बन गया है, क्योंकि इसमें प्रतिक्रमण / सामायिकके सभी संभावित पहलुओं पर जैनधर्म के मान्य संप्रदायों के अधिकृत एवं अनुभवी आचार्यों और मनीषियों के सारगर्भित विचार संग्रहीत/संकलित हैं। साथ ही प्रतिक्रमण/सामायिक से संबन्धित शब्दकोश और संदर्भ ग्रन्थों एवं विशेषांकों की सूची भी सम्मिलित है।

यह स्मरणीय विशेषांक जैन पत्रकारिता के इतिहास में युगान्तरकारी और प्रतिक्रमण/सामायिक के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए प्रेरणादायी सिद्ध होगा। (अंग्रेजी से)

—डॉ. विलास अ. संगवे, कोल्हापुर

सुन्दर संकलन

प्रतिक्रमण-विशेषांक पठनीय सामग्री का सुन्दर संकलन है।

—मुनि रत्नसेनविजय, मक्षी तीर्थ

अक्षय कोष

प्रतिक्रमण/सामायिक विशेषांक हाथ में आया और संवादकोष पढ़ने के बाद ऐसा लगा कि क्षण-क्षण में स्वभाव से निकल कर परभाव में मग्न होने वाले मन पर इसी संवादकोष का अंकुश रख सकूँ और सजग रहूँ।

यात्रा की कठिनाइयाँ सह कर आपने पाठकों के लिए जो खजाना घर तक पहुँचाया है, इसलिए हम आपके सदैव ऋणी हैं।

—सौ. पुष्पा ओसवाल और परिवार, पुणे

अभिनन्दनीय

प्रतिक्रमण/सामायिक विशेषांक में आपने निष्ठापूर्वक जो पुरुषार्थ किया है, वह अत्यन्त अभिनन्दनीय है। आप विचार-जागृति का बड़ा असंभव कार्य कर रहे हैं। आपके पास सहकारियों की टीम भी अच्छी है। समाज में धार्मिक चिन्तनात्मक जागृति का अपूर्व कार्य हो रहा है।

'तीर्थंकर' में जो प्रतीक सिद्ध होते हैं, वे सुन्दर होते हैं। उनकी स्वतन्त्र मननसामग्री अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी।

—प्र. कपिल कोटड़िया, हिम्मतनगर (गुज.)

तीर्थंकर : मेरे लिए पाठशाला

'तीर्थंकर' का प्रतिक्रमण/सामायिक विशेषांक प्राप्त हुआ। 'तीर्थंकर' की प्रतीक्षा रहती है। हर अंक ही विशेषांक होता है। जैन समाज में डॉ. नेमीचन्द जैन ही इतना शानदार प्रकाशन दे सकता है। मेरे लिए तो 'तीर्थंकर' पाठशाला है। जैनधर्म को ठीक प्रकार से जानने के लिए 'तीर्थंकर' अवश्य पढ़ना चाहिये। आप पर हमें अभिमान है। कामना है कि आप जीवन के अन्तिम क्षण तक स्वस्थ-सक्रिय बने रहते हुए हमारा मार्गदर्शन करते रहें।

—जिनेन्द्रकुमार जैन, संपादक
'जैन समाज', जयपुर

अनूठी सामग्री

सुप्रसिद्ध जैनाचार्यों तथा संतों के सामायिक एवं प्रतिक्रमण-संबन्धी विचारों को बातचीत (साक्षात्कार) के माध्यम से प्रस्तुत करने में आप सिद्धहस्त हैं, दक्ष हैं।

वैसे भी 'तीर्थंकर' के विशेषांक अपने आप में अनूठे होते हैं—उसी कड़ी में यह विशेषांक भी है।

आपकी संपादन-कला अपने आप में एक नवीनता लिये हुए है और प्रयोगधर्मा है।

सामायिक-प्रतिक्रमण पर इतनी शानदार और अनूठी सामग्री प्रस्तुत/प्रकाशित करने के लिए आप साधुवाद के पात्र हैं। विशेषांक की विशेषता को प्रदर्शित करने के लिए शब्द कहाँ से लाऊँ?

—विपिन जारोली, कानोड़ (उदयपुर)

अंक नहीं, ग्रन्थ

प्रतिक्रमण/सामायिक विशेषांक अत्यन्त सामयिक विषय पर आपकी सशक्त पकड़ का प्रमाण है। इसमें आपने जैनधर्म में विकसित होने वाले सम्प्रदायों को एक नई दिशा का दर्शन कराया है। इसमें आपने सारी बातचीत के माध्यम से जैनधर्म के विभिन्न [illegible] की जानकारी [illegible] समाहित की है। [illegible] आवश्यक [illegible] [illegible] के [illegible]।

इस सुन्दर आध्यात्मिक अंक, जिसे ग्रन्थ ही कहें तो ही इस अंक के साथ न्याय होगा के लिए अत्यन्त साधुवाद स्वीकार करें। —सुनील जैन, इन्दौर

बातचीत : अद्‍भुत संयोजन

प्रतिक्रमण/सामायिक पर समुचित जानकारी आपके संपादकीय में प्राप्त हो गयी थी; फिर भी आगे की यात्रा इस आक्रमण में की – प्रश्न-उत्तर – बातचीत में आपका साथ रहेगा। तीखे व सामायिक प्रश्नों की बौछार से पूरा मानस भीग गया। उत्तर में नवीनता नहीं होने पर भी थकान महसूस नहीं हो पायी। आपकी सुदूर यात्रा के साथ ऐसा कौन-सा संबल, आत्म-तड़फ थी जो बराबर साथ देती रही, कहीं पर आप थके-हारे नहीं, जो सपना संजोया था उसे अद्‍भुत रूप में पूरा कर दिखाया।

'मोटा श्रावक/छोटा श्रावक' में श्री गणेश ललवानी ने शहद लगी तलवार से वार किया है।

संक्षेप में सारा 'तीर्थंकर' एक ग्रन्थ है जिसे कुशल पाठक ही हृदयंगम कर पायेंगे। —पदमश्री चोपड़ा, जयपुर

महत्त्वपूर्ण

'तीर्थंकर' के विशेपांक अपना महत्त्व-पूर्ण स्थान रखते हैं। प्रतिक्रमण (विशेपांक) पढ़ने से प्रतिक्रमण की जानकारी एवं करने के भाव हुए।

—ब्र. प्रकाशचन्द जैन, अवागढ़ (उ. प्र.)

कीर्तिस्तंभ

आपने अपने अथक श्रम से प्रस्तुत विशेषांक को सर्वांग सुन्दर बनाया है। इसके द्वारा 'तीर्थंकर' की विजय-यात्रा के मार्ग में कीर्तिस्तंभ का निर्माण किया है। सामायिक पर नए ढँग से महान् विद्वानों की चर्चा महत्त्वपूर्ण तो है ही, कुछ सोचने-समझने एवं चिन्तन करने के लिए भी प्रेरित करती है। —राजमल पवैया, भोपाल

मानव-उत्कर्ष

'तीर्थंकर' का हर नया अंक,
मिटाता है मानव-मन का पंक।
जमाकर पाठकों पर रंग,
करवाता है विद्वानों का संग।
करना है मानवों का उत्कर्ष,
पाते हैं पाठक ज्ञान सहर्ष।
होता है असर दिल तक,
तीर्थंकर में छपी बातों का।
पाकर माध्यम 'तीर्थंकर' का,
बढ़ता है ज्ञान पाठकों का।

—श्यामलाल जैन 'मनुज', इन्दौर

आध्यात्मिक अमृत

प्रस्तुत विशेपांक में सामायिक व प्रतिक्रमण पर प्रश्न आपके, उत्तर आचार्यों के, बड़े ही आत्मसाक्षात्कार करने-जैसे हैं। आपने तो संतों से प्रश्नोत्तर द्वारा आत्ममंथन कर आध्यात्मिक अमृत निकाला है। इससे यदि साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविकागण सामायिक/प्रतिक्रमण को महत्त्व को समझ लें तो जैन समाज की गरिमा बढ़ जाए, और सिद्ध-स्वरूप भगवान् महावीर के वीतराग मार्ग में मानव-हृदय निर्मल बन जाए। —मानवमुनि, इन्दौर

बातचीत : प्रारंभ रखें

तीर्थंकर का प्रतिक्रमण-अंक संग्रहणीय है। तुम्हारे प्रश्न मूलभूत होते हैं, इससे माननीय मुनिवरों को विवरण देने में सुविधा होती है। यह प्रक्रिया प्रारंभ रखें।

—निरंजन जमीदार, इन्दौर

योजनाबद्ध

प्रतिक्रमण-विशेपांक मिला है। बहुत ही मेहनत और योजना से आप कार्य कर रहे हैं।—डॉ. कमलचन्द सोगानी, उदयपुर

सुन्दर

प्रस्तुत विशेषांक बहुत ही सुन्दर ढँग से संपादित/संकलित है।

—नरेन्द्रकुमार जैन, देहरादून

हम सभी ऋणी हैं। वे अत्यन्त मधुरभाषी और स्पष्ट वक्ता हैं।

समारोह के मुख्य अतिथि सांसद श्री जे. के. जैन ने सेठजी के गौरवपूर्ण उद्योगमय जीवन का उल्लेख करते हुए कहा कि उनका यह जीवन-रथ सदैव आगे बढ़ता रहे (इस अवसर पर दिल्ली की जैन समाज की ओर से एक चाँदी का रथ श्री जैन की धर्मपत्नी श्रीमती निर्मला जैन के हाथों किया गया।)

मूडबिद्री के भट्टारक श्री चारुकीर्ति स्वामीजी ने कहा कि सेठ लालचंदजी के दोशी घराने का जैनधर्म के प्राचीन ग्रन्थों को प्रकाशित करने में सर्वाधिक योगदान है। अत्यन्त प्रतिकूल वातावरण में भी धवल-जयधवल-जैसे महान् ग्रन्थों को ताड़पत्रों पर से कागज पर छपवाकर उसकी सुरक्षा का महानतम कार्य किया है। जैन साहित्य को समाज में लाने का कार्य सेठ लालचंदजी ने उत्साह के साथ किया।

मध्यप्रदेश के सुप्रसिद्ध समाजसेवी श्री बाबूलाल पाटोदी ने कहा कि सेठजी के मूँछों पर आज भी ८० वर्ष की अवस्था में जो 'ताव' नजर आ रहा है वह एकमात्र शाकाहार का परिणाम है। भारतीय संस्कृति की मूल धरोहर उन्होंने सुरक्षित रखी है, इस पर हमें गर्व है। उनकी सुपुत्री श्रीमती शरयू दफ्तरी भी उन्हीं के पदचिह्नों पर चलकर धर्मरक्षा में वीरांगना की तरह काम कर रही हैं, यह भी गौरव की बात है।

समारोह के समापन के पूर्व आशीर्वाद प्रदान करते हुए एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी ने कहा कि भगवान् आदिनाथ ने सर्वप्रथम गन्ने की खेती और गन्ने के रस का उपयोग बताया। व्यापार आदि की शिक्षा दी। कृषि का अभ्यास दिया; जो आज भी बराबर चल रहा है। सेठ लालचंदजी को संबोधित करते हुए कहा कि सभी बदल गये, सेठजी नहीं बदले। उनका धोती-कुर्ता ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। वे समाज और धर्म की खूब सेवा करते रहे, यही हमारा आशीर्वाद है।

—एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी पोदनपुर (बम्बई) से गत ११ नवम्बर ८४ को विहार कर पुणे, गजपंथा, (नासिक), कोपरगाँव, शहापुर आदि होते हुए ७ जनवरी, ८५ को पैठण पहुँच रहे हैं। महाराष्ट्र के ग्रामों और नगरों में अहिंसा और शान्ति का सन्देश सुनाते हुए एलाचार्यश्री की मध्यप्रदेश में मार्च, ८५ के पहले सप्ताह में मंगल प्रवेश की संभावना है। इन्दौर में उनका शुभारम्भ अप्रैल, ८५ में दूसरे सप्ताह में हो सकता है।

—'महावीर पुरस्कार १९८३' के लिए डॉ. पन्नालालजी जैन साहित्याचार्य (सागर) की कृति 'सम्यक्त्व चिन्तामणि' को चुना गया है। दि. जैन अतिशय क्षेत्र, श्रीमहावीरजी द्वारा संचालित जैन विद्या संस्थान, श्री महावीरजी द्वारा यह पुरस्कार प्रदान किया जाता है। पुरस्कार-राशि रु. ५००० और प्रशस्ति पत्र प्रदान करने हेतु लेखकका सम्मान श्रीमहावीरजी के वार्षिक मेले पर एक विशेष समारोह में किया जाएगा। 'महावीर पुरस्कार १९८४' के विषय की घोषणा भी शीघ्र की जाएगी।

—पंजाबी यूनिवर्सिटी की महावीर चेयर फार जैन स्टडीज के डायरेक्टर डॉ. वंसीधर भट्ट की कृति 'दी केनोनिकल निक्षेप' को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उत्तम कोटि के शोध-ग्रन्थों में गिने जाने के कारण सन् १९८४ का 'अन्तर्राष्ट्रीय पार्वती जैन अवार्ड' प्रदान किया गया है। ज्ञातव्य है, स्व. विदुषी साध्वी श्री पार्वतीजी (१९८५-१९४०) की पावन स्मृति में प्रति वर्ष अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के जैन विद्वानों की उत्तम कृति के लिए रु. ११०० की राशि से सम्मानित करने का निश्चय किया गया है। □□

जैन साहित्य में कृष्ण

जैन वाङ्मय में शलाका पुरुष श्रीकृष्ण वासुदेव का, कथानक और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से, विशेष महत्त्व है। प्रस्तुत कृति में, जैन साहित्य में कृष्ण-कथा, कृष्ण का स्वरूप, व्यक्तित्व, तीर्थंकर नेमिनाथ और कृष्ण का पारस्परिक सम्बन्ध तथा कृष्ण के महान् कार्यों का संक्षिप्त विवेचन तो है ही, साथ में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी में लिखी गई प्राचीन जैन कवियों की अब तक उपलब्ध रचनाओं का भी कालक्रम से उल्लेख हुआ है।

कृतिकार हैं—डॉ. महावीर प्रसाद कोटिया, मूल्य १०/-

मूलाचार (पूर्वार्ध)

(संस्कृत एवं हिन्दी टीकानुवाद के साथ पहली बार प्रकाशित)

आचार्य वट्टकेर द्वारा प्रणीत प्राकृत ग्रन्थ "मूलाचार" जैन आचार-विधा पर सर्वाधिक प्राचीन कृति है। भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा यह प्राकृत मूल एवं श्री वसुनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती विरचित संस्कृत टीका तथा पं. (डा.) पन्नालाल जैन साहित्याचार्य के संपादकत्व में आर्यिकारत्न ज्ञानमती माताजी द्वारा हिन्दी-अनुवाद के साथ प्रकाशित।

भारतीय ज्ञानपीठ
बी/45-47, कनॉट प्लेस
नई दिल्ली-110 001

श्रेष्ठ चिन्तनात्मक साहित्य के प्रणेता

(डॉ.) प्रद्युम्न कुमार जैन 'अनंग' की पठनीय कृतियां

मृत्युबोध–प्लेटो की अमरकृति 'फीडो' का हिन्दी-रूपान्तर, प्रथम बार, सशक्त प्रस्तावना-सहित जीवन और मृत्यु की अपरिहार्य परिणति का मार्मिक विवरण।

प्रकाशक–प्रज्ञा प्रकाशन, गिलिस बाजार, कानपुर मूल्य रु. २०.००

तीर्थंकर जीवन दर्शन–मौलिक दार्शनिक कृति। जैन दर्शन का तुलनात्मक निर्वचन।

प्रस्तावक–विद्यावारिधि डॉ. ज्योति प्रसाद जैन

प्रकाशक:–अरुणोदय प्रकाशन, लखनऊ मूल्य रु. १७.५०

Democratization of Life अप्राप्य प्रकाशन

शीघ्र प्रकाश्य रचनायें :– इच्छुक प्रकाशक लेखक से सम्पर्क करें।

आहटें बन्द कमरों की (काव्य संग्रह)–अवचेतन मन के गहन धरातल से उपजी भावाभिव्यक्तियाँ। विभिन्न मिथकीय, इतिहासकीय एवं काल्पनिक प्रतीकों और बिम्बों के माध्यम से संगीत-माधुरी से ओत-प्रोत लम्बी और छोटी कविताओं का संकलन, कवि के पूर्वकथ्य के साथ।

धर्म : आयाम और प्रासंगिकता–चिन्तनात्मक निन्बधों का दुर्लभ संकलन। आज के संदर्भ में धर्म की प्रासंगिकता पर विभिन्न दृष्टिकोणों से किया गया अत्यंत मौलिक एवं चौंकाने वाला ऊहापोह। हिन्दी लेखन में अपने ढंग का पहला प्रयास, अत्यन्त सारगर्भित विचारोत्तेजक और शायद विवादास्पद भी।

धनुषयज्ञ (व्यंग्यनाटिका)–आज के परिवेश और नारी-नियति पर चुटीला व्यंग्य

जूझता हुआ आदमी (उपन्यास)–अपने से ही लड़ता हुआ आदमी। मनोवैज्ञानिक धरातल पर सृजित एक आदमी की मार्मिक कहानी।

पता–ए.एन. झा राजकीय इन्टर कॉलेज, रुद्रपुर (नैनीताल) २६३ ७५३

अप्रैल १९८४ में एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी की

षष्ठिपूर्ति के उपलक्ष में

'तीर्थंकर' का एक अपूर्व, अविस्मरणीय, मननीय विशेषांक

श्रावकाचार विशेषांक

जिसमें आप पढ़ेंगे – श्रावक : कैसा था, है, हो; श्रावकाचार : इतिहास के झरोखे से; पूजा किसकी, पूजा कैसे; स्तुति, प्रार्थना, उपासना; व्यसनमुक्त जीवन : उल्लास-ही-उल्लास; ध्यान और योग; तनाव और संत्रास : घटायें कैसे इन्हें?; शाकाहार; रात्रि-भोजन : कभी नहीं, क्यों नहीं?; पानी छानकर ही क्यों? चिकित्सकों की आँख से; श्रावक : धन्धे कैसे-कैसे, पेशे कैसे-कैसे; श्रावक : मुनियों की दृष्टि में; स्वाध्याय : तपों का राजा; इत्यादि बीसियों अनछुए शीर्षक और अद्भुत रूपसज्जा; मूल्य–पन्द्रह रुपये; रजिस्टर्ड डाक से बीस रुपये।

(संपादकीय : पृष्ठ ६ का शेष)

कि उनके नये, या पुराने होने का कभी/कोई प्रश्न ही नहीं उठता। प्रतिक्रमण-की-प्रक्रिया में जिन मूल्यों से विचलित होने, और विचलन-बिन्दु पर प्रत्यावर्तन की बात होती है, वे इतने सिद्ध/परीक्षित हैं कि उन्हें ले कर किसी भ्रान्ति/[illegible] की गुंजाइश नहीं है; अतः हमें चाहिये कि हम उन सारे संदर्भों को एक बार देख जाएँ, जिनका संबन्ध अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह से है। देखें कि जो व्याख्याएँ हमारे चिन्तकों ने इनकी दी है, उनके अनुसार हम चल रहे हैं? क्या उन मूल्यों में कहीं किसी क़िस्म के बदलाव की ज़रूरत है? शायद [illegible] सामने से/बहुत नजदीक से उभर आयेगा : किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। आज जिस तरह की घटनाएँ हो रही हैं उन्हें ले कर यदि हम प्रतिक्रमण के स्वरूप/उसकी विधि-पद्धति पर विचार करेंगे तो पायेंगे कि यह एक उत्तम सुनियोजित और सुदृढ़ शान्ति-पथ है कि जिस पर कदम डाल कर हम काफी [illegible] निश्चिन्त/सुखी/निर्द्वन्द्व हो सकते हैं। हमारा प्रयत्न होना चाहिये, अतः, कि हम प्रतिक्रमण-की-प्रासंगिकता को समझें तथा जाल में अधिक गहरे धँसने की अपेक्षा उससे पूरे पुरुषार्थ के साथ बाहर आ जाएँ।

मध्यप्रदेश में इन्दिरा गाँधी

स्वर्गीय श्रीमती इन्दिरा गाँधी अनेक बार मध्यप्रदेश आयीं। तब भी जब वे प्रधानमंत्री नहीं थीं – जवाहरलालजी के साथ आती रहीं। उन्हें मध्यप्रदेश से बहुत अधिक लगाव था – यहां के लोगों से, आदिवासियों से, यहां के स्मारकों से।

प्रदेश के विकास की नींव की अनेक शिलाएँ उन्होंने अपने हाथों रखीं। [illegible] '८१ को बिर्सिंहपुर में [illegible] ताप विद्युत केन्द्र' का शिलान्यास किया, [illegible] में [illegible] संस्थान' की नींव रखी। [illegible] नवम्बर '८१ को [illegible] में [illegible] सुपर ताप विद्युत परियोजना' का शिलान्यास किया। [illegible] अक्टूबर '८४ की यात्रा प्रदेश की उनकी अन्तिम यात्रा थी। [illegible] [illegible] (बस्तर) में 'नर्मदा सागर [illegible]' की नींव रखी।

[illegible] के हर अंचल में उनके स्मृति चिह्न हमारी धरोहर हैं

[illegible]

इन्दौर डी. सी./६२ म. प्र. • लायसेन्स नं. ३
दिसम्बर १९८४ (पहले से डाक-व्यय चुकाये बिना भेजने की अनुमति प्राप्त)

हाथी और रुई

- जो कार्य अपने लिए प्रतिकूल है, उसे कभी दूसरों के लिए मत कर; यह धर्म की पहली शर्त और पहली बुनियाद है।
- यदि तन, मन, और वचन साफ-सुथरे हैं, तो इतने से ही धर्म की वृद्धि होती है। धर्म के लिए धन की आवश्यकता नहीं है।
- धर्म वही उज्ज्वल है जो स्वतः/अपने शरीर से किया जाता है; धन वही विशुद्ध/लाभदायी है जो न्याय से आता है।
- मोह के क्षीण होने पर राग-द्वेष आदि रूप अन्य परिवार स्वयं ही दुर्बल हो जाता है; अथवा यों कहें कि अर्गला (साँकल) रहित द्वार खोलने में काफी हल्का हो जाता है।
- विनय-से-रहित मनुष्य के समस्त गुण नष्ट हो जाते हैं; भला, सरोवर में जल के बिना कमल कैसे रह सकते हैं?
- वैयावृत्त्य (सेवा) से रहित व्रत-समूह ऐसे ही नहीं ठहरता है जैसे सूखे सरोवर से जाता हुआ हंस-समुदाय।
- स्वाध्याय से ज्ञान का प्रसार होता है और इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्ति होने से रोका जा सकता है; ठीक ऐसे जैसे प्रत्यूषकाल में सूर्योदय पर उल्लुओं का/घूकों का झुण्ड निस्तेज हो जाता है।
- जिसकी अन्याय में प्रवृत्ति है, ऐसे पुत्र का भी परिहार/त्याग कर देना चाहिये; क्योंकि यह असंदिग्ध है कि रेशम का कीड़ा खुद अपनी ही लार से मौत के मुँह में जाता है।
- अन्याय से बलवानों का भी क्षय हो जाता है, तो फिर क्या दुर्बलों का क्षय नहीं होगा? जिस वायु के वेग से हाथी उड़ जाते हैं, वहाँ क्या रुई की पोनी ठहर सकती है?

—सावयधम्मदोहा

[... दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी (राजस्थान) द्वारा प्रचारित]

षांक-२/सामायिक; जनवरी १९८५; वर्ष १४, अंक ९; पौष २०४१
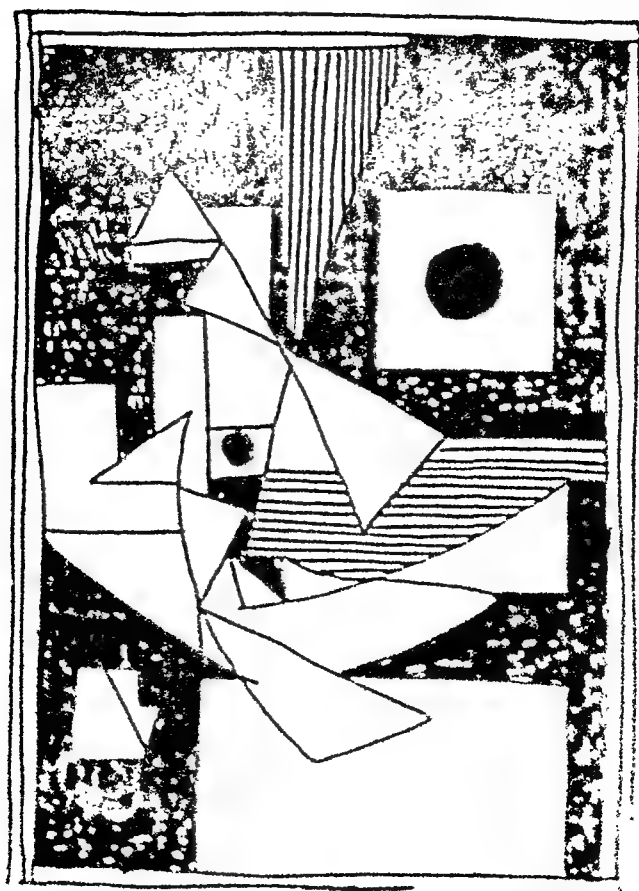
करेमि भंते सामाइयं / करता हूँ भगवन् सामायिक

करेमि भंते सामाइयं, सव्वसावज्जजोग पच्चक्खामि। जावजीवं तिविहेण मणसा वचसा कायेण ण करेमि ण कारेमि करंतं पि ण समणुमणामि तस्स भंते अइचारं पडिक्कमामि णिंदामि गरहामि जाव अरहंताणं भयवंताणं पज्जुवासं करेमि तावकालं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि।

करता हूँ भगवन् में सामायिक।

करता हूँ समस्त अशुभ (अवद्य/निन्द्य) व्यापारों का प्रत्याख्यान; परित्याग।

कैसे ?

तीन प्रकार से

मन से, वचन से, शरीर से,

इन्हें न तो करूँगा, न करवाउँगा, न किये जाते को अच्छा मानूँगा।

भगवन् !

मैं इनके अतिचारों का भी प्रतिक्रमण करता हूँ–

उनकी आत्मसाक्षिपूर्वक निन्दा करता हूँ,

उनकी गुरुसाक्षिपूर्वक गर्हा करता हूँ।

मैं न केवल सावद्य योगों का प्रत्याख्यान करता हूँ,

अपितु

जब तक मैं अरहंत भगवान् के अनुचिन्तन/आराधन में हूँ,

तब तक के लिए समस्त

दुष्ट/दूषित सांसारिक प्रवृत्तियों का व्युत्सर्ग करता हूँ। □□

विचार-मासिक

सद्विचार की वर्णमाला में सदाचार का प्रवर्तन

सामायिक : शोधांक-८

वर्ष १४; अंक ९; जनवरी १९८५
पौष वि. सं. २०४१; वी. नि. सं. २५११

संपादन : डॉ. नेमीचन्द जैन
प्रबन्ध संपादक : प्रेमचन्द जैन
आकल्पन : संतोष जड़िया

हीरा भैया प्रकाशन
६५, पत्रकार कॉलोनी कनाड़िया मार्ग,
इन्दौर-४५२ ००१, मध्यप्रदेश

दूरभाष : ५८०४

वार्षिक शुल्क : बीस रुपये
प्रस्तुत अंक : पाँच रुपये
आजीवन : दो सौ एक रुपये
विदेशों में वार्षिक : सौ रुपये

क्या/कहाँ

समग्रता/आवरण-चित्र/भाऊ समर्थ

जब हम गौर से देखते हैं तो लगता है कि हम एक ऐसे समयविन्दु पर खड़े हैं जहाँ व्यक्ति रागद्वेष में आकण्ठ डूबा है और एक-दूसरे को निगल जाने की भरपूर कोशिश कर रहा है। हिंसा और परिग्रह, असत्य और तास्कर्य ने हमारी ज़िन्दगी की संपूर्ण हरियाली को चर लिया है। हम भयानक युद्धों के बीच खड़े हैं और रोज़-रोज़ हिंसा की नयी-नयी किस्मों से अपने जीवन को उजाड़ रहे हैं।

'गाँधी-मार्ग' (दिल्ली : दिसम्बर १९८४) में प्रकाशित एक विवरण के अनुसार सन् १९४५ से १९८३ तक दुनिया के ६६ मुल्कों ने १०५ बड़े जंग जूझे, जिनमें कुल १६३५९००० लोग मारे गये। इनमें से ८९१४००० सैनिक और ५६४३००० नागरिक थे। इसके अलावा उद्योग, राजनीति, और साम्प्रदायिक रागद्वेष के कारणों से जो मौतें हुईं उनका कोई स्पष्ट हिसाब नहीं है। यह आदमी की मौतों की 'बैलेंस शीट' है, आदमी अपने क्षुद्र स्वार्थों के लिए जिन प्राणियों को मौत के घाट उतारता है, वह इससे कई गुना है। वनस्पतियों के हनन का तो कोई लेखाजोखा ही नहीं है। वह भी इस सदी में सर्वाधिक हुआ है। कीटनाशक दवाओं के कारण आदमी ने अपने शत्रु-मित्र सभी कीड़ों का क़त्ल किया है; अब पछता रहा है, चूँकि मौत ने उसके सिर पर भी हाथ फैला दिया है। चिकित्सा-प्रयोगों में जो जीव-हत्याएँ होती हैं, उन्हें भी हम नज़रअन्दाज नहीं कर सकते। स्वाद के कारण तो लाखों-लाख प्राणी रोज़-दर-रोज़ मारे ही जाते हैं और भी कई ऐसे इलाके हैं जहाँ हत्याओं का दौर लगातार बढ़ रहा है। ऐसे विषम वातावरण में सामायिक का महत्त्व स्वयं बढ़ जाता है; क्योंकि युद्धों और क़त्लों की प्रसवभूमि मनुष्य का चित्त ही है। सबमें पहले कोई युद्ध, या हत्या हमारे भीतर घटित होती है, फिर कहीं जा कर वह बाहर व्यक्त होती है।

चुनावी हिंसा जैसी हिंसा की नई किस्मों की वजह क्या है? वास्तव में आदमी आज अशान्त, अतृप्त, और असंतुलित है। वह अन्दर-अन्दर खण्डित, कुण्ठित, और विभक्त हुआ है। अशान्त व्यक्ति का जीना/न जीना कोई मतलब नहीं रखता। वह न स्वयं का विकास कर पाता है, न दूसरों के विकास में कोई उपकारक भूमिका अदा कर सकता है। अशान्त/असंतुलित व्यक्ति तो जो लोग शान्तचित्तता और निर्विघ्नता के साथ अपना कर्तव्य संपन्न करना चाहते हैं, उन्हें भी अशान्त कर डालता है। संतुलन सौंदर्य और सृजन का पिता है। जहाँ संतुलन है, वहाँ सारी रचनात्मक संभावनाएँ सिर झुकाये हाज़िर हैं, और जहाँ असंतुलन और विनाश में होड़ है, वहाँ जो न हो वह कम है। आज हमारे समाज में एक व्यक्ति दूसरे के शोषण में लगा हुआ है। उसकी इच्छाएँ लगातार बढ़ रही हैं, और इन इच्छाओं को बेलगाम करने का व्यापार भी निरन्तर बढ़ रहा है। पैसा मनुष्य पर हावी है। धर्म पिछली पंक्ति में चला गया है। सदाचार दोयम हुआ है। अकुशल और तिकड़मी व्यक्ति को अप्रत्याशित प्रतिष्ठा मिली है। ऐसे में सामायिक ही व्यक्ति को सम पर/समत्व पर/सद्विवेक पर लौटा सकती है। वस्तुतः सामायिक द्वन्द्वातीत और छद्मातीत होने का अचूक साधन है।

ना. : जब से धर्म की तरफ मनुष्य का लक्ष्य हुआ तब से ।

ने. : यह तो आपने बड़ी अनिश्चित बात कह दी । सन्-संवत् वाली बात कीजिये ।

ना. : इसमें सन्-संवत् जैसी बात कुछ भी नहीं है ।

ने. : भगवान् महावीर के जन्म का जैसे सन्-संवत् है, क्या उसी प्रकार सामायिक के आविर्भाव की कोई निश्चित तिथि नहीं है ?

ना. : यह तो आदिनाथ भगवान् के पहले से चली आ रही है । उनके माता-पिता भी सामायिक करते थे ।

ने. : प्राकृत का आविर्भाव तो उस समय नहीं हुआ था ।

ना. : यहाँ भाषा से मतलब नहीं है । आपका प्रश्न है : सामायिक कब से है; चूँकि पाप अनादिकालीन है, तो पाप का निरोध भी अनादिकालीन है । शान्ति की ओर अग्रसर होने की प्रवृत्ति/प्रक्रिया सामायिक-मूलक है ।

फू. : जैनधर्म विश्व को अनादि मानता है । जैसी रचना हम आज देखते हैं, वह पहले भी थी; इसलिए यह तय है कि जब से पाप है, अधर्म है, या दुष्प्रवृत्तियाँ हैं, तब से उनका निराकरण भी है । ये दोनों साथ-साथ चलते हैं । एक चीज पहले हो और दूसरी बाद में ऐसा नहीं है । इन दोनों को हमेशा से साथ-साथ ही मानना चाहिये ।

ने. : अब बतलाइये कि सामायिक कौन करे ? इसका अधिकारी कौन है ? इसके लिए कोई संहनन, या पात्रता जैसी कुछ है क्या ?

फू. : संहनन का विचार तो है; उत्तम संहनन वाले के लिए उत्तम प्राप्ति होती है, परन्तु जो जघन्य संहनन वाला है, वह सामायिक न करे, ऐसा विधान नहीं है । सामायिक सबके लिए है, विशेषत: व्रती के लिए ।

ने. : और जो व्रती नहीं हैं वह.....

फू. : उसे भी समता के अभ्यास के लिए सामायिक करनी चाहिये ।

ने. : जो व्रती नहीं है, क्या उसके लिए सामायिक का स्वरूप कुछ भिन्न है ?

फू. : भिन्न नहीं है । व्यवस्था तो एक ही है । विधि भी लगभग एक ही है । कोई खास फर्क नहीं है । सामायिक की दो परम्पराएँ मिलती हैं । एक है सामायिक, वन्दना, प्रतिक्रमण, चतुर्विंशति स्तव, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग—इसमें सामायिक सर्वप्रथम है । सामायिकपूर्वक की गयी वन्दना ही धर्म की (धर्मके लिए) वन्दना कहलाती है । सामायिक के बिना की गयी जो वन्दना है अथवा देवपूजा है वह लौकिक है, पारमार्थिक नहीं है । समता-परिणाम आये बिना भगवान् की कोई पूजा-भक्ति करे, तो वह परमार्थ नहीं कहलायेगी । सारे विकल्पों को छोड़ कर भगवान् की जो भूमिका है, उसमें पहुँचना परमार्थ है ।

ने. : सहन करता है, या उसे पता ही नहीं चलता ?

दा. : पता तो चलता है, लेकिन वह सहन करता है । सामायिक करने वाले तीन तरह के होते हैं । पहले सहन करते हैं । दूसरे ऐसी स्थिति में भी अपनी आत्मा की ओर झुकने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं, और तीसरे वे जिन्हें पता ही नहीं चलता, वे इतने तल्लीन/मगन हो जाते हैं । ध्यान करने में यही बात है ।

ने. : क्या सामायिक के लिए कोई स्थान-विशेष ज़रूरी है ?

फू. : वन हो, या घर; एकान्त होना चाहिये । परिस्थितिवश स्थान में परिवर्तन भी करना पड़ सकता है ।

ने. : क्या सामायिक में स्थान को गौण मानें ?

फू. : स्थान है तो मुख्य, परन्तु परिस्थितिवश उसे गौण करना पड़ता है ।

ने. : मुख्य क्यों है ?

फू. : मुख्य इसलिए है कि हमारे चित्त में व्याक्षेप न हो, किसी तरह की आकुलता न आने पाये । इसके लिए ज़रूरी है कि हम सामायिक के लिए एकान्त स्थान ही चुनें ।

ने. : क्या सामायिक के लिए कोई समय निश्चित है ?

ना. : प्रातः, मध्याह्न, संध्या । दो, चार, या छह घड़ी का समय है । जो प्रतिमाधारी होते हैं, वे सामायिक छह घड़ी करते हैं ।

ने. : आप कब तक करते हैं ?

ना. : दो घड़ी (४८ मिनिट), यह तो सामान्य बात है । एक घण्टा भी लग जाता है ।

फू. : व्यवस्था बनाते हैं कि सामायिक अधिक-से-अधिक समय चले; लेकिन अवधि न्यूनाधिक होती है; क्योंकि मेरा मुख्य काम तो साहित्यिक है; अतः उसमें जो भी समय देता हूँ, वह भी सामायिक है ।

ने. : यानी साहित्यावलोकन/लेखन ही आपकी सामायिक है; क्या ऐसा मान लें ?

फू. : है तो नहीं । सामायिक के लिए चित्त को अलग से एकाग्र करना चाहिये ।

ना. : आपका जो स्वाध्याय है, वह भी तो सामायिक ही है ।

फू. : सामायिक में आता तो है । देवपूजा भी सामायिक है ।

ना. : जिसमें चित्त की एकाग्रता हो, ऐसी देवपूजा भी सामायिक के अन्तर्गत आती है ।

ने. : समझौते वाली बात मत कहिये । स्पष्ट रूप से बताइये कि अगर हम सामायिक पाठ कर लें, तो क्या सामायिक हो गयी ?

ना. : नहीं; लेकिन दोनों की अपनी-अपनी भूमिकाएँ हैं। पहले वातावरण बनाना पड़ता है; पाठ उसका अंग है, ताकि जो भीतर है, उसका ज्ञान हो, हमारा लक्ष्य कुछ बँधे; इसके बाद हम सामायिक करें ।

ने. : ज्यादातर लोग 'सामायिक पाठ' करते हैं; लेकिन उसका अर्थ नहीं जानते, तो क्या इसे हम सामायिक कहेंगे ?

ना. : सामायिक-की-विधि है यह ।

फू. : उसने अपने को अन्य विकल्पों से हटा कर सामायिक-के-एकमात्र विकल्प में रोके रखा है; इस अर्थ में यह सामायिक है ।

ने. : लेकिन वह अर्थ नही जान रहा है ।

फू. : इतना तो वह जान ही रहा है कि सामायिक में राग-द्वेष से ऊपर उठने/हटने का अभ्यास करना है ।

ने. : ऐसे लोगों को आगे ले जाने के लिए क्या किया जाए ?

फू. : उन्हें स्वाध्याय के लिए प्रेरित करें ।

ने. : 'सामायिक' का मात्र पठन करने वाले को यह बोध कैसे दिया जाए कि वह कितना सही कर रहा है और कितना ग़लत ?

फू. : ग़लत तो वह कर ही नहीं रहा है, जो कर रहा है, सही ही है ।

ने. : कैसे ?

फू. : यों भले ही कहिये कि जो क्रिया उसे बुद्धिपूर्वक करनी चाहिये थी, उसमें उसका थोड़ा अभाव है ।

ने. : विवेक का ।

फू. : उसमें विवेक नहीं आ पा रहा है । पाठ तो वह कर रहा है; अतः उनसे वह अच्छा है, जो कुछ कर ही नहीं रहे हैं ।

ने. : ज्यादातर लोग 'सामायिक पाठ' ही कर रहे हैं, सामायिक नहीं ।

फू. : 'सामायिक पाठ' भी 'सामायिक' का ही अंग है ।

ने. : लेकिन उसका बहुत छोटा प्रतिशत वह है ।

फू. : देखिये, मूल सामायिक तो बहुत बड़ी बात है । यदि हम सिर्फ णमोकार मन्त्र का स्मरण करते हैं, या उसकी माला फेरते हैं, तो वह सामायिक कहाँ हुई ? असल में जहाँ समता का अभ्यास नहीं है, वहाँ सामायिक नहीं है; लेकिन सामायिक का मार्ग यह अवश्य है; जो उसने पकड़ लिया है; कदाचित् वह उपयुक्त परिणाम में आ जाए ।

फू. : जैसे, जो सामायिक प्रतिमाधारी है, उसकी सामायिक निरतिचारपूर्वक है, क्योंकि वह निर्धारित समय को टालेगा नहीं, मन में अनादर नहीं लायेगा ।

ने. : जो प्रचलित विधि है सामायिक की, क्या इसे और अधिक सरल करें या वह जैसी है, वैसी उपयुक्त है ?

फू. : अधिक कुछ यदि करेंगे; तो वह नहीं के बराबर हो जाएगी ।

ने. : तो क्या इसका जटिलीकरण कर दें; इसे अधिक जटिल बना दें ?

फू. : गृहस्थ से जितना बन सके उतना उसे करने देना, यही इसका सरलीकरण है । समय और आवश्यकता के अनुसार जो जितनी देर सामायिक पाठ पढ़ता है, या सामायिक करता है, उसे उतनी देर करने दीजिये । स्वाध्याय की ओर उसे प्रेरित कीजिये, तो वह स्वयं सामायिक में सरल/सहज रूप में आ जाएगा ।

ने. : प्रतिक्रमण शायद जटिलता के कारण, या अधिक समय लगने के कारण मुट्ठी से खिसक गया है ।

फू. : पापवृत्ति के कारण इसका ध्यान ही नहीं रहा ।

ने. : तो फिर आगे चलकर सामायिक के बारे में भी यही होने वाला है; वह भी छूटने वाली है ।

फू. : वह प्रायः छूट चुकी है ।

ने. : इसे पुनरुज्जीवित करने का क्या कोई उपाय है ?

फू. : है ।

ने. : क्या है ?

फू. : इस दृष्टि से गोष्ठियों की योजना करें । इनमें उच्च तत्त्वज्ञान की अपेक्षा जीवन की यथार्थता (समीचीनता) पर चर्चा करें, सामायिक आदि के लिए समाज को सहचर्चा के लिए तैयार करें । इससे लोकमानस जागृत होगा ।

ने. : यानी इन गोष्ठियों में उन बातों की चर्चा होनी चाहिये, जो जीवन, या चरित्र को उत्थान देती हों ।

फू. : दिनचर्या में समावेश कर सकें, ऐसा कार्यक्रम हमें गोष्ठियों या शास्त्र-सभाओं के माध्यम से लोगों को देना चाहिये ।

ने. : पहला कार्यक्रम क्या देना चाहेंगे ?

फू. : मन्दिर जाने का । यदि हम धर्मस्थान से किसी तरह बँधे रहते हैं; प्रतिदिन मन्दिर जाते हैं; तो मैं मानता हूँ कि हममें जैनत्व अभी जीवित है ।

ने. : या उसके जीवित बने रहने की संभावना है ।

फू. : पं. मदनमोहन मालवीय जैसे राजनेता और सुधारवादी भी हमारे मन्दिर जाने की प्रशंसा करते रहते थे; लेकिन आज हम अपनी इस परिपाटी को

फू. : जैसे, जो सामायिक प्रतिमाधारी है, उसकी सामायिक निरतिचारपूर्वक है, क्योंकि वह निर्धारित समय को टालेगा नहीं, मन में अनादर नहीं लायेगा ।

ने. : जो प्रचलित विधि है सामायिक की, क्या इसे और अधिक सरल करें या वह जैसी है, वैसी उपयुक्त है ?

फू. : अधिक कुछ यदि करेंगे; तो वह नहीं के बराबर हो जाएगी ।

ने. : तो क्या इसका जटिलीकरण कर दें; इसे अधिक जटिल बना दें ?

फू. : गृहस्थ से जितना बन सके उतना उसे करने देना, यही इसका सरलीकरण है । समय और आवश्यकता के अनुसार जो जितनी देर सामायिक पाठ पढ़ता है, या सामायिक करता है, उसे उतनी देर करने दीजिये । स्वाध्याय की ओर उसे प्रेरित कीजिये, तो वह स्वयं सामायिक में सरल/सहज रूप में आ जाएगा ।

ने. : प्रतिक्रमण शायद जटिलता के कारण, या अधिक समय लगने के कारण मुट्ठी से खिसक गया है ।

फू. : पापवृत्ति के कारण इसका ध्यान ही नहीं रहा ।

ने. : तो फिर आगे चल कर सामायिक के बारे में भी यही होने वाला है; वह भी छूटने वाली है ।

फू. : वह प्रायः छूट चुकी है ।

ने. : इसे पुनरुज्जीवित करने का क्या कोई उपाय है ?

फू. : है ।

ने. : क्या है ?

फू. : इस दृष्टि से गोष्ठियों की योजना करें । इनमें उच्च तत्त्वज्ञान की अपेक्ष जीवन की यथार्थता (समीचीनता) पर चर्चा करें, सामायिक आदि के लिए समाज को सहचर्चा के लिए तैयार करें । इससे लोकमानस जागृत होगा ।

ने. : यानी इन गोष्ठियों में उन बातों की चर्चा होनी चाहिये, जो जीवन या चरित्र को उत्थान देती हों ।

फू. : दिनचर्या में समावेश कर सकें, ऐसा कार्यक्रम हमें गोष्ठियों या शास्त्र सभाओं के माध्यम से लोगों को देना चाहिये ।

ने. : पहला कार्यक्रम क्या देना चाहेंगे ?

फू. : मन्दिर जाने का । यदि हम धर्मस्थान से किसी तरह बँधे रहते हैं; प्रतिदिन मन्दिर जाते हैं; तो मैं मानता हूँ कि हममें जैनत्व अभी जीवित है ।

ने. : या उसके जीवित बने रहने की संभावना है ।

फू. : पं. मदनमोहन मालवीय जैसे राजनेता और सुधारवादी भी हमारे मन्दिर जाने की प्रशंसा करते रहते थे; लेकिन आज हम अपनी इस परिपाटी को

भूलते जा रहे हैं । लम्बी-लम्बी गोष्ठियाँ चला करती हैं; लेकिन मन्दिर जाने का उसमें कोई कार्यक्रम नहीं रहता; उसके कार्यक्रमों में मन्दिर की आवश्यकता, उपयोगिता का कहीं उल्लेख ही नहीं होता । आशय यह है कि सामायिक को पुनरुज्जीवित करने में मन्दिर की अपनी एक अत्यन्त महत्त्व की भूमिका है । सामायिक की प्रेरणा धर्मस्थलों से सहज ही मिल सकती है ।

ना. : हर जैन जो मन्दिर जाता है, भगवान् की पूजा करता है । यदि वह पूजन नहीं करता है, तो दर्शन करता है । दर्शन के बाद मन्दिर में ही माला फेरता है । यह चाहे सामायिक का बहुत ऊँचा रूप न भी हो, लेकिन सामायिक का पूर्व रूप तो ज़रूर है । इस प्रकार मन्दिरों के माध्यम से भी सामायिक की परम्परा बराबर चल सकती है; हम उसे अटूट बनाये रख सकते हैं ।

ने. : माला-रूप में तो सामायिक अस्तित्व में है; लेकिन इससे और आगे उसे बढ़ाना चाहिये ।

फू. : यदि मन्दिर (कोई भी धर्मस्थल) जाना बराबर बना रहे, तो उसके आगे बढ़ने की संभावना है। दर्शन और स्वाध्याय यदि बरकरार रहें तो संभावनाएँ ही संभावनाएँ हैं ।

ने. : आज चारों ओर हिंसा है, तनाव है, मांसाहार है; ऐसे में आपको सामायिक की कोई प्रासंगिकता दीख पड़ती है ।

फू. : खान-पान में दोष का आना तो हमारी कमज़ोरी का फल है। इसमें सुधार हो सकता है। यदि हम थोड़े समय के लिए आत्मा, उसके ज्ञायक स्वभाव आदि के उच्च तत्त्वज्ञान को गौण कर जीवन की रोज़मर्रा की बातों पर ध्यान दें, तो काफी सुधार हो सकता है; क्योंकि जैन ही एक ऐसी कौम है जहाँ मांसाहार पूर्णतया निषिद्ध है । पूरी-की-पूरी कौम में शाकाहार स्वीकृत है ।

ने. : हमारे लिए यह बड़े गौरव की बात है । इस पर सुदृढ़ रहने की आवश्यकता है; कैसे रहें ?

फू. : सबसे बड़ा अपराध हो रहा है, पैसे वालों की तरफ से, हमने उन्हें ऊँचा स्थान दे रखा है । जब तक नैतिकता को सर्वोपरि स्थान नहीं दिया जाएगा, तब तक वांछित सुधार नहीं हो पायेगा । हमें सामाजिक महत्त्व तो अब नैतिकता को ही देना होगा ।

ने. : सामाजिक मूल्यों के बदल जाने से शायद यह गड़बड़ी हुई है ?

फू. : वास्तव में सामाजिक प्रतिष्ठा उन्हें ही मिलनी चाहिये जो सदाचारी हों ।

ने. : सो तो है । मैं यह जानना चाहूँगा कि इस समय सामायिक की क्या भूमिका हो सकती है ?

फू. : यही कि मन्दिर जाने की परम्परा को बराबर बनाये रखें। अपने जीवन का

निरीक्षण करें । 'णमोकार मन्त्र', 'अर्हंत-सिद्ध', असिआउसा', 'ॐ' आदि हैं; इनमें से किसी एक को अपना लें । इतना तो हम करें ही ।

ने. : यानी हमें सामायिक का कोई नया संस्करण विकसित कर लेना चाहिये ।

फू. : जब हम ग्यारहवीं शताब्दी के इतिहास को देखते हैं, तब पता चलता है कि उस समय काफी शिथिलता आ गयी थी । जब इसे बदलने या दूर करने की कोशिश हम आज करते हैं, तब अध्यात्म आड़े आ जाता है; इसने हमें अधिक शिथिल कर दिया है । हम नहीं चाहते कि अध्यात्म कुछ कम हो; कम करने का प्रयोजन नहीं है; प्रयोजन प्रारंभिक / प्राथमिक क्रियाओं को मुख्यता देने का है । इसके बाद अध्यात्म आपोआप चलेगा ।

ना. : पं. जी (फूलचन्दजी) ने 'ज्ञान पीठ-पूजांजलि' की भूमिका में त्रिकाल वन्दना को सामायिक कहा है । त्रिकाल वन्दना में पूजा-पाठ इत्यादि सब आ जाता है । आज देश में / समाज में अशान्ति बढ़ रही है; पापाचार बढ़ रहा है; लोग दुःखी हैं; अनेक आपत्तियाँ हैं । अतः प्रश्न है, शान्ति कैसे हो ? मुझ तक ऐसे बहुत सारे प्रश्न आते हैं । लोग भी आते हैं । रास्ता एक ही है . सामायिक । उत्तम तरीका यह है कि उनसे साकांक्ष बात कही जाए; इसका असर अवश्य होता है ।

ने. : साकांक्ष यानी ?

ना. : यह कि यदि तुम माला फेरोगे, जाप करोगे, तो तुम्हारे दुःख दूर होंगे, यह आकांक्षा भीतर रखने से वह उधर झुकता है । कई लोगों को इससे लाभ हुआ है ।

ने. : यानी जो धर्म निर्लोभ की ओर ले जाता है, उसे लोभ से शुरू करें ।

ना. : यह लोभ नहीं है; साकांक्ष यानी भगवान् की माला फेरने से, जप करने से (जो एक तरह से सामायिक का रूप ही है) शान्ति मिलती है, दुःख दूर होते हैं । यह ऊँचा रूप नहीं है, क्योंकि साकांक्ष है; लेकिन सामायिक के जो आरंभिक रूप प्रचलित हैं उनसे सामाजिक शान्ति लौट सकती है ।

ने. : क्या 'मेरी भावना' को हम छोटी सामायिक कहें ? क्योंकि इसमें सामायिक से संबंधित लगभग सब कुछ आ गया है; वह भी बड़ी सरल-सुगम भाषा में । एक बड़े पण्डित के हस्ताक्षर करवा रहा हूँ मेरे इस कथन पर कि 'मेरी भावना छोटी सामायिक है' ।

फू. : 'मेरी भावना' सामायिक का अंग हो सकती है, स्वयं में सामायिक तो नहीं । अंग वह हो सकती है; उसे भी पढ़ें ।

ने. : आलोचना पाठ ?

फू. : अच्छी बात है । (शेष पृष्ठ ४२ पर)

सामायिक पाठ

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं,
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ्य भावं विपरीतवृत्तो
सदा ममात्मा विदधातु देव ॥१॥

(हिन्दी : भावानुवाद)

सब जीवों से रहे मित्रता,
गुणीजनों से प्रेम अपार।
प्राणि-मात्र पीड़ित हों जो भी,
उनके प्रति मैं रहूँ उदार॥
देव ! मुझे सद्‌बुद्धि यही दो,
समतामय देखूँ यह विश्व।
दुर्जन, दुष्ट, विरोधीजनों पर,
साम्यभाव रक्खूँ हो निःस्व[1] ॥१॥

शरीरतः कर्तुमनन्त शक्तिं,
विभिन्नमात्मानमपास्तदोषम् ।
जिनेन्द्र ! कोषादिव खड्गयष्टिं,
तव प्रसादेन ममास्तु शक्तिः ॥२॥

गुण-स्मरण से तेरे मुझमें,
अमर शान्ति का हो उन्मेष[2]।
पृथक् म्यान-खड्गवत् हो यह,
आत्म और पुद्‌गल का श्लेष[3] ॥
मर-से अमर भिन्न हो जाए,
टूटे जन्म-मरण का क्रम।
वीतराग, निर्दोष, शुद्ध हो,
निर्विकार मेरा आतम ॥२॥

दुःखे सुखे वैरिणि बन्धुवर्गे,
योगे वियोगे भवने वने वा।
निराकृताशेष ममत्व बुद्धेः
समं मनो मेऽस्तु सदाऽपि नाथ ॥३॥

करके अन्त ममत्व-बुद्धि का,
रागद्वेष का कर परित्याग।
सुख-दुख में, रिपु और मित्र में,
समभावी हो रखूँ विराग॥

(१) वीतराग। (२) उदय। (३) संयोग, साथ
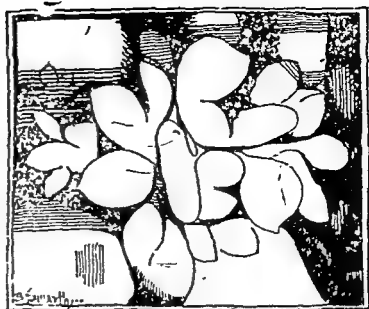
वन-उपवन, पतझड़-वसन्त में,
अनासक्ति का हो संचार।
इष्ट-वियोग अनिष्ट-योग में,
राग-द्वेष का हो परिहार ॥३॥

मुनी ! लीनाविव कीलिताविव,
स्थिरौ निखाताविव बिम्बिताविव।
पादौ त्वदीयौ मम तिष्ठतां सदा,
तमो धुनानौ हृदि दीपकाविव ॥४॥

ऋषिवर, तव अज्ञान-तिमिर-नाशक,
आलोकित युगल चरण।
स्थापित मन में हों ऐसे,
जैसे प्रतिबिम्बित चित्रण॥
कीलित हों ये बनें अचल,
दृढ़ता इनमें सहसा उभरे।
अन्तर्लीन हृदय में हों ये,
सतत रहें आसीन हरे॥४॥

एकेन्द्रियाद्या यदि देव ! देहिनः,
प्रमादतः संचरता इतस्ततः।
क्षता विभिन्ना मिलिता निपिडितास्–
तदस्तु मिथ्या दुरनुष्ठित तदा ॥५॥

मलन, अटन, पीड़न खण्डन से,
जीवों का हो यदि संहार।
भगवन्, यह प्रमाद कार्य सब,
क्षम्य और मेरा उद्धार॥
पावन मानस बना रहे यह,
सत्य-प्रेममय हो संसार।
चरण-चरण पर रहे अहिंसा,
शान्ति-सौख्य का हो विस्तार ॥५॥

विमुक्तिमार्ग प्रतिकूलवर्तिना,
मया कषायाक्षवशेन दुर्धिया।
चारित्रशुद्धेर्यदकारि लोपनं,
तदस्तु मिथ्या मम दुष्कृतं प्रभो ॥६॥

मोक्ष-मार्ग से विचलित हूँ मैं,
चार कषायों से आवद्ध।
अज्ञानी दुर्वुद्धि मढ़मति,
दुष्कार्यों में नित कटि-वद्ध ॥
यदि चारित्रिक पावनता में,
कहीं हुआ हो क्षीण चरण।
भगवन् बना रहे निर्मलतम,
मेरा यह मानस-दर्पण ॥६॥

विनिन्दनालोचन गर्हणैरहं,
मनोवचःकाय कषायनिर्मितम्।
निहन्मि पापं भवदुःखकारणं,
भिषग् विषं मंत्रगुणैरिवाखिलम् ॥७॥

लौकिक सुख के लिए जहाँ भी,
जो भी पाप किये मैंने।
मन से, वाणी से, काया से,
या कषाय से दुख देने ॥
इन मेरे कृत्यों की निन्दा,
आलोचन परिहार करूँ।
प्रवर वैद्य-सम विषहारी,
मन्त्रों से मैं उपचार करूँ ॥७॥

अतिक्रमं यं विमतेर्व्यतिक्रमं,
जिनातिचारं सुचरित्रकर्मण :।
व्यधामनाचारमपि प्रमादतः
प्रतिक्रमं तस्य करोमि शुद्धये ॥८॥

मैं हूँ अभिशापित, तापित
यों क्यों मैं जग में भरमाया ?
क्यों मैंने प्रमाद-वश अपना,
निश्चल मानस उलझाया ?
क्यों आ गयी शिथिलता मेरे,
पावन, शुद्ध चरित्र में अब ?
हो फिर यह विशुद्ध पावनतर,
उपजें फिर विचार नव-नव- ॥८॥

क्षतिं मनःशुद्धिविधेरतिक्रमं,
व्यतिक्रमं शीलव्रतेर्विलङ्घनम्।
प्रभोऽतिचारं विषयेषु वर्तनं,
वदन्त्यनाचारमिहातिसक्तताम् ॥९॥

मन की पावनता में क्षति हो,
तो उसको कहते 'अतिक्रम'।
संयम का उल्लंघन यदि हो,
तो कहलाता है 'व्यतिक्रम' ॥

विषयों में प्रवृत्ति होना ही,
आगम-भाषित है 'अतिचार'।
भोगों में गहरी प्रगाढ़ता,
कहलाती है 'अनाचार' ॥९॥

यदर्थमात्रापदवाक्यहीनं,
मया प्रमादाद्यदि किंचनोक्तम्।
तन्मे क्षमित्वा विदधातु देवी,
सरस्वती केवल बोधलब्धिम् ॥१०॥

जो कुछ भी मात्रा-पद-वाक्यों
से विहीन उच्चारित हो।
देवि शारदे, क्षमा करो सब,
केवलज्ञान प्रकाशित हो ॥
ज्ञान-दीप जल उठे हृदय में,
सब लोकों में हो आलोक।
हो निर्वन्ध हर्ष-राशि सब,
दूर हटे युग-युग का शोक ॥१०॥

बोधिः समाधिः परिणामशुद्धिः,
स्वात्मोपलब्धिः शिवसौख्यसिद्धिः
चिन्तामणिं चिन्तितवस्तुदाने,
त्वां वन्द्यमानस्य ममोस्तु देवि ॥११

इच्छित वरदायिनि, चिन्तामणि-सम,
जिनवाणी तुझे नमन।
तव प्रसाद से ज्ञान-लाभ हो,
ज्ञान-प्रदायिनि अभिनन्दन ॥
निर्मलता ही विकसित हो कर,
आत्मरूप परिणत होवे।
युग-युग के संचित कलंक को,
ज्ञान-तटी का जल धोवे ॥११॥

यः स्मर्यते सर्वमुनीन्द्रवृन्दैः
यः स्तूयते सर्वनरामरेन्द्रः।
यो गीयते वेदपुराणशास्त्रैः
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१२॥

ऋद्धि-सिद्धि-युत तपोधनों से,
पूजित-अर्चित सतत हरे।
जय 'गौरव' अंकित पुराण में,
द्वादशांग में अमित हरे॥
नर-पति छह खण्डों के स्वामी,
युग चरणों में नमित हरे।
मेरे उर-सिंहासन पर तुम,
हो जाओ संतिष्ठ हरे॥१२॥

यो दर्शनज्ञानसुखस्वभावः,
समस्तसंसार विकारबाह्यः।
समाधिगम्यः परमात्मसंज्ञः,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१३॥

दर्शन, ज्ञान, अनन्त सौख्य के,
स्वामी तुझको सतत नमन।
निर्विकार, निर्दोष, विश्व से विरत,
देव, शत-कोटि नमन॥
ध्याता, ध्येय, ध्यान के संगम,
तेरा वन्दन, अभिवन्दन।
हे सर्वज्ञ, भेद-विज्ञानी,
उर-सिंहासन करो वरण॥१३॥

निषूदते यो भवदुःखजालं,
निरीक्षते यो जगदन्तरालम्।
योऽन्तर्गतो योगिनिरीक्षणीयः,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१४॥

दुःख-राशि के मृग-समूह पर,
सिंह-सदृश तुम सतत प्रभो।
दर्पणवत् झिल-मिल करता है,
अखिल विश्व का ज्ञान विभो॥
अन्तरंग प्रासाद तुम्हारा,
ऋषि-वंदित हे परम प्रभो।
मेरे उर-सिंहासन पर आ,
हो जाओ आसीन विभो॥१४॥
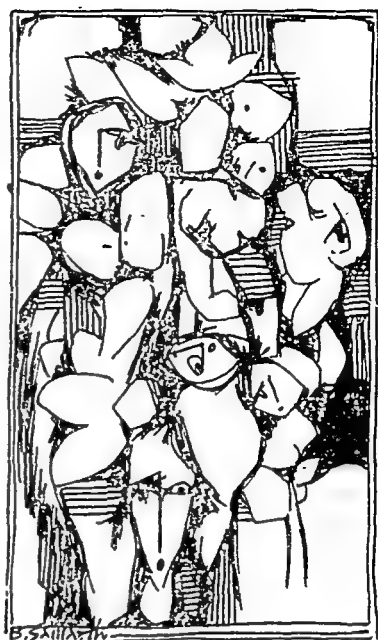
विमुक्तिमार्गप्रतिपादको यो,
यो जन्ममृत्युव्यसनाद् व्यतीतः।
त्रिलोकलोकी विकलोऽकलङ्कः,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१५॥

मोक्ष-मार्ग तेरे द्वारा प्रतिपादित
और प्रशस्त हरे।
जन्म-मरण-निर्वन्ध,
तीन लोकों के दृष्टा सतत हरे॥
कर्म-कलुष से मुक्त,
भेद-के-विज्ञानी उत्कृष्ट हरे।
मेरे उर-सिंहासन पर तुम,
हो जाओ संतिष्ठ हरे॥१५॥

क्रोडीकृताशेष शरीरिवर्गा,
रागादयो यस्य न सन्ति दोषाः।
निरिन्द्रियो ज्ञानमयोऽनपायः
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१६॥

जिन रागादिक दोषों से हैं,
सकल प्राणि संयुक्त हरे।
उन ही दोषों से वियुक्त तुम,
वीतराग, सर्वज्ञ हरे॥

स्पर्शादि पाँच इन्द्रिय मन से,
तुम हो संतत मुक्त हरे।
अविनाशी, देवाधिदेव, तुमसे
हो उर-गृह युक्त हरे ।।१६।।

यो व्यापको विश्वजनीनवृत्तिः,
सिद्धो विबुद्धो क्षुतकर्मबन्धः।
ध्यातो धुनीते सकलं विकारं,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ।।१७।।

व्यापक हो इसलिए कि दृष्टा,
अखिल विश्व के सतत हरे।
सिद्ध, वुद्ध, निर्वन्ध कर्म से,
विज्ञानी उत्कृष्ट हरे।।
अर्चित नित भव्यों के द्वारा,
ऋषि-वन्दित तुम सतत हरे।
अविनाशी, देवाधिदेव, तुमसे हो,
उर-गृह युक्त हरे ।।१७।।

न स्पृश्यते कलङ्कदोषैः,
यो ध्वान्तसंघैरिव तिग्मरश्मिः।
निरञ्जनं नित्यमनेकमेकं,
तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ।।१८।।

जैसे दूर रहा करता है,
अन्धकार रवि-किरणों से।
वैसे ही भयभीत कर्म हैं,
तेरी प्रतिभा-किरणों से ।।
शाश्वत एक अनेक रूप तू,
किन्तु दृष्टि अपेक्षा से।
तेरी शरण ग्रहण करता हूँ,
आप्तदेव, मैं स्वेच्छा से ।।१८।।

विभासते यत्र मरीचिमालि-
न्यविद्यमाने भुवनावभासि।
स्वात्मस्थितं बोधमयप्रकाशं,
तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ।।१९।।

जिसकी ज्ञान-विभा में बिम्बित,
रहता यह संसार समस्त।
भिन्न-भिन्न दिखते पदार्थ सब,
जिसकी ज्ञान-प्रभा में न्यस्त।।
सत्-चित-आनन्द रूप मयी,
जो है केवल कल्याणमयी।
शरण ग्रहण करता हूँ तेरी,
कर्म-शत्रु के अमर जयी ।।१९।।

विलोक्यमाने सति यत्र विश्वं,
विलोक्यते स्पष्टमिदं विविक्तम्।
शुद्धं शिवं शान्तमनाद्यनन्तं,
तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ।।२०।।

जिसके मंगलमय दर्शन में,
है प्रत्यक्ष रूप संसार।
जो पवित्र, शुभ, शान्त, धन्य है
आदि अन्त से मुक्त, अपार ।।
अष्ट कर्म से मुक्त शुद्ध शुभ,
तू है केवल ज्ञान मयी।
शरण ग्रहण करता हूँ तेरी,
कर्म-शत्रु के अमर जयी ।।२०।।

येन क्षता मन्मथमानमूर्च्छा,
विषाद निद्रा भय शोक चिन्ता।
क्षय्योऽनलेनेव तरूप्रपञ्चस्-
तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ।।२१।।

भस्मसात् कर देती है ज्यों,
वृक्ष-राजि को रे दव-आग।
वैसे ही कर दिये नष्ट तुमने
हैं ईश्वर देष-राग।।
काम, दम्भ, मूर्च्छा, निद्रा,
भय, चिन्ता, खेद, शोक अभिमान।
नाश किये जिस महाभाग ने,
शरण आज उसकी कल्याण ।।२१।।

न संस्तरोऽश्मा न तृणं न मेदिनी,
विधानतो नो फलको विनिर्मितः।
यतो निरस्ताक्षकषाय विद्विषः;
सुधीभिरात्मैव सुनिर्मलो मतः ।।२२।।

पाहन, तृण, पृथ्वी, सिवार पर,
या कि काठ पर हो आसन।
विज्ञवरों द्वारा प्रतिपादित,
किन्तु आत्म-आसन पावन ।।
इन्द्रिय और कषाय शत्रुओं को,
इसने है नाश किया।

मन-मन्दिर के भीतर इसने,
ज्ञान-दीप को दीप्त किया ॥२२॥

न संस्तरो भद्र ! समाधिसाधनं,
न लोकपूजा न च संघमेलनम् ।
यतस्ततोऽध्यात्मरतो भवानिशं,
विमुच्य सर्वामपि बाह्यवासनाम् ॥२३॥

भद्र, विश्व-अर्चन, सम्मेलन,
संघ नहीं समाधि-साधन ।
शल्य छोड़ अन्तर में होना,
लीन यही साधन पावन ॥
मोह-वासनाओं को त्यागूँ,
अस्मि-भाव को कर निर्मूल ।
समता का जब पवन बहेगा,
कर्म उड़ेंगे जैसे धूल ॥२३॥

न सन्ति बाह्याः मम केचनार्था,
भवामि तेषां न कदाचनाहम् ।
इत्थं विनिश्चित्य विमुच्य बाह्यं,
स्वस्थः सदा त्वं भव भद्र मुक्त्यै ॥२४॥

अभ्यन्तर अभ्यन्तर ही है,
बाहर है बाहर केवल ।
अभ्यन्तर-से-विरत-मिलन-से,
जन्म लिया करता है मल ॥
स्व-पर-भेद का ज्ञाता बन मैं,
बाह्य वस्तुओं को दूँ छोड़ ।
मुक्ति-प्राप्ति के लिए आतम को,
लूँ अनातम से बिल्कुल तोड़ ॥२४॥

आत्मानमात्मन्यवलोक्यमानस्-
त्वं दर्शनज्ञानमयो विशुद्धः ।
एकाग्रचित्तः खलु यत्र-तत्र,
स्थितोऽपि साधुर्लभते समाधिम् ॥२५॥

अपने ही में अपनेपन का,
अवलोकन-कर्ता है तू ।
दर्शन-ज्ञानमयी चिन्मयता,
पावन निर्मलता है तू ॥
मन को कर एकाग्र, ध्यान से
स्थिरता जो लाते हैं ।
वही समाधि-रत प्रज्ञ, विज्ञ
ऋषिराज प्रवर कहलाते हैं ॥२५॥

एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा,
विनिर्मलः साधिगमस्वभावः ।
बहिर्भवाः सन्त्यपरे समस्ता,
न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः ॥२६॥

अविनाशी केवल ज्ञानी है,
युग-युग से यह आतम एक ।
निर्मलता, सारल्य, ज्ञान का,
इसमें रहता है अतिरेक ॥
आतम से जो परे वस्तु हैं,
सकल कर्म से हैं उत्पन्न ।
अविनाशी वे नहीं, नयी पर्यायें,
वे ध्रुव, सतत अभिन्न ॥२६॥

यस्यास्ति नैक्यं वपुषाऽपि सार्द्धं,
तस्यास्ति किं पुत्रकलत्रमित्रैः ?
पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः,
कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये ॥२७॥

जिसका है सम्बन्ध पृथक्
अपनी ही इस काया से रे ।
कैसे सम्बन्धित हो सकता,
पुत्र, मित्र, माया से रे ?
यदि शरीर पर मढ़ी हुई यह,
खाल खींच ली जाए रे ।
तो शरीर के छिद्रों का,
अस्तित्व कहाँ रह पाये रे ? ॥२७॥

संयोगतो दुःखमनेकभेदं,
यतोऽश्नुते जन्मवने शरीरी ।
ततस्त्रिधाऽसौ परिवर्जनीयो,
यियासुना निर्वृतिमात्मनीनाम् ॥२८॥
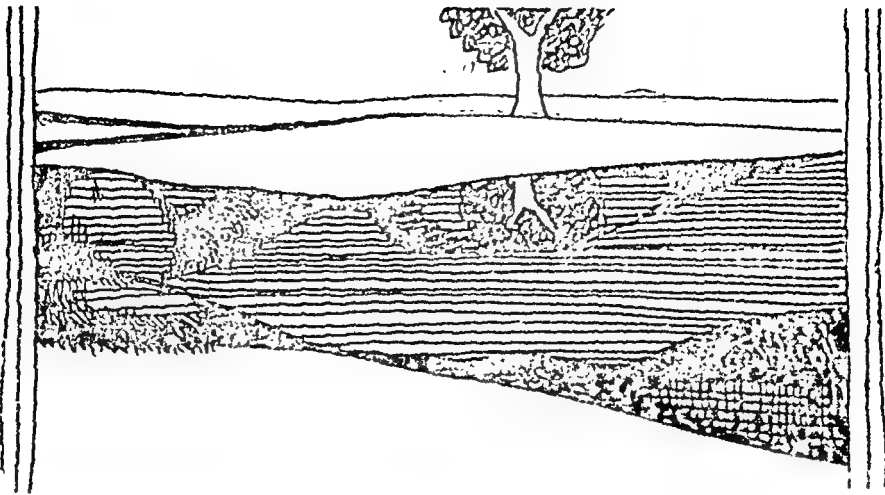
काया से बँध जाने के कारण
ही इस आतम को रे।
मिलता नहीं विराम इसे,
युग-युग से ही क्षण-भर को रे॥
शिव-सुख यदि चाहो तो, तोड़ो
नाता तुम इस काया से।
मन से, वाचा से, कर्मों से,
इस जग की सब माया से॥२८॥

सर्वं निराकृत्य विकल्पजालं,
संसारकान्तारनिपातहेतुम्।
विविक्तमात्मानमवेक्ष्यमाणो,
निलीयसे त्वं परमात्मतत्त्वे॥२९॥

इस विकीर्ण सन्देह-जाल से,
मुक्त बनो तुम अब आतम!
यह संशय ही जग-वन में,
भटकाने वाला है आतम!
जल पंकज-वत् मान भिन्न,
अपने को जग से, तू आतम!
हो तू अन्तर्लीन आज,
परमातम में ही तू आतम॥२९॥

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा,
फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं,
स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा॥३०॥

वर्तमान यह है क्या? केवल,
भूतकाल की छाया है।
सहना पड़ता वही कभी जो,
हमने कहीं कमाया है॥
कर्म किया करता है कोई,
फल पाता है यदि कोई।
मान लिया जाए यह ही तो,
व्यर्थ फसल निज की बोई॥३०॥

निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो,
न कोऽपि कस्यापि ददाति किञ्च
विचारयन्नेवमनन्य मानसः,
परो ददातीति विमुञ्च शेमुषीम्॥३१

अपने ही कर्मों के फल हम,
सतत सहा करते आये।
अन्य व्यक्तियों द्वारा ये सब,
नही नियत होने पाये॥
इस विचार को पुनःस्मरण से,
कर लें दृढ़ता से सुस्थिर।
मिल जाएगा सहज, सरलता से,
अलभ्य फिर शिव-सुख चिर॥३१

यैः परमात्माऽमितगतिवन्द्यः,
सर्वविविक्तो भृशमनवद्य
शश्वदधीतो मनसि लभन्ते,
मुक्तिनिकेतं विभववरं ते॥३२

वन्दनीय जो 'अमितगति'
मुनियों द्वारा है युग-युग से।
जिसका है सम्बन्ध पृथक्,
इन सब पदार्थ से, इस जग से
उनही पूर्ण ज्ञानधारी को,
मेरे शत-शत हों वन्दन।
विकसित उनके गुण मुझमें हों,
टूटें सब जग-के-बन्धन॥३२॥

'मेरी भावना' के रचयिता

'मेरी भावना' को हम लोकसामायिक कह सकते हैं। यह एक ऐसी
मिनीसामायिक है, जिसे चलते-फिरते कहीं भी संपन्न किया जा सकता है।
हमारे अपने युग में ही 'मेरी भावना' के बीसियों संस्करण हुए हैं।
यह अपने मानवतावादी स्वरूप और राष्ट्रीय लक्ष्य के कारण जैन-जैनेतरों में
बिना किसी संप्रदाय-भेद के प्रचलित-प्रचारित हुई है;
वस्तुत: यह एक ऐसी संपूर्ण रचना है, जो धर्मातीत है और जो अपने 'फॉर्मेट'
में वैश्विक (ग्लोबल) है।

'मेरी भावना' की अपनी रचनात्मक चुनौतियाँ हैं, जो हमारी समकालीन
हिंसक/बर्बर चुनौतियों का आपोआप एक सशक्त उत्तर हैं। यदि हम इसे
एक समर्थ नैतिक पाठशाला कहें तो शायद यह अत्युक्ति नहीं होगी।
इसका स्तर जगज्जननी / लोकमाता का है,
जिसने हमारी गत / आगत / आगामी सभी पीढ़ियों को सांस्कृतिक सुषुमा और
संतुलन प्रदान करने का संकल्प लिया है।

मज़ा यह है कि हम 'मेरी भावना' को तो गाते-गुनगुनाते हैं; किन्तु
इसके रचयिता स्व. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' को बिलकुल नहीं जानते।
आइये, इस महान् मनीषी से हम संक्षेप में परिचित हों।

मुख्तारजी का जन्म उत्तरप्रदेश के सरसावा ग्राम (सहारनपुर) में १८७७ ई. में
हुआ और निधन २२ दिसम्बर १९६८ को दिल्ली में। इन ९१ वर्षों में
उन्होंने जो किया उससे न सिर्फ हमारा अपितु सारे राष्ट्र और विश्व का
मस्तक गर्व से ऊँचा उठा है। बचपन में उनका विवाह हुआ। 'सन्मति' और
'विद्या' दो पुत्रियाँ हुईं; जिनमें से पहली आठ वर्ष की और दूसरी तीन माह
की उम्र में स्वर्ग सिधार गयी। १५ मार्च १९१८ को उनकी जीवन-संगिनी
का भी देहान्त हो गया। माता-पिता पहले ही दिवंगत हुए थे। इस
संकटापन्न मन:स्थिति में भी वे निर्द्वन्द्व / समतामय बने रहे और 'मेरी भावना'
को जी कर पुष्ट करते रहे;
इसलिए 'मेरी भावना' मात्र कथन नहीं है, मुख्तारजी की — साँस - साँस / धड़कन-
धड़कन उसमें गुँथी हुई है।

मुख्तारजी का कौटुम्बिक जीवन संघर्ष की एक तिक्तकथा है और संपूर्ण जीवन सलीब-पर-लटके जीवन की कर्तव्यगाथा ।
वे सत्य-पर-समर्पित और सत्य-के-खोजी एक ऐसे परम पुरुष थे जिन्होंने साहस, धैर्य, और कर्मठता से ज़िन्दगी को जिया और राष्ट्र और समाज के लिए वह सब किया जो एक बहुत बड़े संस्था-समूह के लिए भी संभव नहीं था वे यथार्थवादी थे और सत्य-को-शब्द देने में आस्था रखते थे ।
सन् १९०९ की बात है । मुख्तारजी ने 'जैन गज़ट' में समाज की असली हालत का चित्रण करते हुए 'विवेक की आँख' शीर्षक से एक लेख लिखा । लेख में एक दृष्टान्त द्वारा समाज के अविवेक की स्पष्ट समीक्षा करते हुए उन्होंने दो काव्य-पंक्तियां लिखीं :

फूटी आँख विवेक की, कहा करे जगदीस ।
कंचनियाँ[1] को तीन सौ, मनीराम[2] को तीस ।।

इससे इशारा मिलता है कि उनके मन में एक क्रान्ति करवट ले रही थी जो उनके भाष्यों, व्याख्याओं, तथा निबन्धों में प्रकट हुई है ।

मुख्तारजी जैनविद्या के विकास में, उसके निर्मल और क्रान्तिकारी पक्षों को उद्घाटित करने में तिलतिल मिटते रहे और 'ग्रन्थपरीक्षा' / 'समीचीन धर्मशास्त्र' 'युक्त्यनुशासन' जैसे ग्रन्थ-मणियों का सृजन करते रहे ।
उन्होंने पत्रकारिता का माथा भी ऊँचा किया ।
'जैन गज़ट' और 'अनेकान्त' उनकी गौरव-गाथाएँ हैं ।
'वीर सेवा मंदिर' आज भी उनके व्यक्तित्व का एक ऐसा विजयध्वज है जिसका ध्वजदण्ड तो बरक़रार है; किन्तु ध्वज जीर्ण हो गया है, उसके रंग काफी फीके पड़ गये हैं ।
'अनेकान्त' त्रैमासिक के रूप में प्रकाशित है, किन्तु अभी उसके कायाकल्प की गुंजाइश है । वर्तमान संपादक पं. पद्मचन्द्र शास्त्री ने उसे पुनरुज्जीवित किया है; किन्तु मुख्तारजी उनमें जी उठें (रिसरेक्ट करें) इसकी प्रतीक्षा हमें अभी करनी है । पंडितजी में उर्वर संभावनाएँ हैं, किन्तु जब तक उनके नेतृत्व में कोई सुचिन्तित योजना हाथ नहीं ली जाती, कुछ हो नहीं पायेगा ।
'अनेकान्त' को आध्यात्मिक पत्रकारिता के क्षेत्र में वैसी ही भूमिका निभानी चाहिये जो कभी 'कल्याण' (गोरखपुर) निभाता रहा है । हमें भरोसा है दिल्ली के क्षितिज पर कोई कोशिश जन्म लेगी और 'वीर सेवा मंदिर' को एक नयी शक्ल मिलेगी ।

क्रान्तदृष्टा मुख्तारजी ने सन् १९१६ में 'मेरी भावना' की रचना की ।
यह वह समय था जब एक विश्वयुद्ध जूझा जा चुका था और राष्ट्रीय क्रान्ति कमर-कसे मैदान में उतर रही थी ।
हिन्दी-जगत् में प्रेमचन्द-जैसा दिलेर कथासम्राट् बावजूद सामाजिक / राजनैतिक

(शेष पृष्ठ २६ पर)

१. 'कंचनी' एक प्रसिद्ध वैश्या थी जो विवाहों में जाया करती थी ।
२. 'पं. मनीरामजी' एक पण्डित थे जो धर्मोपदेश के लिए समाज में जाते-आते थे ।

मेरी भावना

जिसने राग-द्वेष-कामादिक,
जीते सब जग जान लिया।
सब जीवों को मोक्ष-मार्ग का,
निःस्पृह हो उपदेश दिया ॥१॥

बुद्ध, वीर, जिन, हरि, हर, ब्रह्मा,
या उसको स्वाधीन कहो।
भक्ति-भाव से प्रेरित हो यह,
चित्त उसी में लीन रहो ॥२॥

विषयों की आशा नहीं जिनके,
साम्यभाव धन रखते हैं।
निज-पर के हित-साधन में जो
निशदिन तत्पर रहते हैं ॥३॥

स्वार्थ-त्याग की कठिन तपस्या,
बिना खेद जो करते हैं।
ऐसे ज्ञानी साधु जगत के,
दुःख-समूह को हरते हैं ॥४॥

रहे सदा सत्संग उन्हीं का,
ध्यान उन्हीं का नित्य रहे।
उनही जैसी चर्या में यह,
चित्त सदा अनुरक्त रहे ॥५॥

नहीं सताऊँ किसी जीव को,
झूठ कभी नहीं कहा करूँ।
पर धन-वनिता पर न लुभाऊँ
संतोषामृत पिया करूँ ॥६॥

अहंकार का भाव न रक्खूं
नहीं किसी पर क्रोध करूँ।
देख दूसरों की बढ़ती को,
कभी न ईर्ष्याभाव धरूँ ॥७॥

रहे भावना ऐसी मेरी,
सरल-सत्य व्यवहार करूँ।
बने जहाँ तक इस जीवन में,
औरों का उपकार करूँ ॥८॥
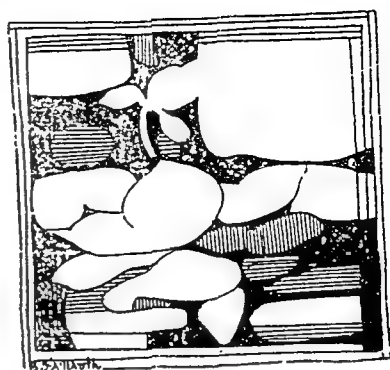
मैत्रीभाव जगत में मेरा,
सब जीवों पर नित्य रहे।
दीन-दुखी जीवों पर मेरे
उर से करुणा-स्रोत बहे ॥९॥

दुर्जन, क्रूर, कुमार्गरतों पर
क्षोभ नहीं मुझको आवे।
साम्यभाव रक्खूं मैं उन पर,
ऐसी परिणति हो जावे ॥१०॥

गुणीजनों को देख हृदय में,
मेरे प्रेम उमड़ आवे।
बने जहाँ तक उनकी सेवा
करके यह मन सुख पावे ॥११॥

होऊँ नहीं कृतघ्न कभी मैं,
द्रोह न मेरे उर आवे।
गुण-ग्रहण का भाव रहे नित
दृष्टि न दोषों पर जावे ॥१२॥

कोई बुरा कहो, या अच्छा,
लक्ष्मी आवे, या जावे।
लाखों वर्षों तक जीऊँ,
या मृत्यु आज ही आ जावे ॥१३॥

अथवा कोई कैसा ही भय,
या लालच देने आवे।
तो भी न्याय मार्ग से मेरा,
कभी न पग डिगने पावे ॥१४॥

हो कर सुख में मग्न न फूलें,
दुःख में कभी न घबरावें।
पर्वत, नदी, श्मशान भयानक,
अटवी से नहीं भय खावें ॥१५॥

रहे अडोल अकम्प निरन्तर,
यह मन दृढ़तर बन जावे।
इष्ट-वियोग अनिष्ट-योग में,
सहनशीलता दिखलावे ॥१६॥

सुखी रहें सब जीव जगत् के,
कोई कभी न घबरावे।
वैरभाव अभिमान छोड़,
जग नित्य नये मंगल गावे ॥१७॥

घर-घर चर्चा रहे धर्म की,
दुष्कृत दुष्कर हो जावे।
ज्ञान-चरित उन्नत कर अपना,
मनुज-जन्म-फल सब पावें ॥१८॥

ईति-भीति व्यापै नहीं जग में,
वृष्टि समय पर हुआ करे।
धर्मनिष्ठ हो कर राजा भी,
न्याय प्रजा का किया करे ॥१९॥

रोग-मरी-दुर्भिक्ष न फैले,
प्रजा शान्ति से जिया करे।
परम अहिंसा-धर्म जगत में,
फैल सर्वहित किया करे ॥२०॥

फैले प्रेम परस्पर जग में,
मोह दूर ही रहा करे।
अप्रिय-कटुक-कठोर शब्द, नहिं
कोई मुख से कहा करे ॥२१॥

बन कर सब 'युग वीर' हृदय,
से देशोन्नति रत रहा करे।
वस्तु-स्वरूप विचार खुशी से,
सब दुख-संकट सहा करें ॥२२॥

(पृष्ठ २४ का शेष)

कठिनाइयों के स्वतन्त्रता-संग्राम के प्रांगण में आ रहा था। 'मेरी भावना'
के समान्तर 'पंच परमेश्वर' कहानी लिखी गयी। दोनों का स्वर एक है।
मुख्तारजी और प्रेमचंद कभी मिले थे, या नहीं, हम नहीं जानते : किन्तु
यह तय है कि दोनों के लक्ष्य एक थे। दोनों सांप्रदायातीत स्तिर से
राष्ट्र को / समाज को जगाने में जुटे हुए थे।
'पंच परमेश्वर' और 'मेरी भावना' की चेतनाएँ एक-जैसी हैं। हम कहेंगे कि
मुख्तारजी विषय-वस्तु में जैन समाज के प्रेमचन्द थे। उनमें वैसी ही सरलता,
वैसी ही सादगी, वैसा ही त्याग, वेसा ही स्वाभिमान, और वैसी ही
राष्ट्रभक्ति थी।
क्रान्ति / अन्याय-की-खिलाफत की जो चेतना प्रेमचन्द में जीवित थी,
मुख्तारजी उसी के जीवन्त प्रतिनिधि थे।
'मेरी भावना'
कुल २२ छंदों की एक संक्षिप्त रचना है, किन्तु उसकी लोकप्रियता ने उसे
समयसार / धम्मपद / रामायण और महाभारत-जैसी प्रतिष्ठा प्रदान की है।
जो भी विचार / वस्तुएँ लघुत्तम होती हैं, अधिक प्रभावशाली और प्रहारक होती हैं।
मन्त्र, बीज, औषध, अंकुश, अनुशासन सब छोटे होते हैं, किन्तु काम उनके उनसे
बड़े होते / लिये जाते हैं।
यही स्थिति 'मेरी भावना' की है।
वह बिन्दु-में-सिन्धु है। बीज में वट है। अतः प्रणाम 'युगवीर' को, प्रणाम इस
'युगकृति' को।
—संपादक।

आलोचना-पाठ

वंदौं पाँचों परम गुरु, चौवीसों जिनराज ।
करूँ शुद्ध आलोचना, शुद्धिकरन कै काज ।।

सुनिये जिन अरज[1] हमारी,
हम दोस[2] किये अति भारी ।
तिनकी अब निर्वृत्ति काज,
तुम सरन लही[3] जिनराज ।।
इक वे[4] ते[5] चउ इन्द्री वा,
मनरहित-सहित जे जीवा ।
तिनकी नहिं करुणा धारी,
निरदई[6] ह्वै[7] घात विचारी ।।
समरंभ समारंभ आरंभ,
मन वच तन कीने प्रारंभ ।
कृत कारित मोदन[8] करिकैं,
क्रोधादि चतुष्टय धरिकैं ।।
शत आठ जु इमि भेदन तैं,
अघ[9] कीने परिछेदन तैं ।
तिनकी कहुँ कोलौं[10] कहानी,
तुम जानत केवल ज्ञानी ।।
विपरीत एकांत विनयके,
संशय अज्ञान कुनयके ।
वश होय घोर अघ कीने,
वचतैं नहिं जात कहीने ।।
कुगुरन की सेवा कीनी,
केवल अदयाकरि भीनी[11] ।
या विधि मिथ्यात भ्रमायो,
चहुँगति मधि[12] दोस उपायो[13] ।।
हिंसा पुनि झूठ जु चोरी,
परवनितासौं दृगजोरी ।
आरंभ परिग्रह भीनो,
पन पाप जु या[14] विधि कीनो ।।
सपरस[15] रसना घ्राननको,
चखु[16] कान विषय-सेवनको ।
बहु करम किये मनमाने,
कछु न्याय-अन्याय न जाने ।।
फल पंच उदंबर खाये,
मधु माँस मद्य चित चाये[17] ।
नहिं अष्ट मूलगुण धारी,
विसयन सेये[18] दुखकारी ।।
दुइबीस[19] अभख[20] जिन गाये,
सो भी निसिदिन भुंजाये[21] ।
कछु भेदाभेद न पायौ,
ज्यों-त्यों करि उदर भरायौ ।।
अनंतानु जु बंधी जानो,
प्रत्याख्यान अप्रत्याख्यानो ।
संज्वलन चौकरी गुनिये,
सब भेद जु[22] सोडस मुनिये[23] ।।
परिहास अरति रति सोग[24],
भय ग्लानि तिवेद संयोग ।
पनवीस[25] जु भेद भये इम,
इनके वश पाप किये हम ।।
निद्रावश शयन कराई,
सुपने मधि दोस लगाई ।
फिर जागि विसय-वन धायो,
नानाविधि विषफल खायो ।।
कियऽहार निहार विहारा,
इनमें नहिं जतन विचारा[26] ।
बिन देखी धरी उठाई,
बिन सोधी वसत[27] जु खाई ।।
तब ही परमाद[28] सतायो,
बहुविधि विकलप[29] उपजायो ।
कछु सुधिबुधि नाहिं रही है,
मिथ्या मति छाय गयी है ।।
मरजादा[30] तुम ढिग[31] लीनी,
ताहु में दोस जु कीनी ।
भिनभिन[32] अब कैसैं कहिये,
तुम ज्ञान विषैं सब पइये ।।

1. अर्ज, प्रार्थना । 2. दोष, अपराध । 3. प्राप्त की । 4. दो । 5. तीन । 6. निर्मम, निठुर । 7. हो कर । 8. अनुमोदन, समर्थन । 9. पाप । 10. कब तक । 11. पगी । 12. में, मध्य । 13. उपार्जित किया, कराया । 14. इस । 15. स्पर्शन । 16. चक्षु । 17. रुचिपूर्वक खाये । 18. सेवन किये । 19. बाईस । 20. अभक्ष्य । 21. खाये, बनाये । 22. सोलह । 23. समझिये । 24. शोक । 25. पच्चीस । 26. सावधानी नहीं बरती । 27. वस्तु, चीज । 28. प्रमाद, असावधानी । 29. विकल्प, द्वन्द्व । 30. हद, मर्यादा । 31. समीप, निकट । 32. अलग-अलग, विस्तार से ।

हा हा ! मैं दुठ[33] अपराधी,
त्रसजीवन-राशि विराधी।
थावर की जतन न कीनी,
उर में करुना नहिं लीनी ।।
पृथिवी बहु खोद कराई,
महलादिक जागाँ[34] चिनाई।
पुनि विन गाल्यो[35] जल ढोल्यो,
पंखातैं पवन विलोल्यो[36] ।।
हा हा ! मैं अदयाचारी,
बहु हरित काय जु विदारी।
ता मधि जीवन के खंदा[37],
हम खाये धरि आनंदा ।।
हा हा ! परमाद बसाई[38],
विन देखे अगिन[39] जलाई।
ता मधि जे जीव जु आये,
ते हू परलोक सिधाये ।।
बींध्यो[40] अन[41] राति पिसायो,
ईंधन बिन सोधि जलायो।
झाड़ ले जागाँ बुहारी,
चिवटाऽदिक जीव विदारी ।।
जल छानि जिवानी कीनी,
सो हू पुनि डारि जु दीनी।
नहिं जल-थानक पहुँचाई,
किरिया विन पाप उपाई ।।
जलमल मोरिन[42] गिरवायो,
कृमिकुल बहु घात करायो।
नदियन बिच चीर धुवाये,
कोसन के जीव मराये ।।
अन्नादिक शोध कराई,
तामैं जु जीव निसराई[43]।
तिनका नहिं जतन कराया,
गरियालैं धूप डराया ।।
पुनि द्रव्य कमावन काज,
बहु आरंभ हिंसा साज।
किय तिसनावश अघ भारी,
करुना नहिं रंच विचारी ।।

इत्यादिक पाप अनंता,
हम कीने श्री भगवंता।
संतति चिरकाल उपाई,
वानी तें कहिय न जाई ।।
ताको जु उदय अब आयो,
नानाविधि मोहि सतायो।
फल भुंजत[44] जिय दुख पावै,
वचतें कैसें करि गावै ।।
तुम जानत केवलज्ञानी,
दुख दूर करो शिवथानी।
हम तुमरी सरण लही है,
जिन तारन विरद सही है ।।
जो गाँवपती इक होवै,
सो भी दुखिया दुख खोवै।
तुम तीन भुवन के स्वामी,
दुख मेटहु अंतरजामी ।।
द्रोपदि को चीर[45] बढ़ायो,
सीता प्रति कमल रचायो।
अंजन से किये अकामी,
दुख मेट्यो अंतरजामी ।।
मेरे अवगुन न चितारो,
प्रभु अपनो विरद सम्हारो।
सब दोसरहित करि स्वामी,
दुख मेटहु अंतरजामी ।।
इंद्रादिक पद नहिं चाहूँ,
विषयनि में नाहिं लुभाऊँ।
रागादिक दोस हरीजै[46],
परमातम निजपद दीजै ।।

दोसरहित जिनदेवजी,
निजपद दीज्यो मोय[47]।
सब जीवन के सुख बढ़ैं,
आनंद-मंगल होय ।।
अनुभव मानिक पारखी,
'जौहरि', आप जिनन्द।
यहि वर मोकौं दीजिये,
चरन-सरन आनन्द ।।

33. दुष्ट। 34. जगहें। 35. अनछना। 36. विलोड़ित किया। 37. स्कन्ध, समूह, राशि। 38. वशीभूत हो कर। 39. आग। 40. घुना हुआ, सुला हुआ। 41. अन्न। 42. मोरियों में। 43. निकले, निकलवाये। 44. भोगते हुए। 45. वस्त्र। 46. दूर कीजिये। 47. मुझे।

सामायिक : उत्तम सिद्धि के लिए उत्तम साधना

डॉ. सोनेजी / डॉ. नेमीचन्द जैन; इन्दौर, ९ अक्टूबर १९८४

डॉ. नेमीचन्द जैन : सबमें पहले बताइये कि 'सामायिक' क्या है ?

डॉ. सोनेजी : सामायिक का सही स्वरूप है – समभाव-की-साधना। यही सामायिक का लक्ष्य है। इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए जो-जो भी प्रक्रियाएँ मन-वचन-काया की हैं, आत्मपरिणामों को निर्मल बनाने की; सामायिक में हम इन सबका समावेश कर सकते हैं।

ने. : सामायिक आत्मा के निर्मलीकरण का उपाय है ?

सो. : उपाय है, साधन भी है। आचार्यों ने कहा है कि श्रावक सामायिक-व्रत को ग्रहण कर आगे बढ़ता है। श्रावक और साधु – दोनों के आचार में सामायिक को समाविष्ट किया गया है । श्रावकाचार में प्रतिमा के रूप में और मुनियों के आचार में मूल गुणों के रूप में यह सम्मिलित है। षडावश्यकों में यह है ही।

यह भी विचारणीय है कि जो आत्मज्ञान-सहित धर्माराधना में तल्लीन हैं, उन्हें उत्कृष्ट सामायिक सधती हैं। 'नियमसार' के परमार्थाधिकार में आचार्य कुन्दकुन्द ने स्थायी सामायिक का कितना मौलिक और मार्मिक विवेचन किया है ! ये गाथाएँ मननीय हैं, जिनमें 'स्थायी सामायिक-व्रत किसके होता है ?' को स्पष्ट रूप में बतलाया गया है :

> विरदो सव्वसावज्जे तिगुत्तो पिहिदिंदिओ ।
> तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥१२५॥

(जो समस्त सावद्य / पाप-सहित कार्यों से विरत है, तीन गुप्तियों को धारण करने वाला है, तथा जिसने इन्द्रियों को निरुद्ध कर लिया है, उसके स्थायी सामायिक-व्रत होता है ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा गया है।)

> जो दु अट्टं च रुद्दं च झाणं वज्जेदि णिच्चसा ।
> तस्स सामइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥१२९॥

(जो निरन्तर आर्त्त और रौद्र ध्यान का परित्याग करता है, उसके स्थायी सामायिक-व्रत होता है, ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा गया है।)

इसी प्रकार अन्य गाथाओं में भी बतलाया गया है कि जो स्थावर अथवा त्रस सब जीवों में समभाव रखता है – जिसकी आत्मा संयम, नियम तथा तप में ... रता सन्निहित रहती है, राग और द्वेष जिसमें विकार उत्पन्न नहीं करते हैं; जो ... और पाप-रूप भावों को निरन्तर छोड़ता है; जो निरन्तर हास्य, रति, शोक ...

अरति का परित्याग करता है, जो सतत जुगुप्सा, भय और सब प्रकार के वेदों को छोड़ता है और जो लगातार धर्म्य तथा शुक्ल ध्यान को धारण करता है, उसके स्थायी सामायिक-व्रत होता है।

ने. : बड़ा सारगर्भित विवेचन है! क्या सामायिक के लिए कोई विशेष स्थान की आवश्यकता है?

सो. : गुफा आदि विशेष रूप से सहायक हैं, लेकिन अनिवार्य नहीं हैं। घर के एक कोने में, मन्दिर में, धर्मशाला में, या किसी कमरे के एकान्त स्थान में भी सामायिक हो, तो वह उपकारक है – लेकिन सामायिक ऐसे स्थानों के अलावा भी हम कर सकते हैं।

ने. : शोरगुल हो तो?

सो. : वहाँ दिक्कत होती है। जो धर्म-साधना में आगे बढ़े हैं, वे तो शोर-गुल में भी सामायिक कर लेते हैं, लेकिन प्रारंभिक या मध्यम अवस्था तक पहुँचे लोगों के लिए योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव विशेप रूप से सहायक होते हैं।

ने. : सामायिक विषमताओं से जूझने का उपाय है। शोरगुल एक किस्म की विषमता है; तो फिर शोरगुल में ही उसे क्यों न किया जाए?

सो. : हर कार्य उपयुक्त जगह पर होता है। आप कहेंगे कि पेट भरने के लिए खा रहे हैं, तो किसी अस्वच्छ स्थान में खाने में क्या आपत्ति है? पेट तो भर ही जाएगा, लेकिन वहाँ खाने की व्यवस्था सुचारु रूप से बनाना मुश्किल है। हर कार्य के लिए योग्य क्षेत्र और व्यवहार की आवश्यकता होती है। यही बात सामायिक के लिए भी है; यदि ऐसा न हो तो तीर्थंकर भी राजमहलों में सामायिक कर लेते।

ने. : शोरगुल बाहर के बजाय भीतर हो तो क्या करें?

सो. : उसे मिटाने के लिए बाहर के शोरगुल में कमी हो, फिर अन्दर का जो शोरगुल है, अन्दर में जो संघर्ष है, विषमता है, वह क्रमशः कम हो सकती है। सामायिक तत्त्वतः बहुत ऊँची है। वास्तव में शुद्ध आत्मा की प्रतिति, प्रज्ञान और अनुभव की एकरूपता होना ही सामायिक है। यह एकदम सहसा बनने वाली नहीं है, इसीलिए आचार्य कहते हैं कि सामायिक के लिए पहले योग्य क्षेत्र हो, आसन हो, मन-वचन-काया की स्थिरता हो बाद में प्राथमिक विशुद्धिकरण की प्रक्रिया हो। हमारा उपयोग (चित्त-की-एकाग्रता) दुनिया के विषम सांसारिक प्रपंचों में फँसा हुआ है, उसे सामायिक तक ले जाने की प्रक्रिया चाहिये इसलिए पहले मन को शान्त करने के लिए सामायिक-पाठ पढ़ते हैं, प्रतिक्रमण-सूत्र पढ़ते हैं, या कोई धर्म-ग्रन्थ पढ़ते हैं, जिससे मन कुछ शान्त हो जाता है, परिमार्जित हो जाता है। इस तरह हम क्रमशः उपयोग की प्रवृत्ति बन्द कर लेते हैं। उपयोग की प्रवृत्ति को भी तीर्थंकरों के गुणों के माध्यम से, गुरुओं के गुणों का परिचय करवा कर ध्यान पर आरूढ़ करते हैं। जो ज्ञायक सत्ता है, उपयोग के शुद्ध ज्ञान की भूमिका

है, धीरे-धीरे अपने चित्त को अपनी विचारधारा को वहाँ ले जाते हैं, सामायिक के लिए सम्यक् भूमिका की निर्मिति होती जाती है।

ने. : क्या सामायिक संवर-निर्जरा का कारण है?

सो : हाँ; लेकिन संवर-निर्जरा के साथ पुण्य-बन्ध भी चलता रहेगा। ऐसा नहीं कि सामायिक सिर्फ संवर-निर्जरा का कारण है, क्योंकि कर्म-बन्ध तो गुण-स्थान की परिपाटी के अनुसार बँधता ही जाता है।

ने. : सामायिक चित्त-शुद्धि की प्रक्रिया है?

सो : हाँ, आत्मशुद्धि की वैज्ञानिक, क्रमिक, ज्ञानयुक्त, एवं अनुभवसिद्ध प्रक्रिया है; योग-उपयोग की शुद्धि की भी लेकिन उपयोग-की-शुद्धि की मुख्यतया।

ने. : सामायिक आत्मशुद्धि की ही एक विमल परिणति है; लेकिन सबसे पहले मन-वचन-काय की शुद्धि होनी चाहिये।

सो. : वह तो होनी ही चाहिये।

ने. : मन-को-शुद्ध करने के लिए सरलतम उपाय क्या हो सकता है?

सो. : तीन उपाय हैं : जिन्होंने मन को शुद्ध किया है, उनका संपर्क; जो शुद्ध पुरुष हुए हैं, उनके जो शुद्धिकरण वचन है, उनसे अपने उपयोग का संस्पर्श; तथा तीर्थंकरों की प्रतिमा में उपयोग का आकेन्द्रण।

ने. : अर्थात् जीवन्त संपर्क से मन शुद्ध बन सकता है।

सो. : आन्तरिक शुद्धि क्रमशः होती है, तीसरा है, संत-समागम अर्थात् जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति के लिए सतत् साधनारत हैं, उनसे प्रत्यक्ष संपर्क, उनका सान्निध्य।

ने. : शब्द-शुद्धि, या वचन-शुद्धि के लिए क्या करना जरूरी है?

सो. : इसके लिए सहजानन्द वर्णी ने जो सूत्र मुझे दिया था, वह है : धीरे-से बोलो, प्रेम से बोलो, आदर दे कर बोलो, ज़रूरत होने पर बोलो। यदि इतना याद रखेंगे, तो भाषा का दुरुपयोग नहीं होगा; आत्मशुद्धि होगी, और वचन-शुद्धि तो होगी ही।

ने. : काया-शुद्धि कैसे करें?

सो. : इसके दो माध्यम हैं, पाप-क्रिया में काया को जोड़ना ही नहीं; आत्मबोध की प्रक्रिया में काया को लगायें। सप्त व्यसनों से बचें। स्थूल-से-सूक्ष्म-की-ओर जाने की प्रक्रिया है यहाँ; सामायिक में काया-शुद्धि के बिना नहीं चलेगा। कुन्दकुन्दाचार्य ने 'मोक्ख पाहुड' में इसका उल्लेख किया है कि आहार-जय करो, निद्रा-जय करो, इन्द्रिय-जय करो, आसन-जय करो, तब योग-जय होगा।

ने. : तब उपयोग-जय सहज हो जाएगा।

सो. : हाँ; आत्म-ज्ञान-सहित जिनकी प्रक्रिया चलेगी, उन्हें उपयोग की स्थिरता उपलब्ध होगी।

ने. : करेगा तो वह नहीं।

सो. : करेगा भी, लेकिन लक्ष्य नहीं होगा, तो नहीं होगा, दो वातें हैं – अभेद का लक्ष्य रहना चाहिये और उपयोग के निर्मल करने के साधन को बुद्धिपूर्वक अंगीकार करना चाहिये। संक्षेप में, जैसा श्रीमद् राजचन्द्रजी ने 'अपूर्व अवसर' में कहा है कि स्वरूप-लक्ष्य और जिन-आज्ञा दोनों के समन्वय से सामायिक को संपूर्णता मिलती है।

ने. : क्या सामायिक विना किसी आलम्बन के संभव है?

सो. : है; रूपातीत ध्यान का मतलव ही यह है।

ने. : क्या रूपातीत ध्यान को, सामायिक कहेंगे?

सो. : वह तो परम सामायिक है, जिसमें मैं ध्याता, मेरा आत्म ध्येय और मैं ध्यान की प्रक्रिया कर रहा हूँ। एक चैतन्य की सत्ता ही वस वहाँ रह जाती है, जो मोक्षोन्मुख है। सारांशत: सामायिक परमसाध्य की सिद्धि के लिए सर्वोत्कृष्ट साधन है। ☐

(**संपादकीय :** पृष्ठ ६ का शेष)

इस अंक में तीन पाठ दिये हैं: सामायिक पाठ, मेरी भावना, और आलोचना-पाठ; जिनके रचयिता क्रमश: हैं आचार्य अमितगति, आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर', तथा जौहरीलालजी। इन तीनों में से प्रथम संस्कृत में, द्वितीय खड़ीवोली में, और तृतीय मध्यकालीन हिन्दी में रचित है। हमारा मानना है कि इन तीनों से एक ऐसा त्रिभुज वनता है जो हमें (किसी को भी) जीने की एक उदात्त/सफल कला प्रदान कर सकता है। सामायिक-पाठ में ३२, मेरी भावना में २२, तथा आलोचना-पाठ में ३५ छन्द हैं। इन तीनों को धीमी गति से संपन्न करने में वमुश्किल १५ मिनिट लगते हैं। इन-तीनों में वैसे जैनधर्म/जैनाचार की एक संपूर्ण छवि तो अंकित हुई ही है, साधक को जीवन-विकास का एक प्रशस्त/संपूर्ण कार्यक्रम भी दे दिया गया है। भाषा तीनों की सरल और वस्तुपक्ष सशक्त है। हमारा अनुभव है कि यदि इन तीनों को अपनी दिनचर्या में सम्मिलित कर लिया जाए तो न केवल हमारे जीवन में एक नयी रोशनी पैदा हो सकती है वरन् हम किसी भी मोर्चे पर पूरी तरह सफल हो सकते हैं।

'मेरी भावना' तो एक राष्ट्रीय पाठ ही है जो व्यक्ति को एक अच्छा नागरिक वनने की प्रेरणा देता है। आलोचना-पाठ में हमारा संपूर्ण आचार-शास्त्र आ गया है। आ. अमितगति इन दोनों के वीच एक आध्यात्मिक संधिपत्र हैं। जौहरीलाल कौन थे, इसे तो हम नहीं जानते; किन्तु उन्होंने जो/जितना लिखा है वह हमारे वहिर्गत/अन्तर्गत दोनों ही प्रदूषणों को खत्म करने की क्षमता रखता है। इस तरह सामायिक, आत्मशुद्धि/अंतरंग-शुद्धि, मेरी भावना राष्ट्रीय/सामाजिक शुद्धि, तथा आलोचना-पाठ आचार-शुद्धि के प्रबल आधार और अमोघ साधन सिद्ध हो सकते हैं बशर्ते हम इस ओर कोई सुदृढ़ क़दम उठायें। ☐☐

सामायिक : प्रक्रिया और विधि

सामायिक में हम खड़े, या बैठे हैं
अनुप्रेक्षण चल रहा है : 'संसार के सारे प्राणी मेरे मित्र हैं।
मेरा किसी से वैर नहीं है; मुझसे किसी की शत्रुता नहीं है। मैं उन
सारे कुकृत्यों से निवृत्त हुआ हूँ जिनसे मेरा आचार दूषित, प्रमत्त, या
शिथिलित हुआ था। मन का घोड़ा विकृतियों की ओर दौड़
रहा था।
मैंने उस पर संयम की ज़ीन कस दी है और चित्त की एकाग्रता की
लगाम से मैंने उसे वीतरागता में दृढ़ कर लिया है। निष्फल कर
दिया है मैंने उसके रागद्वेषों को, उसकी चंचलताओं को।'

सामायिक चल रही है। चित्त-का-आँगन बुहरा हुआ है। स्वच्छ है।
स्वस्थ है। निरापद और निराकुल है। मन अनुशासन में है।
आत्म-स्वरूप का चिन्तवन चल रहा है।

सामायिक तीन बार संभव है। यों साधु के जीवन में वह अनवरत / निरन्तर
चलती है। श्रमण साम्य / माध्यस्थ्य की जीती-जागती तस्वीर है।
गृहस्थ इसे तीन बार कर सकता है।
सूर्योदय, मध्याह्न, सूर्यास्त।
छह घड़ी, चार घड़ी, दो घड़ी।
एक सौ चवालीस मिनिट, छियानवे मिनिट, अड़तालीस मिनिट।
उत्तम, मध्यम, जघन्य।

उत्तम : आधी सूर्योदय-रेखा से पूर्व, आधी सूर्योदय-रेखा के बाद;
मध्यम : आधी दुपहर से पूर्व, आधी दुपहर के बाद;
जघन्य : आधी सूर्यास्त से पूर्व, आधी सूर्यास्त के बाद।
इन तीनों में एक-एक संधि-विन्दु आयेगा ही।
उत्तम में बहत्तर मिनिट पर, मध्यम में अड़तालीस मिनिट पर,
जघन्य में चौबीस मिनिट पर।

गृहस्थ / श्रावक को चाहिये कि जहाँ तक संभव हो सामायिक में वक्त की पाबन्दी
का पूरा ध्यान रखे। घड़ी के कांटों से चले। एक पल, एक मिनिट का फर्क
भी न आने दे। ध्यान रहे काम जितना सूक्ष्मतर होता है, समय की नियमितता का
महत्त्व भी तदनुसार बढ़ जाता है।

सामायिक में शुद्धता और स्वच्छता का महत्त्व सर्वाधिक है।
स्थान से मन को बुहारे, शुद्ध सूती / कम-से-कम वस्त्र शरीर पर धारण

करें और ऐसे स्थान पर उसे संपन्न करें जो एकान्त हो, निर्जन्तुक हो,
कोलाहल / व्यर्थ के शोरगुल से मुक्त हो।
ऐसे स्थान पर शान्त/निराकुल चित्त से
किसी कोमल वस्त्र, या पीछी से ज़मीन को बुहारें और निर्वमन भूमि पर
या उस पर आसन बिछा कर पूर्व अथवा उत्तर की दिशा में मुख कर
निर्द्वन्द्व खड़े हो जाएँ।

सर्वप्रथम अंजलिबद्ध हाथ जोड़ें, अंजलि को मस्तक तक ले जाएँ, और तीन आवर्तो के साथ एक शिरोनति (सिर झुकाने की क्रिया) तथा तीन बार 'नमोस्तु' के रोम-रोम में गूँजने वाले मौन उच्चार के साथ संपन्न करें। इसके बाद तीन बार 'ओम् नमः सिद्धेभ्यः' कहें और फिर रीढ़ की हड्डी को बिलकुल
सीधा कर दोनों भुजाओं को उन्मुक्त छोड़ते हुए इस तरह खड़े हो
जाएँ कि एड़ियों के बीच चार अँगुल का अंतर हो
और अँगूठों के मध्य बारह अंगुल का।
सिर सीधा हो
आँख नाक-की-नोक पर केन्द्रित हों तथा पूर्व दिशा में मुख रख कर
२७ श्वासोच्छ्वासों में ९ बार णमोकार महामन्त्र का जाप हो।

जाप मद्धिम सुर में हो, किन्तु इस तरह से कुछ हो कि उसकी धुन रोम-रोम
में झंकृत हो उठे।

णमोकार महामन्त्र तीन श्वासोच्छ्वासों में संपन्न करें।
श्वास भीतर खींचते (इनहेल करते) हुए 'णमो अरिहंताणं' बोलें,
श्वास छोड़ते (एक्झेल करते) समय 'णमो सिद्धाणं' कहें,
फिर दूसरे दौर में श्वास लेते समय 'णमो आइरियाणं' का उच्चार करें,
तथा श्वास लौटाते वक्त 'णमो उवज्झायाणं' को गूँजने दें।
यह दूसरा दौर हुआ। तीसरे दौर में–
श्वास खींचते समय 'णमो लोए' बोलें तथा
उसे छोड़ते वक्त 'सव्व साहूणं' कहें।

इस तरह एक संपूर्ण मन्त्रोच्चार में तीन और नौ में सत्ताईस श्वासोच्छ्वास
होंगे। इसे एक 'कायोत्सर्ग' की संज्ञा दी गयी है अर्थात् एक कायोत्सर्ग
संपन्न करने में सत्ताईस श्वासोच्छ्वासों पर नौ मन्त्रोच्चारों का
पहरा बैठाया जाएगा।
इस पहरेदारी का फल यह होगा कि हम स्वानुभूति की दिशा में
मन्द किन्तु स्थायी गति से अपने क़दम उठा सकेंगे।
सामायिक का नाभिबिन्दु स्वानुभूति (सेल्फरिएलाइज़ेशन) है; यह वह रास्ता

सामायिक : समय-सीमा

सूर्योदय

पूर्व	पश्चात्	
३ घड़ी	३ घड़ी	= २ घंटे २४ मि.
२ घड़ी	२ घड़ी	= १ घंटा ३६ मि.
१ घड़ी	१ घड़ी	= ४८ मि.

मध्याह्न

३ घड़ी	३ घड़ी
२ घड़ी	२ घड़ी
१ घड़ी	१ घड़ी

सूर्यास्त

३ घड़ी	३ घड़ी
२ घड़ी	२ घड़ी
१ घड़ी	१ घड़ी

घड़ी = २४ मिनिट; मुहूर्त = ४८ मिनिट

है जिस पर हम भेदविज्ञान की दिशा में
स्व-स्थ (सेल्फ-सिच्युएटेड) चल सकते हैं। आत्मजागृति सामायिक का प्रथम फल है।

कायोत्सर्ग के बाद पूर्व दिशा से (तीन आवर्त+एक शिरोनति के बाद)
दक्षिण में कायोत्सर्ग के लिए कटिबद्ध होने से पूर्व अपने घुटने ज़मीन पर
टेकें : मस्तक से धरती का स्पर्श करें यानी अष्टांग नमस्कार करें और
फिर जितने समय की सामायिक करनी हो उतने समय का संकल्प करें।
प्रतिज्ञा करते समय शरीर पर जो परिग्रह हो उसे छोड़ शेष तमाम
को त्याग दें। असीम शान्ति का अनुभव करें। शरीर की संपूर्ण दासता
से इस्तीफा दे दें। अपने स्वामित्व को समझें। उसे तेजोमय रूप दें।

अब हम दक्षिण दिशा में मुँह किये खड़े हैं और द्वितीय कायोत्सर्ग कर
रहे हैं। इसे संपन्न करने के बाद पश्चिम में तीसरा कायोत्सर्ग करें।
अन्त में उत्तर में मुख कर चौथा कायोत्सर्ग संपन्न करें।
देख लें कि इन चार कायोत्सर्गो में हमने १०८ श्वासोच्छ्वासों के
अन्तर्गत ३६ बार महामन्त्र णमोकार का उच्चारण संपन्न किया है।
९-२७, ९-२७, ९-२७, ९-२७ के जाप / श्वासोच्छ्वासों के साथ ध्यान रहे
कि हमारे द्वारा १२ आवर्त और ४ शिरोनतियाँ भी कर ली गयी हैं।

इतना कर चुकने के बाद हम पूर्व दिशा में मुँह कर सुस्थिर खड़े हो जाएँगे, या
पद्मासन अथवा अर्द्धपद्मासन में बैठ जाएँगे, तथा
सामायिक पाठ, आलोचनापाठ, बारह भावना, तथा मेरी भावना को
एकाग्र चित्त से उनका रसास्वादन करते हुए आत्मतल्लीन होने का
प्रयत्न करेंगे।

अन्त में
सामायिक को उपसंहार पर लाते हुए
हम नौ बार णमोकार मन्त्र को अपने मनःप्राण में अनुगुंजित करेंगे
तथा आगामी सामायिक तक के लिए
कुछ चारित्रिक प्रतिज्ञाएँ लेंगे;
ताकि उपलब्ध एकाग्रता को सुरक्षित रखा जा सके।
शास्त्रों में सत्रह प्रतिज्ञाएँ चर्चित हैं; किन्तु हम वर्तमान संदर्भ में जितनी
सार्थक समझते हों उतनी लें; किन्तु ली हुई प्रतिज्ञाओं का
प्राणपण से परिपालन करें।

ध्यान रखें।
सामायिक से जो दृढ़ता और एकाग्रता प्राप्त होगी उससे न केवल हममें
एक अभूतपूर्व आत्मजागृति घटित होगी वरन् दिन-भर के
चर्यागत कार्य भी अधिक सफलता से संपन्न होंगे।

सामायिक का प्रमुख लक्ष्य है :
स्वानुभूति की गहराइयों में उतर कर
आत्मानन्द का रसास्वादन।

—संपादक।

अध्यात्म-साधना के बत्तीस निबन्ध[1]

शान्ति की अभीप्सा प्रत्येक मानव में है। आचार्य तुलसी के अनुसार शान्ति मनुष्य के अन्तःकरण में है, आत्मा में है। इस आत्मस्थ शान्ति को उपलब्ध करने का माध्यम है—अध्यात्म-साधना। अध्यात्म का वातायन तभी खुलता है जब संकल्प-शक्ति संचित होती है। इसके लिए संकल्प-शक्ति के विकास की प्रक्रिया को समझना अनिवार्य है। जो प्राण-शक्ति से परिचित नहीं होता; वह साधना के क्षेत्र में पूर्णतः अवगाहन नहीं कर पाता, अतः प्राण के प्रयोग की जानकारी भी महत्त्वपूर्ण है। राग-द्वेष कर्म के लिए बीज का काम करते हैं। इन बीजों का विलय प्राण के सम्यक् नियोजन, वीतरागता एवं अप्रमाद से होता है। भगवान् महावीर ने साधना के क्षेत्र में प्राण-के-सम्यक् प्रयोग को अत्यधिक महत्त्व दिया है।

'साधना : प्रयोग और परिणाम' में मुनि किशनलालजी ने अध्यात्म-साधना के प्रयोगों और परिणामों की चर्चा अपने अनुभवों के परिप्रेक्ष्य में की है। अध्यात्म की एक कठिनाई यह है कि वह भाषा में कम उतरता है, उसका मुख्य अवतरण जीवन में ही होता है। उसका सौन्दर्य भाषा की अपेक्षा अभ्यास में ही अधिक प्रस्फुटित होता है।

'मुद्रा' शब्द साधना-पद्धति में विशिष्ट आकृति के लिए प्रयुक्त होता है। शरीर पर स्थूल रूप से निर्मित होने वाली विशिष्ट आकृतियों को मुद्रा कहते हैं। अन्तर से उठने वाली भावना के प्रकम्पनों का पुंज, एक विशिष्ट आकृति का निर्माण करता है। वीतराग मुद्रा को स्पष्ट करते हुए मुनिजी लिखते हैं: 'जो चेतना राग से अतीत हो जाती है, उसे वीतरागी कहा जाता है। राग और द्वेष दो बीजकर्म हैं, उन्हीं का परिणाम हमारी विभिन्न स्थितियाँ हैं। इन स्थितियों का उपशमन इन बीजों के विलय से ही हो सकता है।'

वीतराग मुद्रा के बाह्य स्वरूप कायगुप्ति, वाक् गुप्ति और मनोगुप्ति हैं। काय-गुप्ति अर्थात् कायोत्सर्ग, जिसे खड़े रह कर, बैठ कर या लेट कर किया जा सकता है। ज्यों-ज्यों शरीर शान्त होता जाता है और शिथिलन (रिलेक्सेशन) में प्रवेश करता है, प्रतिमा की भाँति अवस्थित हो जाता है। वाग्गुप्ति का प्रारम्भ वाणी-संयम से होता है। विचार-दर्शन इसका मध्य है और विचार-विलय इसका अन्त। मनोगुप्ति मन का ध्यान है, जहाँ इन्द्रियों-द्वारा-प्रेषित घटनाओं में मग्न रहना होता है।

अंतरंग मुद्रा ज्ञानात्मक है, अतः अनुभवगम्य ही वह है; जहाँ न मन है, न विचार है और न शरीर का अनुभव ही है। इन सब के अनुभवों से अतीत—केवल ज्ञान का अस्तित्व अंतरंग वीतराग मुद्रा है; अन्त में वीतराग मुद्रा की प्रक्रिया पर

---

[1] साधना : प्रयोग और परिणाम; मुनि किशनलाल; तुलसी अध्यात्म नीडम्, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राजस्थान); मूल्य—पन्द्रह रुपये; पृष्ठ १६६; डिमाई-८/१९८४.

प्रकाश डाला गया है, जिसके लिए स्थान, आसन, वस्त्र एवं समय के सम्यग् नियोजन को अनिवार्य बताया गया है।

'अर्हं' जैन जगत् का शक्तिशाली बीज मन्त्र है। यह ॐ से मिलता-जुलता है; किन्तु यहाँ इसकी भिन्न व्याख्या प्रस्तुत करते हुए इसमें वर्णमाला का संक्षिप्त होना दर्शाया गया है। 'ह' पर स्थित रेफ अग्नि और शक्ति की संकेतिका है तथा बिन्दु और नाद से सूक्ष्म तरंगें तरंगित होना कहा गया है। 'अर्हं के उच्चारण से चक्रों पर विशिष्ट क्रियाएँ होती हैं। पतंजली के योग के अनुसार षट्चक्रों का विधान है; किन्तु प्रेक्षा-ध्यान की परम्परा में इनके अतिरिक्त भी चैतन्य-केन्द्र हैं। कोई भी मन्त्र हो उसके तीन विभाग – प्रतीक, आकार और ध्वनि होते हैं। यहाँ अर्ह-योग का प्रयोग समझाते हुए चैतन्य-केन्द्रों पर ध्वनि की मीमांसा भी की गयी है।

संकल्प को परिभाषित करते हुए कहा गया है: 'संकल्प चित्त की वह दृढ़ शक्ति है, जिसमें व्यक्ति अपने निर्णय को साकार करने हेतु कटिबद्ध होता है'। संकल्प के भी तीन रूप हैं – स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतम। इनकी अभिव्यक्ति के माध्यम है: शब्द, विचार, और अंतरचित्त से उठने वाली ऊर्मि। बिना शिवत्व के संकल्प-साधना सफल नहीं होती; इसीलिए जैन परम्परा में श्रद्धा, ज्ञान एवं चारित्र के पूर्व 'सम्यक्' शब्द का नियमन किया गया है।

समता जैन दर्शन का सार है। श्रावक के लिए बारह व्रतों में सामायिक स्वतन्त्र रूप से नौवाँ व्रत है। सामायिक का शाब्दिक अर्थ है, समता की आय (आमदनी), समता का आगमन। राग और द्वेष का निरसन कर समत्व में स्थापित होना सामायिक है। शुद्ध चेतन तक पहुँचने का मार्ग सामायिक है। जब चेतना समता में स्थित होती है, मन, वाक्, और शरीर स्वयमेव समलयता को प्राप्त हो जाते हैं। समता में प्रयुक्त होते ही साधक अपने असद् अंश का व्युत्सर्ग करता है। एक विचार से दूसरे विचार के मध्य कुछ क्षण विचार-शून्यता की स्थिति आती है। बिना किसी प्रतिक्रिया के उस स्थिति का अनुभव करते रहें तो समता के द्वार पर पहुँचा जा सकता है।

एक दिशा में प्रवाहित की गयी चित्त की वृत्ति भावना है। भावना का शाब्दिक अर्थ है – होना। चैतन्य में अनन्त शक्ति का यह स्रोत अनन्त जन्मों से अवरुद्ध पड़ा है, जिसे प्रकट करने का माध्यम भावना है। विचार का घनीभूत होना ही भावना है। शरीर और आत्मा को भिन्न अनुभव करने की भावना का नाम विवेक-ख्याति है। विवेक-ख्याति का अभ्यास - दही और मक्खन, मिट्टी और धातु, तथा तिल और तेल के दृष्टान्त के माध्यम से सुगम है।

प्रेक्षा-साधना स्वयं-के-द्वारा स्वयं-के-निरीक्षण का प्रयोग है। जानना और देखना चेतना का मौलिक लक्षण है। भगवान् महावीर की साधना का सूत्र है— 'संपिक्खए अप्प गमप्पएणं'—आत्मा के द्वारा आत्मा की संप्रेक्षा करो। जो दुःख

को देखता है वह क्रोध से ले कर दुःख-पर्यन्त होने वाले चक्रव्यूह को तोड़ देता है। दुःख को रोकने का प्रथम और अंतिम साधन प्रेक्षा (देखना) है। प्रेक्षा ध्यान का परिणाम है, सतत् जागरूकता। इससे कषाय की ग्रंथियाँ खुलने लगती हैं, जिसमें सम्यक् दर्शन व्यक्त होता है। सम्यक् दर्शन से सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र द्वारा साधक राग-द्वेष से विरत हो वीतराग समाधि को उपलब्ध होता है।

इसके अतिरिक्त कायोत्सर्ग द्वारा तनाव विसर्जन की प्रक्रिया स्वास्थ्य-साधना के लिए आसन और उनकी उपयोगिता, अध्यात्म में योगासन का महत्त्व, साधना में प्राणायाम की भूमिका, उसके प्रयोग तथा प्रक्रिया, प्राण के भेद, प्रयोग एवं प्रक्रिया का विवेचन स्वानुभवों के आधार पर किया गया है। इसके साथ ही आहार-विवेक, संकल्प-शक्ति, नमस्कार महामन्त्र, अशरण भावना, सत्य, तथा समता आदि विषयों की महत्ता का भी प्रतिपादन किया गया है। पुनर्जन्म की तथ्यता और तत्सम्बंधी योग के प्रयोगों पर भी प्रकाश डाला गया है।

अन्त में साधक योजना की आवश्यकता एवं सार्थकता का रेखांकित करते हुए कहा गया है कि गुरुदेव की साक्षी से किया गया साधना-का-संकल्प आध्यात्मिक शक्ति जागृत करने में सक्षम बनता है। जिस प्रकार योग में गुरु की अनिवार्यता प्रतिपादित की गयी है, उसी प्रकार यहाँ भी है।

विश्वास है आलोच्य पुस्तक साधक वृन्द ही नहीं अपितु अध्यात्म में रुचि रखने वाले सामान्य जन के लिए भी परम लाभदायी सिद्ध होगी। आवरण-पृष्ठ आकर्षक तथा छपाई-सफाई त्रुटिविहीन है।

—रामविलास शर्मा

पुलिस-सेवा के संस्मरण[२]

जीवन में कभी-कभी ऐसी घटनाएँ – ऐसे अनुभव होते हैं, जो रह-रह कर सालते रहते हैं, इन्हें हम कितना ही भूलना चाहें, पर ये जब-तब मन-मस्तिष्क पर उभर आते हैं। सेवा के क्षेत्र में भी हम अनेक परिस्थितियों-व्यक्तियों से रूबरू होते हैं, जाने-अनजाने मीठी, या फिर कड़वी स्मृतियाँ – यादे-दिल-दिमाग के अदृश्य कोनों में तह-दर-तह जमती रहती हैं। ये ही सब एक-न-एक दिन लेखक के मन को कचोटती हैं और आत्मकथा, संस्मरण इत्यादि लिखने को प्रेरित करती हैं।

आलोच्य कृति एक पुलिस अधिकारी की सुदीर्घ सेवा-यात्रा की सुखद परिणिति है, जिसमें आत्मकथा-के-रूप में न केवल मनोमन्थन ही किया गया है, बल्कि अतीत के गौरव का सूक्ष्म अंकन भी हुआ है। पुलिस-सेवा जहाँ असंख्य जोखिमों से भरी है, वहीं इसमें सूझ-बूझ और साहस की भी पर्याप्त आवश्यकता होती है। आजादी से पहले की जो पुलिस-सेवा थी, उसकी मिसाल तो अब नहीं मिलती।

---

२. *एक पुलिस अधिकारी की आत्मकथा; विश्वनाथ लाहिरी, ; भारतीय साहित्य प्रकाशन, २८६, चाणक्य पुरी, सदर, मेरठ; मूल्य—तीस रुपये; पृष्ठ १८८, डिमाई-८/१९८४.*

लाहिरीजी ने अपने कोई इकतीस वर्ष के सेवाकाल को कुल चौंतीस शीर्षकों में बाँधा है। 'क, ख, ग,' जैसे अनाम-मामूली अध्याय से वे अपनी बात आरम्भ करते हैं और क्रमशः परत-दर-परत घटनाओं—प्रसंगों का सजीव स्मरण-चित्रण-विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। अंग्रेजों की कर्त्तव्य-परायणता और देश-प्रेम का वे जहाँ विशेष उल्लेख करते हैं, वहीं भारतीयों के प्रति उनकी हीन दृष्टि, दुराव की भावना, आत्म-सम्मान को ठेस पहुँचाने वाली घटनाओं को भी वे बेहिचक कह देते हैं। यह स्पष्टोक्ति मन को बहुत भली लगती है।

एक 'गवाही का परिणाम' में लेखक का दृढ़प्रतिज्ञ और सत्यनिष्ठ व्यक्तित्व पाठकों को अनुकरणीय प्रतीत होगा। इसी तरह रात-दिन प्यासे रह कर भी अपने काम में तल्लीनतापूर्वक जुटे रहना प्रशंसनीय-अभिनन्दनीय है। 'भ्रष्टाचार' में इसी ईमानदारी/निष्ठा की धज्जियाँ होते देख दुःखी होना स्वाभाविक है। कुछ विचित्र घटनाओं का भी समावेश हुआ है, जैसे—'प्रेतात्मा से वार्तालाप,' 'चतुर रामदास', 'जीते जी स्वर्गारोहण'; जिन्हें पढ़ कर हम ईश्वर की लीला के बारे में ठगे से रह जाते हैं।

कुछेक अध्यायों में लेखक का प्रकृति-प्रेम और अभूतपूर्व सौन्दर्य-वर्णन देखते ही बनता है। 'अतीत-गौरव' में दतिया-धौलपुर के रजवाड़ों के माध्यम से हमारी ऐतिहासिक धरोहर का दुर्लभ वृत्तान्त पेश हुआ है। महाराजाओं की अहिंसक वृत्ति और जंगली जानवरों के प्रति संरक्षण भी उल्लेखनीय है। 'पहाड़ी क्षेत्र में' एक रोचक यात्रा ललित निबन्ध की पूर्ति भी करता है, इसमें हिमालय की सौम्य तथा रौद्र मूर्तियों से सीधा साक्षात्कार कराया गया है—पहाड़-का-कन्धा या पहाड़-की-पीठ जैसे प्रयोग बड़े मासूम, खूबसूरत लगते हैं। अपनी कमज़ोरियों और ग़लतियों को भी लेखक ने स्थान-स्थान पर छुआ है और अपनी भूल/ज़िद को दर्ज़ किया है, जिसने असम्भव को भी सम्भव बनाया है जैसे—'सनक में'। पुस्तक की सबमें बड़ी उपलब्धि यही है। इस तरह कई अछूते दृश्यों ने मिल कर किताब को एक बहुरंगी गुलदस्ता बना दिया है। भाषाशैली सहज एवं छपाई—प्रस्तुति साफ-सुथरी हैं।

सूली पर टँगा नारी-जीवन[३]

नारी-जीवन के साहस को उघाड़ने एवं पूरे धैर्य के साथ उसे संघर्ष की तरफ मोड़ देने में समीक्ष्य नाट्य पुस्तक एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। एक ओर मानव-मूल्यों के विघटन का प्रश्न मुँह बाये खड़ा है, तो दूसरी तरफ जागृत समाज में सूली पर टँगा-पिसता नारी-जीवन है। यहाँ बिन्दू जैसी आदर्श महिलाएँ ही शोषण के खिलाफ आवाज बुलन्द कर सकती हैं और अपमानों का सही उत्तर दे सकती हैं, चाहे उन्हें अरमानों-इच्छाओं की बलि ही क्यों न देनी पड़े?

बिन्दू वह नारी है, जो पिता—भाई की रिक्तता को अपने ईमानदार दायित्व से भर देती है और माँ-बहनों-घर-गृहस्थी का समूचा भार अपने मजबूत कन्धों पर थामे रहती है, इसके लिए वह अपनी हँसी-खुशी का त्याग करते हुए भी नहीं थकती। मध्यमवर्गीय जीवन के अभाव एवं आर्थिक कष्टों को वह चुपचाप सहते

---

३. श्वेत कमल; विष्णु प्रभाकर; भारतीय साहित्य प्रकाशन, २८६, चाणक्यपुरी, सदर, मेरठ; मूल्य—अठारह रुपये; पृष्ठ १०८; क्राउन—१६/१९८४.

हुए नौकरी-दर-नौकरी अपने देह-शोषण को नकारती है, लेकिन जब उसे चारों तरफ से समझौतों के लिए बाध्य किया जाता है, तो वह फट पड़ती है, अपनी मानसिक यातना वह उषा जैसी निरीह महिला को इन शब्दों में प्रेषित करती है– 'औरत को तो अन्दर की आवाज के साथ-साथ शरीर को भी सूली पर टाँगना पड़ता है'।

इस तरह बिन्दू का सम्पूर्ण जीवन आदर्श की अग्नि में तप कर सोने-जैसा दमक उठा है। इसके एकदम विपरीत पूनम है, जो चमक-दमक, खोखले एवं आधुनिक लिबास में लिपटे जीवन को ही सब कुछ मान कर पैसे की तरफ बढ़ती है और एक दिन इसी भुलावे में अपनी इहलीला समाप्त कर लेती है। उसका अनुकरण बिन्दू की छोटी बहन नीलिमा करने लगती है, किन्तु उसे शोषण की चक्की में पिसने से रोक लिया जाता है।

नाटक की उक्त सारी कथा-वस्तु तीन अंकों में विभक्त है, दर्शकों की बीच-बीच में हस्तक्षेप कर सक्रिय हिस्सेदारी सार्थक है। राखी, जो कि बिन्दू की अभिन्न-पारिवारिक मित्र है, नाटक को निरन्तर गति देती है और अपने सधे हुए संवादों से उसे कस देती है, जैसे एक स्थान पर वह एक युवती के शब्दों को याद करती हुई कहती है–'सारे आदर्श धुएँ के बादल बन चुके हैं। खुशियाँ किसी कुएँ में दफनाये गये पत्थर जैसी हो गयी हैं। हम युवाओं में आध्यात्मिक आस्था की कमी है....।'

'श्वेत कमल' के नारी-प्रतीक को ले कर रचित सम्पूर्ण नाटक विवश-हताश नारी के अन्तर्मन को बहुत बारीकी से टटोलता है, उसकी पवित्रता पर आती आंच का प्रश्न सफाई से उठाता है, और इस सच्चाई को उजागर करता है कि बिन्दू-जैसी आदर्श नारियाँ जीवन में कभी हार नहीं मानतीं, बल्कि उसे स-सम्मान स्वीकार करती हैं।

यद्यपि नाटक की भाषा आम जन-जीवन की है, तथापि संवाद कहीं-कहीं दुरूह हुए हैं, जो मंचन को अधिक प्रभावशाली बनाते हैं। मुद्रण में ताजगी है; मूल्य उपयुक्त है।

–विक्रम कुमार

संक्षिप्त समीक्षाएँ

कर्म-बन्धन और मुक्ति की प्रक्रिया; चन्दनराज मेहता; ६३, मेडतिया सिलावटों का बास, जोधपुर-१; मूल्य–बाईस रुपये; पृष्ठ-३०८; क्राउन-१६/१९८३.

पुद्‌गल द्रव्य का आगमिक तथा वैज्ञानिक विश्लेषण; जीव द्रव्य पर जैन/विज्ञान दृष्टि से तुलनात्मक प्रकाश; कार्मण पुद्‌गल की व्यापक/युक्तियुक्त समीक्षा; मुक्ति-की-प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए विद्वान् लेखक द्वारा जैन आचार, ध्यान, उपासना-पद्धतियों का आलोचनात्मक अनुशीलन; आधार: विद्वज्जनों की कृतियाँ, शास्त्र, स्वानुभव; संप्रदायातीत अध्ययन-मनन को एक, शुभ शुरुआत; अन्त में 'णमोकार मन्त्र', मंगलसूत्र, तथा 'लोगस्स' के आधार पर पैंसठिया आंकिक यन्त्र/छन्द का विवरण; मूल्य किंचित् अधिक; सज्जा आकर्षक, किन्तु भीतर की छपाई कमजोर।

फिर दीप जले (कहानी-संग्रह); केवल मुनि; श्री जैन दिवाकर ज्योति कार्यालय, महावीर बाजार, ब्यावर (राजस्थान); मूल्य–तीन रुपये; पृष्ठ-२९०; पॉकेट/१९८४

अब तक ३२ कृतियाँ प्रकाशित जिनमें से अधिकांश कहानी-संग्रह तथा उपन्यास; प्रस्तुत कृति ११ कहानियों का एक प्रेरक संकलन; प्रेरणा : त्याग, सेवा, परस्पर सहयोग, साहस जैसे सांस्कृतिक/नैतिक जीवन-मूल्य; अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाने वाली सत्यज कथाएँ; भाषा सरल, शैली सुबोध, सज्जा आकर्षक; एक स्वानुभूत लेखनी की शाश्वत प्रसादी।

भटका पंछी नीड़ पाया (उपन्यास); वही; वही; वही; वही।

'उत्तराध्ययन' के द्वितीय अध्ययन पर आधारित; आचार्य अषाढ के माध्यम से सम्यग्दर्शन की समीचीन विवृति; कल्पना और यथार्थ का संतुलन बनाये रखने में लेखक पूर्णतः सफल; लज्जा (लोकसोज), दया (समवेदना/सहानुभूति), संयम (मर्यादा), तथा ब्रह्मचर्य (सामाजिक सदाचार) जैसे उदात्त जीवन-मूल्यों का कथात्मक प्रतिपादन; जीवन/जगत् दोनों को एक अभिनव आध्यात्मिक ऊँचाई प्रदान करने वाला लघु उपन्यास; शैली सहज, भाषा बोधगम्य, सज्जा निमन्त्रक, छपाई निर्दोष, मूल्य वाजिव। □

(पृष्ठ १६ का शेष)

ने. : आचार्य अमतिगति का सामायिक पाठ ? क्या इन तीनों से कोई पूरी सामायिक बनती है ?

फू. : बड़ी सामायिक हो जाती है; मात्र 'आलोचना पाठ' पढ़ना भी सामायिक है।

ने. : मैं तीनों के एक साथ पाठ की अनुशंसा करना चाह रहा हूँ।

फू. : जीवन-की-सर्वांग समीक्षा की दृष्टि से 'आलोचना पाठ' सबमें बड़ी सामायिक है।

ने. : आलोचना पाठ, यह किसका लिखा हुआ है ?

ना. : जौहरीलाल का। 'जौहरी आप जिनन्द' पाठ के अन्त में आया है।

फू. : 'आलोचना पाठ' पढ़ लिया तो मैं कहता हूँ सबसे बड़ा काम कर लिया; क्योंकि जो भी इसे पढ़ेगा, बुरे काम कम करेगा।

ने. : हम एक त्रिकोण बना रहे हैं 'सामायिक' का। आचार्य अमितगति का 'सामायिक पाठ' हुई आधार भुजा, जुगल किशोर मुख्तार की 'मेरी भावना' बायीं भुजा, जौहरीलाल का 'आलोचना पाठ' दायीं भुजा; इस तरह इन तीनों से एक त्रिकोण बन जाता है जिसके बीचों-बीच आ बैठती है सामायिक। आप क्या सोचते हैं, यह ठीक है ?

फू. : बहुत सुन्दर है।

ने. : क्या इसे लोगों में प्रचारित किया जाए ?

फू. : अवश्य। □

सहज, रुचिपूर्ण, शिक्षाप्रद

तीर्थंकर (अक्टू.-नव. १९८४) प्रतिक्रमण / सामायिक विशेषांक संपूर्ण मनन किया। विचार लेख, मूल खत, टिप्पणियाँ, शब्दकोश, संदर्भ सूची इत्यादि सहज, रुचिपूर्ण और शिक्षाप्रद ज्ञान हुआ। यह अंक पढ़ने के बाद ऐसा महसूस हो गया, काश ! मैं पहले अंक से ही आपका सभासद (सदस्य) होता, तो कितना अच्छा होता !

सामायिक और प्रतिक्रमण के बारे में मैंने जो पढ़ा था, सुना था, उस पढ़ने को अब एक ऊँचाई प्राप्त हो गयी है। अब तक मुझे इस विषय के बारे में चित्र जैसे ही पहचान थी, जिसे सिर्फ लम्बाई और चौड़ाई इतना ही माप है। अब उसे एक और माप मिल गया है – ऊँचाई।

आपने इस विशेषांक को सुन्दर बनाने के लिए जो अपार कष्ट किये हैं, उसका पूरा प्रतिबिम्ब यह सुन्दर पुस्तक है। इसी भाषा में मैं इसका वर्णन कर सकता हूँ। मेरी हिन्दी इतनी अच्छी नहीं है, इसीलिए मैं अपनी भावना पूरी तरह व्यक्त नहीं कर सकता हूँ। आगामी दोनों विशेषांकों के बारे में भी वही उत्सुकता है और बेताबी से इन्तजार !

—राजेन्द्र ज्ञानचंद लगारे, बम्बई

अपनी ही शान रखने वाला

उत्तम साज-सज्जा एवं मननीय/पठनीय सामग्री से युक्त 'तीर्थंकर' वास्तव में अपनी ही शान रखता है। यह पत्र निरन्तर विकास की बुलन्दियों को छुए और आदर्श स्थापित करे, ऐसी शुभकामना है।

—शंकर सोनी, लाडनूं
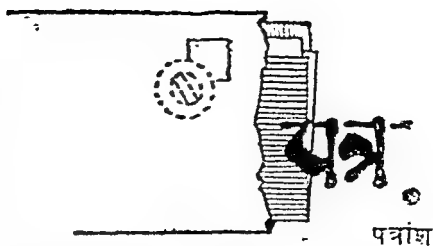
आधुनिक भाषा/शैली

'तीर्थंकर' का प्रत्येक अंक श्रमण साहित्य का दस्तावेज है। डॉ. नेमीचन्दजी जैन अपनी विलक्षण प्रतिभा से 'तीर्थंकर' के माध्यम से अनूठा 'ज्ञानदान' कर रहे हैं।

प्रतिक्रमण/सामायिक विशेषांक में धार्मिक तत्त्वों/तथ्यों को आधुनिक भाषा और शैली में प्रतिपादित किया है। 'तीर्थंकर' का यह प्रयास अनुकरणीय एवं अभिनंदनीय है।

—माणकचंद नाहर, मद्रास

अति सुन्दर

प्रतिक्रमण/सामायिक विशेषांक बड़ा ही सुन्दर निकला है। बधाई !

—प्रतापसिंह, सिलिगुड़ी

बहुत अच्छा

विशेषांक में संपादकीय 'वापसी' पढ़ा—बहुत अच्छा लगा—गजब का लिखते हैं।

—दुलीचन्द सरावगी, कलकत्ता

विशेषांक : उच्चकोटि के

जैन ध्यान/योग के मनीषियों से आपने बातचीत के माध्यम से जो भगीरथ कार्य किया है, वह उल्लेखनीय है। 'तीर्थंकर' का यह विशेषांक मेरी श्रेष्ठ पुस्तकों के संग्रह में गौरवपूर्ण स्थान रखता है। सच-मुच, आपके सभी विशेषांक उच्चकोटि के हैं। —डॉ. धनंजय जी. गुंडे

(शेष पृष्ठ ४५ पर)

समाचार-परिशिष्ट

सोनगढ़ दिगम्बर जैन ट्रस्ट के कुछ सदस्य स्व. श्री कानजी स्वामी के भावी तीर्थंकर-रूप में 'सूर्य कीर्ति' नाम से उनकी मूर्ति बनवा कर सोनगढ़ और उससे सम्बद्ध देश-विदेश के दिगम्बर जैन मंदिरों में स्थापित करना चाहते हैं। इस समाचार की दिगम्बर जैन समाज में तीखी और व्यापक प्रतिक्रिया होने के समाचार प्राप्त हो रहे हैं। समाज में क्षोभ और विरोध भावना प्रकट हो रही है। शास्त्रज्ञ विद्वानों और प्रतिष्ठाचार्यों ने इसे आगम-विरुद्ध तथा परम्परा के प्रतिकूल वताया है। समाज के नेताओं और विचारकों ने इसे अपनी आर्ष-परम्परा का स्पष्ट उल्लंघन कहा है। प्रवुद्धजनों ने भी इसे लोक-विरुद्ध संकल्प का मिथ्यात्व-पोषक निरूपित किया है।

इस संदर्भ में प्रसारित वक्तव्य में दिगम्बर जैन महासमिति के अध्यक्ष साहू श्रेयान्सप्रसादजी जैन ने निवेदन किया है कि यह हमारे आचार्य-प्रणीत शास्त्रों की स्पष्ट अवज्ञा है और व्यक्ति के प्रति कुछ लोगों के व्यामोह का अतिरेक है; अतः इन परिस्थितियों में सोनगढ़ ट्रस्ट के सदस्यों तथा सोनगढ़ के मुमुक्षु अनुयायियों से अनुरोध है कि स्व. श्री कानजी स्वामी के कल्पित भावी-भव की मूर्ति की स्थापना के प्रस्तावित विचार को त्याग दें और आगे भी इस प्रकार की कोई आगम-विरुद्ध संयोजना कहीं भी धार्मिक या सामाजिक स्तर पर क्रियान्वित करने का विचार न करें। धार्मिक अनुशासन का निरन्तर पालन करना और शास्त्रीय परम्पराओं के अन्तर्गत समाज में समन्वय, शान्ति और सौजन्य वनाये रखना हम सवकी जिम्मेदारी है।

—जैन समाज के प्रबुद्ध वर्ग—इंजीनियर, डॉक्टर, वकील, पत्रकार, प्रशासक, प्राध्यापक आदि के लिये सरलतम भाषा-शैली में जैनधर्म की उपादेयता, प्रासंगिकता तथा सार्थकता को प्रतिपादित करने और जैनेतर समाज तक जैनधर्म का संप्रदायातीत/मानवीय स्वरूप पहुँचने के लिए 'जैन विद्या पत्राचार पाठ्यक्रम' की योजना डॉ. नेमीचन्द जैन के निदेशन में सेठ हुकमचन्द दिगम्बर जैन पत्राचार पाठ्यक्रम संस्थान, जँवरीबाग नसिया, इन्दौर ४५२००१ (म.प्र.) के तत्वावधान में अग्रसर हो रही है। डाक द्वारा प्रेषित पाठ्यक्रम के प्रथम सत्र की भाषा हिन्दी, अंग्रेजी और मराठी होगी। प्रवेशेच्छु अध्येता आवेदन-पत्र और आवश्यक जानकारी संस्थान के कार्यालय से प्राप्त कर सकते हैं।

प्रथमकी सत्र अवधि अप्रैल से दिसम्बर, ८५ होगी। सत्रान्त में अध्येताओं को 'जैन कोविद' की उपाधि प्रदान की जाएगी। एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी की षष्टि-पूर्ति के उपलक्ष्य में इन्दौर में आयोजित त्रिदिवसीय समारोह के अन्तर्गत २२ अप्रैल, ८५ (जन्म-दिवस) को यह पाठ्यक्रम उन्हें समर्पित किया जाएगा। वे अध्येताओं को प्रथम पाठ प्रवचन-रूप में प्रदान करेंगे।

—छठा जैन साहित्य समारोह खंभात (गुजरात) में श्री महावीर जैन विद्यालय और श्री खंभात तालुका सार्वजनिक केलवणी मंडल के संयुक्त तत्वावधान में १५,१६ और १७ फरवरी, ८५ में आयोजित किया गय। है।

—सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के प्राकृत एवं जैनागम विभागाध्यक्ष डॉ. गोकुलचन्द जैन गत १६ अक्टूवर, ८४ से विश्वविद्यालय की श्रमण विद्या संकाय के नये अध्यक्ष नियुक्त किये गये हैं।

—गत वर्ष लन्दन में संपन्न अन्तर्राष्ट्रीय जैन सम्मेलन के अवसर पर जैन शिक्षा आयोग की स्थापना की गयी थी। आयोग से अपेक्षा की गयी है कि पर्याप्त सर्वेक्षण, अध्ययन, विभिन्न दृष्टियों से मूल्यांकन, विश्लेषण एवं व्यापक विचार-विमर्श और मनन-चिन्तन के बाद जैनधर्म, दर्शन तथा ज्ञान आदि की शिक्षा के बारे में एक सांगोपांग एवं विस्तृत प्रतिवेदन तैयार करे। आयोग का कार्याध्यक्ष डॉ. नथमल टाटिया को बनाया गया है। आयोग का सचिवालय सेवा मन्दिर रावटी, जोधपुर में रखा गया है तथा प्रश्नावली भेज कर और देश के जैन धार्मिक शिक्षण संस्थानों का सर्वेक्षण कर एक प्रारंभिक प्रतिवेदन तैयार करने हेतु अध्यक्ष महोदय के सभापतित्व में ११ सदस्यों की एक समिति गठित की गयी है।

—नई दिल्ली में आगामी ८ फरवरी, ८५ से त्रिदिवसीय अन्तर्राष्ट्रीय जैन सम्मेलन आयोजित किया जा रहा है, जिसमें अहिंसा, विश्वशान्ति, आण्विक शस्त्रों से मुक्त विश्व, शाकाहार-आन्दोलन, जैन दर्शन, संस्कृति, साहित्य, पुरातत्व, युवाजनों में जैन आदर्शों का प्रचार-प्रसार, जैन संस्कृति एवं साहित्य में महिलाओं की भूमिका आदि विषयों पर विचार किये जाने की संभावना है।

—'खण्डेलवाल जैन समाज का इतिहास' शीर्षक से एक संदर्भ ग्रन्थ तैयार किया जा रहा है, जो दो खण्डों में प्रकाशित होगा। जयपुर में 'राजस्थान जैन इतिहास संस्थान' नाम से एक संस्था गठित की गयी है, जिसके माध्यम से जैन समाज की विभिन्न जातियों — खण्डेलवाल, अग्रवाल, परवार आदि का इतिहास, जयपुर के जैन दीवानों का इतिहास, राजस्थान के सांस्कृतिक केन्द्रों का इतिहास आदि लिखे जाएंगे। निदेशक/प्रधान संपादक

डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल

(पृष्ठ ४३ का शेष)

स्तुत्य/पठनीय

'तीर्थंकर' का विशेषांक पुनः देखा। आपने अत्यन्त श्रम करके अत्यन्त पठनीय सामग्री प्रस्तुत की है। संकलन स्तुत्य है और उसे प्रस्तुत करने का आपका ढंग अति सुन्दर है। मेरी बधाई स्वीकार कीजिए। **—अक्षयकुमार जैन, नई दिल्ली**

शब्द काफी नहीं

'तीर्थंकर' की उपयोगिता का वर्णन करने के लिए हमारे पास काफी शब्द नहीं हैं।

—साकेरलाल बी. शाह, बम्बई

अब मैं 'तीर्थंकर' का भक्त

प्रतिक्रमण का ऐतिहासिक शेषांक भी मिल गया है, कहने को इसमें पृष्ठ कम हैं, पर इसमें भी कठिन श्रम किया है आपने। हर पृष्ठ ने विशेष समय लिया होगा। मैं तो 'तीर्थंकर' का पुराना प्रशंसक रहा हूँ, पर अब मेरी प्रशंसा कुछ और आगे बढ़ गयी है; आजकल मैं तीर्थंकर' का भक्त हो गया हूँ। शब्दों से पार कोई बात कहता रहता हूँ 'तीर्थंकर' को ले कर जो लेखनी के वश की नहीं है; है बस अनुभूति-गता अपने श्रेष्ठ कार्य के लिए मेरे प्रणाम स्वीकार करें; यही है मेरी ओर से एक हृदयपूर्ण अभिनन्दन!

—सुरेश 'सरल', जबलपुर

विस्तृत रूप से प्रकाश डालने वाले

'तीर्थंकर' के प्रतिक्रमण विशेषांक के दोनों भाग पढ़े। इनमें प्रतिक्रमण (पापाचार की आलोचना) के विषय में विस्तृत रूप से प्रकाश डाला गया है। दोनों अंक पठनीय हैं। आपके पूर्व में प्रकाशित सभी विशेषांक उच्चकोटि के हैं।

—ज्ञानचन्द जैन, भोपाल

नये आजीवन सदस्य रु. २०१

७५९. श्री दानमल कटारिया
ए-२७, अलकापुरी
सैलाना रोड
पो. रतलाम ४५७००१ (म.प्र.)

७६०. श्री जीवन वर्धमान बिटोडे
६, नीता चेम्बर्स
शिखरेवाडी
पो.नासिक रोड ४२२१०१ (महा.)

७६१. श्री मंगेश अनिल गाँधी
होटगी नाक्याजबल
गाँधी बंगला
पो. सोलापुर ४१३००१ (महा.)

७६२. श्री रतनचंद माणिकचंद मेहता
'रत्नदीप'
साधु वास्वानी मार्ग
पो. नासिक ४२२००२ (महा.)

७६३. श्री पंकज आर. गाँधी
द्वारा : द पॉपुलर बुक स्टोर्स
टॉवर रोड
पो. सूरत ३९५००३ (गुजरात)

७६४. श्री महावीर दीपचंद जैन
अध्यक्ष, दिगम्बर जैन मंदिर
पो. सज्जनपुर ४३११०२
जि. औरंगाबाद (महाराष्ट्र)

७६५. श्री आय. के. जैन
II/१/४, ए. टी. पी. एस. कॉलोनी
पो. एक्लाहारदे
जि. नासिक रोड (महाराष्ट्र)

७६६. श्री शशिकान्त के. मेहता
भद्रंकर
३४, करनपारा
पो. राजकोट ३६०-००१ (गुज.)

७६७. श्री धनसुख छाजेड़
राममन्दिर के पास
पो. डहाणू ४०१६०१ (हमा.)

७६८. श्री प्रमोद कुमार ठाकुरिया
३६, इतवारिया बाजार
पो. इन्दौर ४५२००२ (म.प्र.)

७६९. श्री वी. के. जैन
क्लॉथ मर्चेंट्स, मेन रोड
पो. गोंदिया ४१६००१
जि. भण्डारा (महाराष्ट्र)

७७०. श्री सुभाषकुमार पगारिया
द्वारा : हिन्द क्लॉथ स्टोर्स
जगदेवगंज
पो. आलोट ४५७११४
जि. रतलाम (म.प्र.)

७७१. श्री सुधीरकुमार जैन
विजय ट्रेडिंग कंपनी
सिविक सेंटर, मढ़ाताल
पो. जबलपुर ४६२००२ (म.प्र.)

७७१. श्री प्रकाशचन्द वड़जात्या
द्वारा : श्री लालचन्द जैन एण्ड सन्स
लोहा मण्डी
पो. आगरा २८२ ००२ (उ.प्र.)

७७२. सौ. सरोजिनी खुशालचन्द्र संगई
द्वारा : श्री एस. वाय. संगई
स्टेट बैंक ऑफ इंडिया के समीप
पो. अंजनगाँव ४४४ ७०५
जि. अमरावती (महाराष्ट्र)

७७३. श्री कमलचन्द जैन एडवोकेट
डायमण्ड कॉलोनी
पो. इन्दौर ४५२ ००२ (म.प्र.)

७७४. मे. जी. आर. मेहता एण्ड कं.
८०, एवेन्यू रोड
पो. बंगलौर ५६० ००२ (कर्नाटक)

७७५. मे. ज्ञान ट्रेडिंग कॉरपोरेशन
१७, न्यू गंगाम्माचारी रोड
मोतीनगर
पो. बंगलौर ५६२ ००२ (कर्नाटक)

७७६. श्री निर्मलकुमार बाकलीवाल
४, वीमानगर
पो. इन्दौर ४५२ ००१ (म.प्र.)

७७७. श्री नानूराम दूगड़
बलूरघाट ट्रांसपोर्ट कं.
३४२, जवाहर मार्ग
पो. इन्दौर-४५२००२ (म.प्र.)

हीरा भैया प्रकाशन, इन्दौर

१.	भीली-हिन्दी-कोश –डॉ. नेमीचन्द जैन	५-००
*२.	जिन खोया तिन पाइयां –भैयालाल जैन	३-००
३.	भील : भाषा, साहित्य और संस्कृति –डॉ. नेमीचंद जैन	७-००
*४.	नयनपथगामी भवतु मे (सचित्र महावीराष्टक) काव्यानुवाद : –भवानी प्रसाद मिश्र	१-००
*५.	सोना और धूल (बोध-कथाओं का संकलन) नेमीचन्द पटोरिया	१-५०
६.	भीली चेतना-गीत – महीपाल भूरिया	१५-००
७.	इकतारे पर अनहद राग (बोध कविताओं का संकलन) –दिनकर सोनवलकर	५-००
८.	शब्द से आगे (काव्य-संकलन) –श्रीकान्त जोशी	५-००
९.	गलत होते संदर्भ (कहानी-संग्रह) – सूर्यकान्त नागर	६-००
१०.	जलता हुआ मकान (कहानी-संग्रह) –श्याम व्यास	७-००
११.	प्राकृत सीखें –डॉ. प्रेमसुमन जैन	३-००
१२.	आत्मीय संगीत (कविता-संग्रह) –दिनकर सोनवलकर	५-००
१३.	जहर (ललित निबंध-संकलन) – डॉ. नेमीचन्द जैन	२-००
१४.	अमृत (निबंध-संकलन)–डॉ. नेमीचंद जैन	२-००
१५.	अपना बालक (मू. बबलभाई मेहता, अनु. काशिनाथ त्रिवेदी)	४-००
१६.	पैगम्बर मुहम्मद –डॉ. नेमीचन्द जैन	१-००
१७.	मंगलाचरण –मानवमुनि (प्र., द्वि., तृ. संस्करण)	२-००
१८.	अन्तर्बोध –डॉ. नरेन्द्रकुमार सेठी	२-००
१९.	भीली वेदना-गीत –महीपाल भूरिया	१८-००
२०.	पंडज्जी –सुरेश 'सरल'	४-००
२१.	रक्त में जलते हुए अनगिनत सूर्य –(मराठी दलित कविता) –दिनकर सोनवलकर	२-००
२२.	भक्तामर स्तोत्र (राजस्थानी अनुवाद) –विपिन जारोली	५-००

हीरा भैया प्रकाशन

६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग,

इन्दौर-४५२ ००१ (म. प्र.)

* ये पुस्तकें अप्राप्य हैं।

१९८५

में 'तीर्थंकर' के

दो ऐसे विशेषांक
जिन्हें आप छाया की तरह
प्रतिक्षण
अपने साथ रखना पसंद करेंगे ।

२२ अप्रैल १९८५ को

१ एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी की
षष्ठिपूर्ति के उपलक्ष्य में
'श्रावकाचार' विशेषांक
(मार्च-अप्रैल १९८५ संयुक्त)

११ सितम्बर १९८५ को

२ 'पूजा' विशेषांक
(अगस्त-सितम्बर १९८५ संयुक्त)

आज ही सदस्य बनिये : अपनी प्रति सुरक्षित कीजिये

न जीती हुई आत्मा शत्रु है

एगप्पा अजिए सत्तू, कसाया इन्दियाणि य ।
ते जिणित्तु जहानायं, विहरामि अहं मुणी !

एक न जीती हुई आत्मा शत्रु है। कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) और इन्द्रियाँ (आँख, कान, नाक, जीभ, स्पर्श) शत्रु हैं। मुने! मैं इन्हें जीत कर नीति-के-अनुसार विहार कर रहा हूँ।

कषाय अग्नि; श्रुत, शील, तप – जल

कसाया अग्गिणो वुत्ता, सुयसीलतवो जलं ।
सुयधाराभिहया सन्ता, भिन्ना हु न डहंति मे ।।

कषायों को अग्नि कहा है और श्रुत, शील, तथा तप को जल। श्रुत की जलधारा से अभिहत (निर्बीज/निस्तेज) अब वे मुझे नहीं जलातीं।

दुष्ट अश्व दौड़ रहा है

अयं साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो, परिधावई ।
जंसि गोयम आरूढो, कहं तेण न हीरसि ?

यह उद्दंड, भीषण, दुष्ट घोड़ा दौड़ रहा है, और गौतम! तुम उस पर चढ़े हुए हो। वह तुम्हें उन्मार्ग पर कैसे नहीं ले जा रहा है?

श्रुत की लगाम जो है उस पर

पधावन्तं निगिण्हामि, सुयरस्सीसमाहियं ।
न मे गच्छइ उम्मग्गं, मग्गं च पडिवज्जई ।।

मैंने इसे श्रुत-की-लगाम से बांध लिया है। यह जब उन्मार्ग की ओर दौड़ता है तब मैं इसका निग्रह करता हूँ; इसीलिए मेरा यह घोड़ा उन्मार्ग में नहीं जाता, सन्मार्ग पर ही चलता है।

—उत्तराध्ययन/23/38,53,5